"प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी अपनी योग्यता के अनुसार, त्याग तथा परिश्रम का ऋषितुल्य जीवन बिताता हुआ, सेवा करने के लिये कटिबद्ध हो जावे, तो शीघ्र ही भारत में एक नया प्रभात होगा—ऐसा प्रभात जिसका प्रकाश सारे संसार को चमत्कृत कर दे।"

(पृ० २६४)

अपनी बात

प्रत्येक लेखक जब कोई नई पुस्तक लिखता है तो उसके सामने केवल दो ही उद्देश्य होते हैं—प्रथम तो यह कि उसको कुछ पैसे मिल जावेंगे, और दूसरा यह कि उसका नाम भी शायद साहित्य के पाँचवे सवार की जगह लिख जाय। पुराने लेखकों ने इनको स्वीकार किया है❀, परन्तु आजकल के लेखक इतने सच्चे नहीं हैं, वे मानो परोपकार की प्रतिमा बनाकर ही ईश्वर के कारखाने से भेजे गये हैं; "उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिये एक ऐसी पुस्तक की कमी का अनुभव छात्र तथा अध्यापक दोनों ही कर रहे थे", "साहित्य के कई प्रेमियों ने मुझ पर इस बात का जोर डाला कि मैं एक ऐसी पुस्तक लिखूँ", "प्रस्तुत पुस्तक इस लिये लिखी गई है कि पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन कर लेने पर भी विद्यार्थियों में जो एक मौलिक चिन्तन की कमी रह जाती है उसकी पूर्ति हो

❀ काव्य-प्रकाशकार ने "काव्यं यशसेऽर्थकृते" आदि लिखकर काव्य का पहिला प्रयोजन "यश" तथा दूसरा "धन" माना है, परन्तु आज 'रोटी की समस्या' प्रधान है, यश तो उससे पीछे ही आता है।

[illegible]' + ... इत्यादि अनेक बातें लिखकर अपनी पुस्तक की जन्मपत्री तैयार करना इस नवयुग की नीरस काँव-काँव है।

ऐसी दशा में यदि मैं भी यही कहूँ कि सभी विश्वविद्यालयों की "बी० ए०" तथा "एम० ए०," प्रयाग हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की "साहित्यरत्न" तथा "विशारद," प्रयाग-महिला-विद्यापीठ की "सरस्वती" एवं पूर्वी-पंजाब-विश्वविद्यालय की "प्रभाकर" परीक्षा के लिये जो छात्र या छात्राएँ निबंध के पत्र को तैयार करती हैं, उनको इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता मिलेगी, तो क्या आपको मेरा विश्वास हो सकेगा? अस्तु, मैं केवल यही कह सकता हूँ कि मैंने इस पुस्तक में इन परीक्षाओं के स्तर का भी पूरा ध्यान रखा है: और मैं आशा करता हूँ कि मनोरंजन के लिये पढ़ने वालों के अतिरिक्त छात्र भी इस पुस्तक को अपना कर मेरे परिश्रम को सफल बनावेंगे।

यहाँ मैंने ५० विभिन्न विषयों को उठाया है, जिनमें लगभग [illegible] तो पूर्णतः साहित्यिक हैं, कम से कम १० सामयिक समस्याओं से संबंध रखने वाले, कम से कम ५ गंभीर विचारात्मक और ५ [illegible]। इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि परीक्षार्थियों को भी प्रस्तुत पुस्तक से पूरा सन्तोष हो सके, और सामान्य पाठक को [illegible] मैं किसी निबन्ध विशेष पर फबती नहीं कस रहा, उदार लेखक [illegible] इस [illegible] को क्षमा करें।

भी। कुछ ऐसे विषयों को भी मैंने लेने का साहस किया है, जिन पर हिन्दी में अन्यत्र सामग्री न मिल पावेगी।

लेख उच्चस्तर के होने के कारण क्लिष्ट तथा गंभीर होगये होंगे इसलिये बीच-बीच में दूसरे लेखकों, कवियों तथा विद्वानों के उद्धरण देकर सामग्री को रोचक बनाने का प्रयत्न मैंने किया है और इसीलिये विनोद-लेख या व्यंग्यलेख भी प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित कर दिये हैं।

छापे की भूलों के लिये भी शायद मुझी को क्षमा माँगनी पड़ेगी। यद्यपि प्रारंभ में ही "शुद्धि-पत्र" देकर पाठकों से प्रार्थना कर दी है कि वे पहिले अशुद्धियों को ठीक करलें, तब पढ़ें; फिर भी कुछ भूलें रह ही गई होंगी। "विज्ञान" का "विद्वान", 'प्रणय' का "प्रएय", तथा "ष्ट" का "ष्ठ" (तथा "ष्ठ" का "ष्ट") कर देना तो मानो छापेखाने का जन्म सिद्ध अधिकार है।

मेरा विचार था कि एक लेख "प्रबंध-कला" पर भी लिख कर जोड़ दिया जाय, परन्तु पीछे यह निश्चय हुआ कि ऐसा लेख भूमिका के रूप में ही होना चाहिए, जिससे पुस्तक को आद्योपांत न पढ़ने वाला छात्र भी उससे यथाशा लाभ उठा सकें।

अनेक विद्वानों, कवियों तथा लेखकों के विचारों से मैंने लाभ उठाया है। यदि उनको धन्यवाद न दूँ तो यह कृतघ्नता होगी। इसीलिये पुस्तक के अंत में, परिशिष्टि के रूप में, उन सभी

विद्वानों तथा उनकी पुस्तकों के नाम दे दिये हैं, जिनके उद्धरण (Quotations) आपको इन लेखों में मिलेंगे। यथास्थान भी उन महानुभावों के नाम दे दिये हैं। केवल वे उद्धरण जिनके साथ "धर्मात" नाम जुड़ा हुआ है, मेरी अपनी अप्रकाशित रचनाओं के हैं; शेष अन्य विद्वानों के।

इस पुस्तक में "निबंध", "प्रबंध" तथा "लेख" के अंतर का प्रश्न नहीं उठाया, और तीनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग भी कर दिया है। "कवि" शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ (Wider sense) में ही अधिक है।

अंत में सभी पाठकों—विशेषतः विद्वानों—से यह प्रार्थना है कि प्रस्तुत पुस्तक में जो सुधार उनको आवश्यक प्रतीत हों, उनकी सूचना लेखक को अवश्य ही देने का कष्ट करें, जिससे कि दूसरे संस्करण में इस सूचना से सभी पाठक लाभ उठा सकें।

१—हेलीप्राक लेन,
बेयर्ड रोड, नई दिल्ली।
(वसन्त पंचमी, २००६ वि०)

ओ३म् प्रकाश

प्रबंध-कला

कहते हैं कि एक वार एक नवयुवक किसी लब्धप्रतिष्ठ कवि के पास गया और उससे निवेदन किया कि वह कृपा कर उसको कविता करना सिखा दे। कवि ने पूछा—"क्या कविता करने की तुम्हारी उत्कट अभिलाषा है?" युवक ने कहा—"निस्सन्देह"। तब कविवर बोले—"तो पहिले तुम किसी से प्रेम करो। जब उसके प्रेम में तड़पने लगो, तब मेरे पास आना"। ठीक यही बात लेखक बनने के लिये भी कही जा सकती है। जब तक हमारी मनोवृत्ति अन्तर्मुखी होकर गंभीर न बन जायेगी तब तक हम आपको कोई ऐसी भेंट नहीं दे सकते, जिसका आपके ऊपर कोई स्थायी प्रभाव पड़े। रत्न निकालने वाले के समान लेखक मानस में जितनी गहराई तक डूबेगा, उतनी ही अधिक शोभा उस रत्न को आपके वक्षस्थल पर प्राप्त होगी। यदि भीतर प्रवेश करने का धैर्य या साहस नहीं है, तो रत्न नहीं हाथ लग सकते केवल घोंघे ही मिलेंगे। कोई-कोई किनारे पर बैठकर ही हाथ-पैर फेंका करते हैं, ऐसे लोगों को अपना समय व्यर्थ नष्ट न करना चाहिए:—

"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।
हौं बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठि॥"

—कबीर।

कवियों के विषय में तो कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि कवि जन्म से ही होते हैं बनाये नहीं जा सकते (Poets are

born, not created); परन्तु लेखकों के विषय में उनका विचार भिन्न है। इसमें इतना तो सत्य है कि नवीन युग ने निबंधों को एक ऐसा भी रूप दे दिया है जिसको "साहित्य" भले ही कह दें "काव्य" नहीं कहा जा सकता; राजनियम (Law) अर्थशास्त्र (Economics), राजनीति (Politics), इतिहास (History) तथा आचारशास्त्र (Moral Philosophy) आदि विषयों पर पश्चिम में अनेकों पुस्तकें लिखी जाती हैं, जिनमें उतना ही रस रहता है जितना गणित की पुस्तक में। परन्तु इन शास्त्रों में भी उस लेखक को प्रशंसनीय समझा जाता है, जिसका विषय-प्रतिपादन उत्कृष्ट होने के साथ-साथ मधुर भाषा में आच्छादित भी हो। हाँ, यहाँ प्रधान हुआ वह विज्ञान भाषा या रचना गौण हो गई।

परन्तु साहित्यिक प्रबंधों की कथा कुछ भिन्न है। यहाँ किसी विद्याविशेष या विज्ञानविशेष के चरम ज्ञान का नाम नहीं लिया जाता (इसीलिये इस पुस्तक के अ-साहित्यिक निबंध उस विद्या या विज्ञान की कसौटी पर पूरे न उतरें तो कोई आश्चर्य नहीं), प्रत्युत भाषा-शैली की कमनीयता से ही पाठक को वशीभूत किया जाता है। कदाचित् ऐसे ही प्रबंधों को ध्यान में रखते हुये संस्कृत के विद्वानों ने कहा था—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" (गद्य ही कवियों की कसौटी है; उनकी वास्तविक जाँच सफल गद्य लिखने से ही होती है); और आजकल के विद्वान् जो यह मानते हैं कि साहित्यिक निबंध गद्य का चरम विकास है वह भी इसी रमणीयता से प्रभावित होकर ही। अस्तु, यह निश्चय हुआ कि सफल साहित्यिक निबंध लिखने के लिये व्यक्ति में प्रतिभा (Talent ईश्वर प्रदत्त शक्ति) होनी चाहिए और गंभीर मनो-

वृत्ति इस प्रतिभा की जड़ों को सशक्त बना देती है। जितने बाहरी साधन बतलाये गये हैं वे प्रतिभा को विकसित करने के ही हैं न कि उगाने के, क्योंकि जिसकी जड़ है उसको सींचकर लहलहा किया जा सकता है; परन्तु जिसकी जड़ ही नहीं उसका अंकुर भी खाद या पानी के बस की बात नहीं।

लेखक को ऐसे निबंधों के लिखने की भी आवश्यकता पड़ती है, जिनको हम ऊपर 'काव्य' नहीं कह सके। इसलिये तथा इसलिये भी कि क्षेत्र में आये बिना यह तो नहीं जाना जा सकता कि किस व्यक्ति में प्रतिभा है और किस में नहीं, प्रायः प्रबंध-कला को सीखने के सामान्य नियम लगभग सभी निबंध-लेखकों ने पाठकों के हितार्थ दे दिये हैं। हम भी संक्षेप में उसी लीक को पीटते हैं।

कविता तथा निबंध की कला को सीखने के लिये प्रथम अनिवार्य पदक्रम है कुछ उच्चस्तर के (Standard) लेखों का पाठ। पंडित रामचन्द्र शुक्ल, सरदार पूर्णसिंह, पं० बालकृष्ण-भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा डा० श्यामसुन्दर दास; एवं जीवित लेखकों में बा० गुलाबराय, श्री० शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा श्री० चन्द्रबली पाण्डेय। महिलाओं में श्रीमती महादेवी वर्मा। यदि संभव हो सके तो दूसरी भाषाओं—विशेषतः अंग्रेजी—के लेखों को भी पढ़ लेना चाहिए। इन लेखों को बार-बार पढ़ने से पाठक का चित्त एक विशेष प्रकार की शैली की ओर अधिक आकर्षित होगा, वही उसकी आत्माभिव्यक्ति है; प्रयत्न तथा अभ्यास से उसी शैली के निबंध वह भी लिख सकता है।

केवल निबंध ही नहीं सामान्यतः सभी साहित्य तथा विशेषतः गद्य-साहित्य का पाठ शैली के विकास में बड़ा सहायक होता है। स्व० जयशंकर 'प्रसाद'; स्व० प्रेमचंद, श्री० महादेवी वर्मा आदि हिन्दी-गद्य के ऐसे रत्न हैं, जिनका स्थायी प्रभाव भी पाठक पर पड़ता है। प्रसादजी के कथोपकथनों से हम सशक्त तथा भावुक अभिव्यक्ति सीखते हैं। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में जो वर्णन हैं उनसे पाठक में भी स्वाभाविकता तथा मनोमोहकता की प्रवृत्ति बन जाती है। श्रीमती महादेवीजी का पाठक गद्य को काव्य बनाने में पर्याप्त सामग्री प्राप्त कर सकता है। अस्तु, लेखक का व्यक्तित्व विकसित करने के लिये मनन करते हुये उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्यिकों की रचनाओं का पाठ आवश्यक है।

लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व दो अन्य परन्तु आवश्यक बातों पर भी ध्यान देना होगा। प्रथम है धैर्य या उतावले पन का अभाव और दूसरी है आत्म-विश्वास (Self confidence). आजकल विज्ञान का युग है, प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कार्य में समय की बचत का हम ध्यान रखते हैं; परन्तु कला इस बचत का विरोध करती है। या तो समय बचाइये या कला को सीखिये। दोनों बातें साथ नहीं हो सकतीं। प्रायः कला-प्रेमी अपने अनेक कामों में विघ्न जानकर कला को छोड़कर भाग जाता है। ऐसे व्यस्त लोगों से यही प्रार्थना है कि भाई तुम्हारा उद्देश्य तो धन, मान, लोकप्रियता आदि है, कला भी हो सकती है; परन्तु कला उस प्रियतमा के समान है जो दूसरे सभी मित्रों से आपका सारा सम्बन्ध छुड़ाकर आपके ऊपर शासन करेगी। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि आप निठल्ले रहें, आप नौकरी पर जाइये आपकी प्रियतमा को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जब काम समाप्त हो जावे

सीधे उसकी आँखों के सामने आइये, यदि समाज में जाना है तो उसको भी साथ लेते जाइये ; वह अपना सर्वस्व आपको समर्पित करती है परन्तु इसी शर्त्त पर कि आप भी एकमात्र उसी के होकर रहें। इस दृष्टि से आज कल के कवियों की, जो एम० एल० ए० भी होना चाहते हैं और बैंकर भी, दशा पर दया आती है। प्राचीन साहित्यकारों को जीवन की उतनी सुविधाएँ प्राप्त न थी, जितनी आज के साहित्यिक को हैं, फिर भी आधुनिक साहित्य प्राचीन साहित्य के समान न हो सका है, क्यों ?

यदि लेखक का अध्ययन पर्याप्त है, उसने मन लगाकर पर्याप्त प्रयत्न कर लिया है तो उसको आत्म-विश्वास भी होगा। लिखने में संकोच भले ही रहे, भय नहीं होना चाहिए। यह तो संभव नहीं कि सभी लोग हमारे गुणों को ही देखें, कुछ लोग तो संसार में दोषदर्शी बनकर ही आये हैं; फिर क्यों न हम कुत्तों को भौंकतो हुआ छोड़कर गजगति से आगे बढ़ते चलें। लेखक तथा सुधारक में इतना आत्मविश्वास अवश्य होना चाहिए; परन्तु अहंकार कला का घातक है उसका चित्र भी अपने कमरे में नहीं आना चाहिए।

लेखक, विशेषतः परीक्षार्थी, की बहुत कुछ सफलता विषय की छाँट पर निर्भर होती है। जिसने नाम देखकर पहिचान लिया कि इससे अपना काम बनेगा, उसी को आगे बढ़ने में कोई कठिनाई न होगी। जब आपके सामने कई विषय रखे हुये हैं तो जो आपका पूर्ण परिचित हो, या जो आपके परिचित क्षेत्र का हो उसी को अपनाइये तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति भावात्मक लेख अच्छे लिख सकता है, कोई विचारात्मक तथा कोई केवल वर्णनात्मक। अच्छा या बुरा कोई नहीं, उसका निर्वाह लेख को

अच्छा या बुरा बतलाता है। हाँ, परीक्षार्थियों से अपने अनुभव की एक बात अवश्य कहूँगा कि प्राय: भावात्मक निबंधों को उठाना बहुत बड़ा साहस (Risk) है; परीक्षक के ही दोष से ऐसे लेखकों को हानि उठानी पड़ती है। परीक्षक के पास इतना समय नहीं कि आपकी शैली और कला को समझे, शायद वह स्वयं कलाकार या आलोचक भी न हो (क्षमा कीजिये परीक्षक-बन्धु); तब आपका सारा किया कराया स्वाहा हो जावेगा। बात यह है कि परीक्षा-भवन में आप सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने नहीं जाते प्रत्युत यह बतलाने जाते हैं कि दूसरे के प्रतिपादित सिद्धान्तों का आपने कितना अध्ययन तथा उनका कितना मनन किया है। इसीलिये प्राय: विचारात्मक—साहित्यिक समालोचना तथा दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले लेख परीक्षार्थियों को अधिक सहायता देते हैं; कुछ लोग वर्णनात्मक निबन्धों में भी खरे उतर सकते हैं।

यदि ३ घंटे में एक लेख लिखना है तो २० मिनट लिखने से पहले सोचने के लिये भी दीजिये। विषय-निर्वाचन के अनन्तर सोचना यह है कि आपको इस शीर्षक (Heading) पर क्या लिखना है और उस लेख में कितने परिच्छेद (Paragraphs) होंगे इस प्रकार का एक ढाँचा तैयार होजाता है, जिसमें रंग भरना शेष है, इसको "रूप-रेखा" (Outlines) कह सकते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि लिखना प्रारम्भ करते ही ऊपर रूप-रेखा दे दी जावे जिससे परीक्षक को आपकी विचारधारा समझने में इधर-उधर न भटकना पड़े (हमने प्राय: इसीलिये रूपरेखायें दे दी हैं) परन्तु ध्यान रहे कि ऐसा न कर दीजिये कि रूप-रेखा कुछ बतलाती है और आप कुछ लिख रहे हैं; गलत

बतलाने की अपेक्षा चुप रह जाना अच्छा है। उदाहरण लें तो हमारा लेख "चिट्ठीरसा या पोस्टमैन" है, हम इसको इस प्रकार भी लिख सकते थे कि डाकविभाग की सेवाओं की ओर ध्यान दिलाते हुये चिट्ठीरसा के परिमित साधनों (Limited means) तथा कठोर जीवन की ओर राज्य तथा जनता का ध्यान आकर्षित करते तब कुछ भिन्न ही बातें लिखी जातीं, परन्तु हमने इसको विनोद-लेख के रूप में लिखकर एक अलग ही रूप दिया है।

अब तीसरा पदक्रम (Step) विषय प्रवेश है। उस पर लेख की सफलता निर्भर मानी गई है; जिसने प्रारंभ करना सीख लिया उसकी गाड़ी आधी दूर तक तो चली ही जायगी (Well begun is half done), पुराने ढंग के मुखवाक्य (First Sentences) आज कितने नारस लगते हैं—रमणीयता नित्य नवीन परिवर्त्तनों में है (क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:)×। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह अपने आस-पास के संसार से अलग नहीं रह सकता," "हिन्दुओं के चार त्योहार मुख्य माने गये हैं, जिनमें से रक्षाबंधन भी एक है," "भारत एक कृषि-प्रधान देश है, इसकी उन्नति ग्रामों पर निर्भर है," "जब संसार में अत्याचार या उत्पीडन फैलता है तो ईश्वर कुछ महान् आत्माओं को संसार में भेजता है" आदि आदि वाक्यों को सुनते-सुनते कानों में दर्द होने लगा है, परन्तु इनमें परिवर्त्तन नहीं दिखाई पड़ रहा। हमारी सम्मति में प्रारम्भ करने के लिये कोई नियमविशेष नहीं हो सकता, यह प्रतिभा का विषय

× विद्वान् क्षमा करें ये वाक्य किसी पुस्तकविशेष या लेखक-विशेष के नहीं हैं छात्रों के निबन्धों में बार बार देखकर लिख दिये गये हैं।

है, इसमें स्वाभाविकता ही रहनी चाहिए बनावट नहीं। निरंतर अध्ययन करते रहने पर जो स्वाभाविक मुख वाक्य बन पड़े, उसी को ठीक मानना चाहिए; परन्तु उसमें उत्साह अवश्य हो जिसकी गाड़ी प्रारम्भ से ढचर-ढचर चलेगी उसकी पार भी लगेगी, इस बात में हमको सन्देह है। अस्तु, हमारे कुछ निबंधों का प्रारम्भ इन मुखवाक्यों से होता है:—

(१) "पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी को अधिक सफलता मिली है। उनकी नारी यौवन और विलास की आकांक्षाओं से परिप्लावित होती हुई भी पुरुष को ऊँचा उठाने वाली है...।"

(२) संसार में जितनी भौतिक या मानसिक वस्तुएँ हैं उनसे जब हमारा परिचय होता है तो या तो वे हमें अच्छी लगती हैं या बुरी। अच्छी लगने वाली वस्तुओं के संसर्ग से हमारे मन की जो दशा होती है उसे "राग" कहते हैं और बुरी लगने वाली वस्तुओं के संसर्ग से उत्पन्न मनोदशा को "द्वेष"।

(३) यदि भारत में साम्यवाद फैल जावे और राज्य सारे कामों को अपने हाथ में लेकर, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार काम और बराबर वेतन दे; तो मैं तो प्रोफेसरी छोड़कर निर्ढ़रगा बन जाऊँगा।

(४) स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के अमर कवि सूर और तुलसी की विवेचनात्मक आलोचना द्वारा जिस समालोचना-सरिणी का शिलान्यास किया था वह अधिक दिनों तक न चल सकी...।

ध्यान देने पर विदित होगा कि प्रथम वाक्य यदि सूक्ति के समान होता है तो अधिक आकर्षक होता है; कहीं हमको परिभाषा देनी पड़ती है, कहीं किसी तथ्य को मानकर चलते हैं; कहीं ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखना पड़ता है, तथा कहीं केवल कल्पना के घोड़े पर ही उड़ा दिया जाता है। परन्तु आकस्मिक आरम्भ (Dramatic opening) निश्चय ही पाठक के मानस पर अधिक प्रभाव डालता है। अतः लेखक को मुख-वाक्यों का मनन कर स्वयं अपना मार्ग बनाना चाहिए।

निबंध का प्रारंभ केवल प्रथम परिच्छेद में ही नहीं प्रत्येक परिच्छेद में जँचता हुआ होना चाहिए। मैं उन लोगों से सहमत नहीं जो प्रारंभ तथा अंत को ही सब कुछ समझकर मध्य को कोई महत्त्व नहीं देते। जिस समय भी शिथिलता आजावेगी, पाठक लेख को पढ़ने से विरक्त हो जावेगा; संभव है वह पूरा लेख पढ़े बिना ही आपके साहित्य के विषय में कोई स्थायी सम्मति बनाले। ऐसी दशा में परीक्षार्थी को बड़ी हानि होगी। अस्तु, उसे तो इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका लेख आदि से अंत तक आकर्षक बना रहे।

निबंध का अंत या उपसंहार पाठक के मस्तिष्क पर स्थायी छाप छोड़ता है। इसके भी अनेक ढंग हो सकते हैं। हम यहाँ कोई नियम नहीं बना सकते। कुछ लोग किसी लोकोक्ति, पद्य या उद्धरण में अपने लेख का अवसान करते हैं; कुछ लोग सामयिक लेखों का अंत एक उत्साहवर्धक आशावाद में करते हैं। भावात्मक निबंधों का अंत तो कल्पना या रंग में होना ही चाहिए। हमारे कुछ लेखों का अंत इस प्रकार हुआ है:—

(१) अनुभव के बिना हम यह सोच ही नहीं पाते कि यह संसार प्रेम करने का—मित्रता जोड़ने का—स्थल नहीं; यहाँ तो

"नरक के कीड़ों से भी बुरी" मनुष्य की दशा है। ठीक है, भूला हुआ यदि संध्या तक घर लौट आवे तो उसे भूला नहीं कहना चाहिए:—

"जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुःख होइ।
नगर ढिंढोरा फेरती, प्रीति करो जनि कोइ॥" (मीरा).

(२) देश के लिये गांधीवाद अवश्य सफल औषधि है किन्तु इसका पालन भौतिक सभ्यता में पले हुये "सेठ" नहीं कर सकते; उसके सिद्धान्तों को राज्य द्वारा मान्य बनवाकर ही इससे कोई लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(३) हम समाज को इतना सभ्य तथा संस्कृत बना दें कि भविष्य के युवक और युवतियाँ वासनामय उद्गारों को लेकर विद्यालयों में न जावें और वे जनता के सामने पतित आदर्श न उपस्थित करें।

परन्तु लेख की सफलता तो इस बात पर निर्भर है कि पढ़ने वाला एकबार पढ़ चुकने पर उसको फिर भी पढ़ना चाहे। लेखक की शैली इतनी रोचक होनी चाहिए कि पाठक को काव्य का सा आनंद आवे। कभी गंभीर, कभी विनोदशील; कभी व्यंग्य, कभी अलंकार; कभी छोटे वाक्य, कभी लम्बे वाक्य; कभी क्लिष्ट भाषा, कभी सरल भाषा; कभी उद्धरण कभी विषय-प्रतिपादन—यथा-अवसर लेखक की सहायता करते हैं। ध्यान यही रहता है कि यदि वाक्य लंबा है तो उसमें प्रवाह होना चाहिए; यदि वाक्य छोटे-छोटे हैं तो उनमें पारस्परिक संबंध हो। व्यंग्य अधिक गंभीर न हो, और अलंकार भी साधक बनकर आवे, साध्य बनकर नहीं।

दो समान व्यक्तियों की तुलना छोटे वाक्यों में अच्छी बन पड़ती है। व्यंग्य में उत्तम पुरुष या मध्यम पुरुष का प्रयोग अधिक प्रभाव डालता है। इस प्रकार लिखना मानो लेखक पाठक से बात कर रहा है, बड़ा रमणीय बन जाता है। भावों तथा भाषा का उतार-चढ़ाव (सरल से क्लिष्ट; फिर क्लिष्ट से धीरे-धीरे सरल) एक नया ही रंग लाता है। सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला व्यंग्य स्वतः ही रोचक बन जाता है। हमारे कुछ वाक्य इस प्रकार से रमणीय बन पड़े हैं:--

(१) जो धर्मसंस्थापनाय आया हो वह झूँठ क्यों बोलेगा और जो राजपुत्र हो उसे अन्य शिशुओं के साथ मिलकर दाँव लेने या देने की क्या आवश्यकता है।

सीता में समझ है और संकोच है, राधा में भोलापन है और स्वाभाविकता है; एक प्रेम करती हुई भी छिपाती है, दूसरी प्रेम तो अभी नहीं करती किंतु जो कुछ उसके मन का भाव है उसे प्रकट करने में डरती नहीं। (दो व्यक्तियों की तुलना)

(२) उजड़े हुए रीतिकालीन उपवन का एक बचा हुआ अंकुर कालान्तर में "रत्नाकर" के नाम से प्रकट हुआ; उसमें उन सभी पादपों के पत्तों की खाद लगी थी।

सहशिक्षा दूषित चरित्र को भले ही अधिक दूषित बना दे, अच्छे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती; यदि लोहा कच्चा है तो उस पर काई लग जावेगी, परन्तु फौलाद पर जलवायु का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।

भारतीय समाज आर्थिक और सामाजिक विषमताओं का उजड़ा हुआ कबाड़घर है, यहाँ सभी प्रकार की टूटी मशीनें मिल सकती हैं, किन्तु काम की एक भी नहीं।

(अलंकारिक चमत्कार)

(३) रात-रात भर पढ़कर आँखें फोड़लेने वाला एक स्नातक जब थर्ड डिवीजन में बी० ए० पास कर घर-घर चक्कर काटता है तो उसके मन में यह अवश्य आता होगा कि क्या सचमुच गदहा लक्ष्मी का वाहन है।

किसी भी कालेज में जाइये पचास प्रतिशत छात्रों की आँखों पर चश्मा होगा, मुख में सिगरेट होगी.....कोई मोटर की भी ध्वनि सुनाई पड़ी तत्काल कान बंद कर लेने पड़े; एक मील चलना है, तांगा चाहिए; गरमी है लू लग गई; वर्षा है, ज्वर आगया; जाड़ा है निमोनिया हो गया।

चोर बाजारी करके धनी तथा विलासी बनकर अपना सारा रुपया परिचमी टीम-टाम में व्यय करने वाले भी यह चाहते हैं कि "हिंदी के पंडित" को "आदर्श जीवन" बिताना चाहिए—वह खादी पहनता हो, दोनों बार संध्या करता हो, मंगल को व्रत रखता हो; प्याज तक अपनी आँखों से न देखता हो, 'कम से कम सन् '४२ में तो जेल गया ही हो।

(व्यंग्य पूर्णवाक्य)

(४) अनुमान से जान पड़ता है कि जब से कुटुम्ब मातृदेव (Matriarchal) न रहकर पितृदेव (Patriarchal) बन गये

जब से कुटुम्ब का शासन स्त्री से पुरुष ने छीन लिया—तब से स्त्री पुरुष पर शारीरिक तथा भौतिक शासन न कर सकने के कारण उसके हृदय पर शासन करने लगी।

(ऐतिहासिक रोचकता)

(५) आज जब मैं इतनी दूर बैठा हुआ आगरा के उन साथियों की याद करता हूँ जिनमें से अधिकतर मुझको भूल चुके हैं, तो प्रायः मेरे हृदय में उन लोगों के चित्र भी खिंच जाते हैं जो मुझ को भली भाँति जानते भी नहीं और जो यह तो सोच ही नहीं सकते कि मैं शायद जीवन भर प्रयत्न करने पर भी उनको भूल न पाऊँगा, उस समय हैड क्लर्क साहब की धुँधली छाया अकस्मात् सामने आकर उन दिनों का ध्यान दिला देती है जब आगरा भी मेरे लिये उतना ही नया था जितनी कि आज नई-दिल्ली।

(लम्बे वाक्य का निर्वाह)

इस भाँति यदि हमने रोचकता उत्पन्न करने की कला को सीख लिया तो हम जो कुछ भी लिखें वही मधुर तथा आकर्षक प्रतीत होगा; हमारा लेख एक गद्य-काव्य बन जावेगा जिसको पढ़कर आप यह बतला सकेंगे कि लेखक साहित्यिक व्यक्ति है कोरा सूचना-वाहक नहीं। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि निबंध लिखने की कला को इतना सस्ता तथा सरल समझ लिया गया है कि कुछ लोग तो अंग्रेजी के लिये या इतिहास और राजनीति की परीक्षाओं के लिये जो कुछ तैयार करते हैं उसको ही हिन्दी में लिख आते हैं जिस प्रकार कालिदास, प्रसाद या मिल्टन के काव्य का अच्छे से

अच्छा अनुवाद भी वह आनंद नहीं दे सकता जो मूल काव्य में है, क्योंकि अधिकतर सौन्दर्य भाषा का होता है, उसी प्रकार अच्छे से अच्छा लेखक भी अंग्रेजी के निबंधों से हिन्दी में काम नहीं चला सकता। अब जब हिन्दी का क्षेत्र दिन-दिन बढ़ रहा है विद्वानों को इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए। विद्यार्थियों को तो यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि भाषा की शक्ति को जानकर उस पर अधिकार पाये बिना उच्चकोटि के साहित्यिक प्रबंध नहीं लिखे जा सकते, इसलिये अच्छे लेखों को बार-बार पढ़कर उनको अपना बना लेना ही सीखने वाले का सबसे बड़ा सहारा है।

विषय-सूची

—:o:—

शुद्धि-पत्र

कृपया पुस्तक पढ़ने से पूर्व निम्नलिखित सुधार कर लीजिये :

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२१	निर्रीह	निरीह
१४	५	भिन्न	भिन्न भिन्न
,,	१०	पुण्य	प्रणाय
१६	११	याम	श्याम
४६	२१	जल	जलने
५०	५	शेष	(काट दीजिये)
५६	कोष्ठक	प्रराय	प्रणाय
५६	१६	If	(काट दीजिये)
६१	१८	संगीत	संगति
६२	२	कए	एक
,,	८	संगीत	संगति
,,	६	योग्य	योग
६३	६	पूर्ति	मूर्त्ति
६६	अंत	कए	एक
६६	१६-२०	(फुटनोट से भी नीचे कर लीजिये)	
८५	१६	प्रत्युत	पूरी
८७	६	सर्वात	सवति

९८	अंत	हमारा जीवन	जीवन हमारा
१००	६	ज्ञान	अज्ञान
,,	(उद्धरण को काट दीजिये)		
१०२	२०	विकास	विश्वास
१११	१३	विद्वानों	विज्ञानों
११२	११	नका	जिनका
११७	२२	हिन्दूसे	हिन्दसे
१२०	१२	भापा समझता	भाषा समझना
१२४	१०	वात्ती	वार्त्ता
,,	अंत	में	में बात
१२७	६	कीने	कीने विहार
१३१	१६	मघ	माघ
१३२	३	प्रामारिणक	प्रामाणिक
१३६	६	व्यायात्मक	व्याख्यात्मक
१३९	४	प्रश्न	प्रयत्न
१४४	२१	पमारे	हमारे।
१४५	१८	द्रष्टि	दृष्टि
१६३	६	धर्मावलम्बी	धर्मावली
१६७	८	अधिकार	अधिकारी
	२०	बे सुध	बेसुध हो
१७५	१५	विद्वान	विज्ञान
१७७	अंत	रहस्य	प्रगति

१८१	११	सर्वरा	सर्वदा
१८२	१३	अस्पित्व	अस्तित्व
१८३	६	भूल	मूल
१८६	४	गढं	ढंग
१६०	२१	में न	में
,,	अंत	पहुँची	नहीं पहुँची
१६२	१४	ऽद्रि	ऽपि द्रु
१६४	१८	निर्जीव	जीवनोद्देश्य
१६६	१	अन्य	अनन्य
,,	१४	निया	दिया
२०२	१५	एकमत्य	ऐकमत्य
,,	१६	प्रशत्त	प्रशस्त
२०७	१७	कोमता	कोमलता
२१२	२२	भरी	भरे
२१६	१५	शेष	दोष
२१८	५	रूह	रूप
,,	१८	खोटी	छोटी
२१६	२	विपय	विषय
२२५	१	भले···को	(काट दीजिये)
२२७	५	जिसके	जिससे
२३०	१४	योषित	पोषित
२३८	४	बल	फल
२४२	३	साध्य	साध्य

२४५	१५	अंतः	संस्कृत
२४६	२	अलग	में
२५१	१६	कम के	के
२५३	५	अविश्वास	अविश्वास न
२५६	१५	तपोवन	तपोबल
२५८	अंत	जमजात	जन्मजात
२६१	कोष्टक	समानशास्त्र	समाजशास्त्र
२६४	१४	व्यवस्था	अव्यवस्था
२७८	५	सिंहरण अल्का	सिंहरण अलका
२८३	७	उद्वार	उद्धार
"	१७	अविज्ञानों	अविद्वानों
२८८	२१	वड़ा	बेड़ा
२९१	७	उनका	उतना
"	१४	ककाने	कमाने
"	१८	तू	तो
२९३	अंत	भूल में	फलने
२९६	८	की	को
२९७	१७	पिता	पति
३२७	४	अब्दों	शब्दों
३३०	२२	खड़े न	पर खड़े
३३१	३	उत्तेजित	उत्तेजना
३३३	अंत	इसलिये	इसीलिये
३३६	२	नखक्षत	नखक्षत

३४०	२३	उदारदयता	उदारहृदयता
३४३	७	आठ के	आठ
३४४	६	एफ	एक
३४५	१६	भित्तियों	भित्तियों में
३५३	१६	on	or
३५६	४	और	और न
,,	८	के	से
३६०	८	बुद्धिमती	बौद्धमत
३६५	३	काल	काल की
३७१	१४	हवा	हम
३७७	१३	आति	आदि
३७८	४	सम्मिति	सम्मित
,,	१७	राज-घाट	राज-पाट
३७८	६	पति	पति-पत्नी
,,	२३	वेदों	वेदान्त
३८६	१०	रहस्यवादी	छायावादी
३६७	११	राजनीतिक	राजनीति
,,	१७	करना	कहना
३६८	४	सामाजिक	सामयिक
३६६	शीर्षक	चिट्ठीरसा	चिट्ठीरसा या
४००	४	भेरी	मेरी
,,	१२	जिस	जिस भवन

४०१	६	को	को चूर-चूर कर
४०२	७	है	का है
४०५	१	कि	कि पूर्वजन्म में हमने इस पद को
,,	६	तन	तन और यह मन
४०६	१६	सारिणी	सरिणी
४११	७	ने	ने न
४१३	२०	आत्मिकता	अनित्यता
४१६	११	सावेक्ष्य	सापेक्ष्य
४२०	२०	स्कन्दगुप्त	चन्द्रगुप्त
४२३	१२	उनंनी अपकी	उनकी अपनी
,,	२३	Most	Most D'
४२४	१२	लाली	वाली
४२७	अंत	बुरा कोय	बुरा न कोय
४३०	२	Indgement	Judgement
४३२	४	अनयवाद	अनपवाद
४३८	११	इसी	इसी प्रकार
४४०	१०	नहीं	दर्शन नहीं
४४६	२१	चित्ररेखा	चन्द्रलेखा
४५२	१३	उपकार	उपकारक
४५६	३	की	भाव की
४६१	२१	सदयता	संहृदयता

४६८	१०	सभूषण	भूषण
४६६	१	धारण	साधारण
,,	२१	उपमा	उपमान
४७३	१६	सामाजिक वह	वह सामाजिक
४७५	२३	Than	That
४७६	११	स्व-स्मभिति	स्व-सीमित
४८१	१०	वर्त्तयान	वर्त्तमान
,	१७	लेखकगीरी	लेखकगिरी
४८३	१	ररे	रहे
४८५	३	नहीं	नहीं कि अपने
४८६	१६	में	में न
,,	१७	न	में न
४८७	४	निरोग	नीरोग
४६२	५	था	था बोला
४६६	१०	उहसंहार	उपसंहार
४६६	६	रमणी	रमणीय
५००	३	अचानक	आपानक
५०१	१०	कर है	है
,,	,,	अभिशाय	अभिशाप
५०३	१४	उन्नतम	उन्नत
,,	२१	Monality	Morality
५०५	१६	निष्क्रिराय	निष्क्रिय

५०७	१३	उसके	उस
,,	२३	शिशुपालवधन	शिशुपालवध
५०६	३	रामचन्द्र	रामचन्द्र शुक्ल
५१०	१३	दिर	दिन
,,	१८	अभाव	प्रभाव
५११	१६	सुन्दर	सुन्दरी

प्रसाद जी के स्त्री-पात्र

(१) भूमिका—पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों का चित्रण अधिक सफल।
(२) स्त्री-पात्रों की तीन श्रेणियाँ
(३) द्वितीय श्रेणी में रखे जाने वाले स्त्री-पात्र—
(४) द्वितीय श्रेणी के स्त्री पात्र—विशेषताएँ।
(५) ,, ,,—तीसरा सामान्य गुण.
(६) ,, ,,—चौथा सामान्य गुण.
(७) तृतीय तथा सर्वमुख्य श्रेणी.
(८) दुर्बलता पूर्ण नारीहृदय का दूसरा रूप.
(९) प्रणय तथा कर्त्तव्य का मानसिक संघर्ष
(१०) प्रणय-वंचिता रमणी।
(११) प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ स्त्रीपात्र.
(१२) उपसंहार

पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी को अधिक सफलता मिली है। उनकी नारी यौवन और विलास की आकांक्षाओं से परिप्लावित होती हुई भी,पुरुष को ऊँचा उठाने वाली है; विद्वत्ता, वीरता, शासनकुशलता आदि मनुष्योचित गुणों से भली भाँति परिचित होती हुई भी, वह इन गुणों के द्वारा किसी निश्चित ख्याति को प्राप्त नहीं करती। उसकी प्रधान विशेषता है सेवा, त्याग, प्रोत्साहन क्षमा एवं उदारता का दिव्य प्रकाश। हम उसको प्रेरणा-शक्ति के रूप में देखते हैं, स्वयं रचनात्मक या

विनाशात्मक कर्मों में तत्पर स्त्री के रूप में नहीं; वह कारयित्री है, कर्त्री नहीं। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के नाटकों में जिन पात्रों को नायक पद प्राप्त हुआ है वे

पुरुषपात्रों की अपेक्षा स्त्रीपात्रों का चित्रण अधिक सफल

वर्तमान युग की सृष्टि होने के कारण भले ही राम और कृष्ण के समान ही पौराणिक अवतारों की श्रेणी में न गिने जा सकते हों परन्तु उनमें अलौकिक शील तथा शक्ति है, वे भी पृथ्वी पर धर्म में श्रद्धा तथा गो-ब्राह्मण की मर्यादा में विश्वास स्थापित करने के लिये ही आते हैं, यद्यपि पृथ्वी दुष्टों के अत्याचारों से थर-थर काँपती हुई उनकी सेवा में कभी प्रार्थना करने नहीं पहुँची, परन्तु वे सदा आतंक से पृथ्वी को आश्वासन देने में ही तत्पर रहे। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि उनके नाटकों की नायिका न तो सीता के समान ही पतिव्रता और पतिप्राणा है, न राधा के समान केवल प्रेम-वियोगिनी, संयोगिता के समान वह सर्वस्व-विनाशक वैर का कारण नहीं बनती, और न पद्मिनी के समान जौहर ही करती है। वह लक्ष्मीबाई या अहिल्या बाई के समान युद्धभूमि में शत्रुओं के छक्के छुड़ा देने वाली भी नहीं है; और न ऊर्म्मिला के समान अपने यौवन के सुख को पति के लिए—उसके कर्तव्य की पूर्ति के लिए—मिट्टी में मिला देने वाली ही है। उसमें तो आधुनिक युग की सारी दुर्बलताएँ और सारे आदर्श मिलते हैं; उसमें हृदय की विशालता भी अपूर्व है और हृदय की सामान्य दुर्बलता भी ज्यों की त्यों। यही कारण है कि वह हमारे हृदय के अधिक समीप है, हमको उसमें कोई अस्वाभाविकता या बनावट नहीं दिखलाई पड़ती, प्रत्युत उसको समझकर हम अपने सांसारिक जीवन में भी, अन्य महिलाओं को समझने में अधिक सफल हो सकते हैं।

प्रसादजी के संपूर्ण साहित्य और प्रधानतः उनके नाटकों को दृष्टिकोण में रखते हुए उनके समस्त स्त्रीपात्रों को, अध्ययन की सुविधा के लिए, हम निम्नलिखित तीन श्रेणियों में रख सकते हैं :

स्त्रीपात्रों की तीन श्रेणियाँ

(१) सधारण स्त्री-पात्र। इस श्रेणी में हम उन नारियों को रख सकते हैं, जिनका नायक या नायिका के निर्माण में कोई हाथ नहीं रहा है, और न मुख्य या प्रासंगिक कथा में ही जिनका कोई बहुत बड़ा महत्व है। प्रत्येक नाटक की दासियाँ, सखियाँ तथा परिचारिकाएँ तो इस श्रेणी में आवेंगी ही, साथ ही "विशाख" की "रानी" "तरला" तथा "रमणी", "चन्द्रगुप्त" की "मालविका" एवं "मौर्य-पत्नी", "स्कन्दगुप्त" की "रामा" "जयमाला" आदि को भी हम इसी श्रेणी में रखना उचित समझते हैं। इनको 'साधारण' कहने

प्रथम श्रेणी——साधारण स्त्रीपात्र

तथा दासी, परिचारिकाओं आदि के साथ रखने से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि हम इनका अलग अस्तित्व नहीं मानते। निस्संदेह इनमें से कुछ का चरित्र तो बहुत ऊँचा है, और शायद कुछ का तो ऐतिहासिक महत्व भी है, परन्तु हमारे वर्तमान लेख में उनका व्यक्तित्व अधिक सहायक नहीं। "रामा" नीच शर्वनाग की सती साध्वी पत्नी है, वह अपने पति को पतित होने से बचाने का भरसक प्रयत्न करती है, उसके कारण ही शर्वनाग को मृत्युदंड नहीं भोगना पड़ता, इस भाँति उसका चरित्र भी ऊँचा है, परन्तु अविकसित——उस नाटक में उसके विकास की आवश्यकता ही न थी। देवसेना की भाभी "जयमाला" वीर क्षत्राणी भी है और पति के संकेत पर परिस्थिति को समझकर मालव राज्य का समर्पण भी कर देती है, वह देवसेना की सहेली भी है और किसी न किसी रूप में अभिभावक (Guardian) भी, परन्तु

उसका भी पर्याप्त विकास हमको नहीं मिलता। इसी भाँति "चन्द्रगुप्त" की "मालविका" भी कई स्थानों पर लाभदायक सिद्ध होकर भी अधूरी ही रही। ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक इनके केवल एक-दो सामान्य गुणों का दर्शन कराकर ही इनको विदा कर देता है; जीवन की विषम परिस्थितियों के बीच हम इनको नहीं देखते; इनको न आंतरिक दीर्घ संघर्ष से युद्ध करना पड़ता है और न बाह्य व्यापक संघर्ष से; इनका नायक या नायिका के जीवन से कोई सीधा तथा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। अस्तु ये नाटककार की वास्तविक सृष्टि का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं—इनसे हमको यह ज्ञात नहीं हो सकता कि प्रसाद जी के स्त्रीपात्र किस प्रकार के हैं।

स्त्री-पात्रों की दूसरी श्रेणी—गंभीर पात्र

अब द्वितीय श्रेणी के स्त्रीपात्रों को देखिए। सुविधा के लिए हम इनको "गम्भीर पात्र" कहेंगे, इसका कारण यह है कि इनमें एक प्रकार की गुरुता, उपदेशप्रियता या समझ अधिक है—या तो आयु अधिक है या गंभीरता अधिक। फलस्वरूप उनके मानस में या तो दुर्बलता है ही नहीं, या यदि थोड़ी सी होगी भी तो केवल नाम भर के लिए और केवल उस प्रकार की जैसी यौवन में प्रायः नहीं हुआ करती। "स्कन्दगुप्त" की "कमला", "ध्रुवस्वामिनी" की "मंदाकिनी", "चन्द्रगुप्त" की "अलका" तथा "विशाख" की "इरावती" इसी श्रेणी में आती हैं। ध्यान देने से विदित हो जायगा कि नाटककार ने इन गंभीरपात्रों में कम से कम चार सामान्य गुणों को अवश्य रक्खा है। प्रथम, यह कि प्रत्येक नाटक में इनको इतनी अधिक आवश्यकता पड़ती है कि शायद इनके न होने से नाटक का उद्देश्य ही पूरा न हो पाता; यदि "कमला"

निराश स्कन्दगुप्त को प्रोत्साहित कर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा न देती तो वे कभी "विक्रमादित्य" न हो पाते और भारत भूमि का उद्धार न हो पाता; इसीभाँति "मंदाकिनी" "इरावती" आदि भी केवल नाटक के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए ईश्वर द्वारा भेजी गई दैवी मूर्त्तियाँ हैं। द्वितीय, यह कि इन पात्रों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, वे कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के लिये ही आते हैं, और उस मार्ग को स्वयं प्रशस्त न कर योग्य पात्रों को यथासमय प्रोत्साहन देते हैं। इनको हम मूर्त्तिमान् श्रेयस्करी प्रेरणाएँ कह सकते हैं। निराश स्कन्दगुप्त को, अकस्मात् प्रकट होकर, कमला ने जो प्रोत्साहन दिया वह प्रत्येक नवयुवक को कण्ठस्थ करा देने योग्य ही है:—

इन पात्रों के चार सामान्य गुण (Common Virtues)

"कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। ... राम और कृष्ण के समान क्या तुमभी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो,जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।"

(स्कन्दगुप्त)

इसी भाँति "ध्रुवस्वामिनी" की मंदाकिनी भी "न्याय का दुर्बल पक्ष" ग्रहण करती हुई कुमार चन्द्रगुप्त को प्रोत्साहित करती रहती है:—

"हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार! कि अब आपको क्या करना चाहिए।"

"एक बार अंतिम बल की परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा नहीं तो सर्वनाश।" (ध्रुवस्वामिनी)

यह स्पष्ट ही है कि "अलका" का महत्वपूर्ण कार्य एक ओर तो सिंहरण को कर्त्तव्य मार्ग में लगाना है और दूसरी ओर अपने पिता की आँखें खोलना। उससें कितनी आशा है:—

"परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव-वीर! तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है···।

(चन्द्रगुप्त)

दूसरी ओर वह कितनी गंभीरता से अपने पतनोन्मुख पिता को कल्याणपथ पर लाने के लिये समझा रही है:—

"महाराज! जिस उन्नति की आशा में आम्भीक ने यह नीच कर्म किया है उसका पहला फल यह है कि आज मैं वंदिनी हूँ, सम्भव है कल आप होंगे और परसों गांधार की जनता बेगार करेगी।"

(चन्द्रगुप्त)

इन पात्रों का तीसरा सामान्य गुण यह है कि इनका निकटतम सम्बन्ध प्रायः किसी ऐसे पात्र से होता है जो नायक या नाटक के उद्देश्य में एक भारी रुकावट डाल रहा हो। ये गंभीरपात्र अपने उस सम्बन्धी को छोड़कर——प्रायः उसका अप्रत्यक्ष विरोध कर—कल्याणोन्मुख नायक की प्रेरणात्मक सहायता करते हैं। कमला का औरस पुत्र भटार्क (स्कन्दगुप्त नाटक में) अनन्तदेवी के दल का एक प्रधान अंग है। वह स्कन्दगुप्त का सबसे बड़ा द्रोही है; कमला को इस बात का अत्यधिक दुख है और कदाचित इसी हेतु प्रतिक्रिया स्वरूप या अपना कलंक मिटाने के लिए वह सर्वदा स्कन्दगुप्त को अप्रत्यक्ष सहायता करती रहती है! कई स्थलों पर अपने पुत्र को भी समझाती है, उसके षड्यन्त्रों को असफल करती है और स्कन्दगुप्त को प्रेरणा देती है; उसके इस

महान् गुण को सभी जानते हैं। यदि "चन्द्रगुप्त" की "अलका"

तीसरा सामान्य गुण

तो देखते हैं तो भी वही बात सामने आती है, वह गांधार के राजा की पुत्री एवं आम्भीक की सहोदरा भगिनी है, अपने पिता एवं सगे भाई को देशद्रोही जानकर वह उनसे अलग हो जाती है और चन्द्रगुप्त, सिंहरण आदि की सहायता करती है। इन देवियों की आत्मा इतने उच्च स्तर पर है कि हृदय की सामान्य दुर्बलता- रक्त का निकटतम सम्बन्ध भी— इनको कल्याण पद से हटा नहीं सकता, प्रत्युत उस आत्मग्लानि के कारण वे और भी अधिक उत्साह से काम करती हैं। ध्रुवस्वामिनी की मन्दाकिनी को इतना विरोध तो नहीं करना पड़ता फिर भी वह सर्वदा "न्याय का दुर्बल पक्ष" ही ग्रहण करती है। इन देवियों का भाग "अप्रत्यक्ष" इसलिये है कि वे केवल सुधारात्मक कार्य ही करती हैं, ध्वंसात्मक नहीं, वे "पाशव वृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत" करने तथा नायक को मानसिक तथा आत्मिक सहायता देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती हैं।

इन गंभीर स्त्रीपात्रों का चौथा सामान्य गुण, जैसा हमने ऊपर भी संकेत किया है, हृदय-क्षेत्र से ऊपर उठ बुद्धिक्षेत्र में जाना है। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि इनमें हृदय-हीनता है, प्रत्युत मेरा अभिप्राय यह है कि उनका हृदय दुर्बलताओं से रहित है। वे प्रेम अवश्य करती हैं; किंतु केवल कल्याण को, न्याय को, धर्म

चौथा सामान्य गुण

को। उनका हृदय प्रस्रवित अवश्य होता है परन्तु क्षमा के लिये, दया के लिये, करुणा के लिये। नाटककार ने इस गुण को अधिक स्पष्ट करने के लिये "कमला" को तो वृद्धा माता का

रूप दिया है, परन्तु "अलका" में यौवन तथा सिंहरण के प्रति आकर्षण होते हुए भी कठोर कर्त्तव्य पालन की कट्टरता ही देखने में आती है : "मन्दाकिनी" में हमको यौवन के चिन्ह नहीं मिलते; वह वृद्धा न भी हो तो कम से कम "वृद्धत्वं जरसा विना" की पात्री अवश्य है। प्रसादजी के नाटकों के ये इस प्रकार के अन्य पात्र कभी कभी तो इतने ऊँचे उठ जाते हैं कि अजात शत्रु में यद्यपि स्वयं भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन है, और स्वयं वे ही इसमें एक पात्र भी हैं, फिर भी मल्लिका का उच्च चरित्र भगवान् के चरित्र से कहीं श्रेष्ठतर प्रतीत होता है। इस द्वितीय श्रेणी की महिलाओं में हृदय का स्वच्छतम स्वरूप देखने को मिलता है। उनमें करुणा है, दया है उदारता है, त्याग है, उत्साह है तथा कर्त्तव्य परायणता है। उनकी गंभीरता उनको आदर तथा सम्मान की अधिकारिणी बना देती है।

द्वितीय श्रेणी में हमने प्रसाद जी के जिन स्त्रीपात्रों को रखा है, उनमें हृदय की उदारता एवं गंभीरता इतनी अधिक है कि वे कभी-कभी तो आधुनिक युग के से प्रतीत न होकर कोरे आदर्श-वादी ही जान पड़ते हैं, इसलिए उनके साथ हमारी उतनी सहानुभूति नहीं जितनी कि तृतीय श्रेणी में रखे गये पात्रों के साथ है। इनमें हमारे समान ही हृदय की दुर्बलता है, वे उसी भावना से प्रेरित होकर ही भाँति-भाँति के कार्यों में भाग लेते हैं। एक दृष्टिकोण से उनके भी दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग उन नारियों का है जिनमें यौवन-सुलभ प्रेम से भिन्न प्रकार की दुर्बलता है, और दूसरा वर्ग उन रमणियों का है जो अपने कोमल हृदय में प्रेम तथा विलास की मार्मिक टीस लिये हुए संसार में विचरण करती हैं। स्कन्दगुप्त की "अनंतदेवी" की श्वास में भले ही गर्मी

तृतीय श्रेणी में स्त्री-पात्र—दो प्रमुख वर्ग

हो और उसके कपोलों की लाल-लाल धाराएँ भले ही विलासका सन्देश बतलाती हों परन्तु यह निश्चय है कि वह जो कुछ भी करती है अपने पुत्र को राजा बनाने के लिए ही करती है; वह किसी व्यक्ति से प्रेम नहीं करती—स्वयं अपने पति को भी वह इस लिये चाहती है कि विलासी राजा पुरगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर जावे; अनन्तदेवी का इस प्रकार का चरित्र उक्त नाटक में कई स्थलों पर भटार्क के साथ वार्त्तालाप में स्पष्ट हो गया है। "अजात शत्रु" नाटक में राजमाता "छलना" भी

प्रथम वर्ग की नारियाँ—माताएँ

महत्त्वाकांक्षा के ही कारण अपनी सपत्नी से द्वेष रखती है और अपने पुत्र अजातशत्रु को क्रूरता एवं अविनय की शिक्षा देती है। ध्यान देना होगा कि इस वर्ग में केवल माताएँ ही आती हैं, उनकी दुर्बलता का कारण है सपत्नी से संभाव्य अवास्तविक झूँठा भय, तथा अंत में उनका सुधार भी होता है और उनकी इच्छा भी पूरी हो जाती है। प्रसादजी ने इस वर्ग का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, वे उनकी दुर्बलता को समझते हैं। और उनकी आशंका की निर्मूलता सिद्धकर उनमें आवश्यक सुधार कर देते हैं—उन्होंने इनको पराजित कर भी इनकी हत्या नहीं कराई, इनको समस्या की जड़ बनाकर भी अपमानित नहीं होने दिया। वे नारी-हृदय की उस दुर्बलता को समझते थे जिसको 'वत्सलता' कहते हैं एक और कल्याणपथ पर जाने वाली माता कमला और दूसरी ओर विनाश की मूल माता अनन्तदेवी ! दोनों ही माताएँ हैं !! परन्तु दोनों में कितना अंतर है ! एक में आदर्श है दूसरी में वास्तविकता; एक दैवी है दूसरी मानवी। सौतेली माता का यही रूप तो आदि काव्य रामायण में मिलता है।

अब दुर्बलता पूर्ण नारीहृदय का दूसरा रूप देखिये। सुन्दरी स्त्रियों में एक तो वैसे ही रूप-गर्व स्वाभाविक ही है, दूसरे यदि उद्दाम यौवन का अजस्त्र स्रोत बह रहा हो तो वे अपने ऊपर कोई शासन नहीं मानतीं। "वे मुँह खोलकर सीधा-सादा प्रस्ताव नहीं कर सकतीं। परन्तु संकेतों से, अपनी कुटिल अंग भंगियों के द्वारा प्रस्ताव से अधिक करके पुरुष को उत्साहित किया करती हैं। .. तब वे अपना सर्वस्व अनायास ही नष्ट कर देती हैं"१! सत्य तो यह है कि "प्रणय! प्रेम! जब सामने से आये हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुंज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं"२ इस ऋतु में चूकना या सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं। प्रायः वह भूल करती है और हृदय में प्रेम उमंग भरकर वह अनेक उपद्रव करा दिया करती है। उसका "अनुराग कोमल होने पर भी बड़ा दृढ़ होता है। वह सहज में छिन्न नहीं होता"३। अंत में वही पश्चात्ताप रह जाता है कि "यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वालामुखी है"४। प्रसाद जी के इन पात्रों को पाठकों ने बड़ा पसंद किया है। यद्यपि वह भी "स्त्रियों के प्रेम का रहस्य नहीं समझ पाया"५ है, परन्तु यह समझकर कि "स्त्रीवय के विचार से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है"६ वह यह मानने को तैयार हो जाता है कि "नारीजाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है"७। अस्तु दुर्बलतापूर्ण

दुर्बलतापूर्ण नारीहृदय का दूसरा रूप

१ कंकाल ३ जनमेजय का नागयज्ञ ५ इरावती

२ ध्रुवस्वामिनी ४ चन्द्रगुप्त ६ कंकाल ७ कंकाल

नारीहृदय के इस दूसरे वर्ग के विषय में विस्तार पूर्वक विचार करना चाहिये। पहिले उन पात्रों को लेते हैं जिनका जीवन इतना विषम बनगया कि नाटककार ने उनकी हत्या कराकर ही उनको संघर्ष से छुटकारा दिलाया है।

स्कन्दगुप्त नाटक की "विजया" अपनी युवावस्था की उमंग में जिस व्यक्ति को प्रेम करने लगती है, उसको प्राप्त न करने की जब उसे आशंका होने लगी तो वह इतनी भयानक हो गई कि स्कन्दगुप्त के राजनीतिक विरोधी भटार्क को उसने वरण कर लिया। विजया को पुरगुप्त से प्रेम करने का भी अवसर मिला पर उसने स्वीकार नहीं किया; उसका प्रेम महत्त्वाकांक्षा से भी नहीं है। वह भटार्क से प्रेम नहीं करती, केवल प्रेम का दिखावा कर

प्रणयवञ्चिता रमणी का भयानक स्वरूप

उसने उसको वरण कर लिया है। एक बार फिर वह स्कन्दगुप्त हताश, विपन्न स्कन्दगुप्त के चरणोमें अपने यौवन का समर्पण करने आई और यह भी अपनी अमूल्य सम्पत्ति के साथ, उसी पुरानी स्मृति का आधार लेकर:—

"रहने दो यह थोथा ज्ञान प्रियतम यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है"—

(स्कन्दगुप्त)

परन्तु यह उसकी भूल थी कि स्कन्दगुद सम्पत्ति के लोभ में उसे स्वीकार कर लेगा। लेखक ने उसका अन्त आत्मग्लानि तथा आत्महत्या में दिखाया है। विजया का सारा चरित्र उसके दो वाक्यों में ही स्पष्ट हो जाता है:—

(१) प्रणयवञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े—विघ्नों को दूर करने के लिये वज्र से भी दृढ़ होती हैं। (११६)

(२) दुर्बल रमणी-हृदय ! थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा। (११७)

जिस देवसेना की वह अन्यतम सखी थी उसकी हत्या तक का प्रयत्न करना और उसको नीचा दिखाने का भरसक प्रयत्न करना ही तो विजया के जीवन का उद्देश्य बन गया। रमणी की यह प्रतिद्वन्द्विता आज भी ज्यों की त्यों देखने को मिलती है—

विजया का उदाहरण

प्रत्येक रमणी दूसरी रमणी के सौन्दर्य और यौवन से द्वेष रखती है उससे जलती है, और उसको नीचा दिखाने के लिए स्वयं नीच से नीच काम कर सकती है। दूसरी रमणी का विघ्न बन कर आना प्रणयवञ्चिता के मन में नायक के प्रति रोष उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत नायक के उदासीन रहने पर भी वह केवल उस रमणी को ही अपराधिनी मानती है; यहाँ "समझदारी" होती ही नहीं, इसीलिए, "संसार ज्वालामुखी" बन जाया करता है। प्रसाद जी ने "अजात शत्रु" में भी मागंधी (श्यामा) को भी एक ऐसी ही भयानक रमणी बनाया है, परन्तु उसका नायक किसी दूसरी सुन्दरी के चंगुल में नहीं है, इसलिए उसको हत्या नहीं करनी पड़ती, और उसका यह अभिमान कि—

"यह तुमने कभी न विचारा कि सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार में कुछ अपना अस्तित्त्व रखती हैं।"

धीरे-धीरे पिघल जाता है।

इन पात्रों में कोई मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द नहीं, परन्तु "चन्द्रगुप्त *" की कल्याणी और "ध्रुवस्वाभिमानी" की कोमा के सामने दो समान बंधनों का पालन है। चन्द्रगुप्त

* मोह न नारि नारि के रूपा। —तुलसी।

नाटक की "मालविका" तो आजन्म चन्द्रगुप्त को प्रेम करती रही और वह इस बात को न जान पाया; अन्त में भी प्रणय एवं कर्त्तव्य का सच्चा प्रमाण देती हुई अपने जीवन का अन्त कर बैठी :—

प्रणय तथा कर्त्तव्य का मानसिक संघर्ष

"जाओ प्रियतम ! सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिर-दुःखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है और मरण है उसका अटल उत्तर।" (१६६).

परन्तु कल्याणी जिस पुरुष को प्रेम करती है, वही तो उसके पिता का विरोधी है। "अलका" ने भी पिता का विरोध किया और कल्याणी ने भी परन्तु दोनों के विकास में अंतर है, दोनों का अंत भी भिन्न है। लेखक ने कल्याणी का स्थान भविष्य में कार्नेलिया —"भारत की कल्याणी" को दिया है, परन्तु कल्याणी के जीवन का अंत आत्महत्या द्वारा करा कर बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है:—

"परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को —प्रेमपीड़ा को—मैं पैरों से कुचल कर, दबाकर, खड़ी ही रही !" (१५५)

मरण जीवन का कितना निष्ठुर उत्तर है। "ध्रुवस्वामिनी" की कोमा भी प्रेम की एक भूल कर बैठी थी, परन्तु उसका नायक अपनी विजय लालसा में उसके प्रेम का मूल्य न जान पाया। कल्याणी तथा मालविका के समान कोमा को भी किसी रमणी से जलना नहीं है, केवल अपने दुर्भाग्य पर उसको आँसू बहाने हैं। वह जानती है कि "सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है," परन्तु वह यह नहीं जानती कि प्रेम के बदले में

"स्त्रियों को प्राय: मिला करता है—निराशा; निष्पीड़न ! और उपहास ! !" वह स्वयं आत्महत्या नहीं करती, परन्तु सैनिक के हाथ से मारी जाती है। उसका अधिक विकास कदाचित लेखक को अभीष्ट न था।

अबतक हमने प्रसादजी के नाटकों से भिन्न प्रकार के स्त्रीपात्रों को अलग-अलग परिस्थितियों में देखा है और यथा संभव उनका वर्गीकरण भी किया है, परन्तु प्रसाद जी की सर्वश्रेष्ठ कृति, जिसमें लेखक का मन सबसे अधिक रमा है, स्कन्दगुप्त की " देवसेना " है। देवसेना का हृदय दुर्बलतापूर्ण है, और उसमें पुण्य तथा लोकापवाद का संघर्ष है। वह अपने कर्त्तव्य के सामने तो सर्वस्व त्याग करने को तैयार ही है, परन्तु उसके प्रेम में कोई बाधा नहीं आती। उसके सामने तो वही समस्या थी जिसके कारण भगवती सीता को वन-वन भटकना पड़ा। राम यह जानते थे कि सीता शुद्ध है, शुद्ध हो चुकी है, उनको उस पर पूरा विश्वास था परन्तु संसार की जीभ नहीं पकड़ी जा सकती— संसार में तो कोई न कोई उसके सतीत्व में सन्देह ही करेगा। उसकी दृष्टि में प्रणय से लोकापवाद बढ़कर है। देवसेना यह भी जानती है कि "बन्धुवर्मा" की भी यही इच्छा थी और अब विजया के भी स्वप्नों की भी कोई बात नहीं रह गई, परन्तु संसार तो यही कहेगा कि "मालव देकर देवसेना का विवाह किया जारहा है"। 'दुनिया क्या कहेगी' इस विचार से अनन्त आत्मग्लानि और अनेक अनर्थ होते रहते हैं। देवसेना ने भी अपने हृदय को अपने स्वर्ग को इसी हेतु ठुकरा दिया। कितने आश्चर्य की बात है कि दो प्रेम करने वाले दो हृदय सदा एक दूसरे से सटे ही रहे फिर भी

प्रसाद जी की सबसे सुन्दर सृष्टि

दुनिया की ईर्ष्याभरी आँखों से उनका मिलना न देखा गया। यह तो केवल विजया ही नहीं सारा देश जानता था कि देवसेना स्कन्दगुप्त को प्रेम करती है और उससे उसका विवाह भी होगा, परन्तु प्रेम के नाम पर जीभर कर रोनेवाली के मन की बात कौन जानता था:—

"आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस फिर नहीं।" (२०३)

उसने आजन्म स्कन्दगुप्त को ही प्रेम किया और दूसरे जन्म का भी उसको प्राप्य मान लिया। उसमें भारतीय आदर्श की सुन्दर झलक मिलती है, प्रणय एवं लोकापवाद का संवर्ष आशावाद के निर्णय से सुलझा जाता है। सीता के समान ‡ वह भी दूसरे जन्म में उसके निर्विघ्न संयोग की कामना में अपना जीवन बिता देती है।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने अपने नाटकों में स्त्री के कई रूप देखे हैं। वह माता के रूप में हमको दिखाई पड़ती है, भगिनी के रूप में भी तथा भार्या के रूप में भी, वह सफल प्रेयसी के रूप में भी है और असफल प्रेयसी के रूप में भी वह वेश्या भी बन जाती है और कुलवधू भी, उसमें

उपसंहार

त्याग, उदारता तथा गंभीरता भी है, तथा मोह, चलचित्तता तथा संघर्ष भी, वह प्रकृति का सबसे सुन्दर प्राणी है तथा "विधाता की एक झुँझलाहट" भी। उसका जितना स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र आपने खींचा है उतना किसी अन्य

‡ भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि।
त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः॥

आधुनिक कलाकार ने नहीं। नारी की परिस्थितियाँ तथा संस्कार उस को एक अद्भुत विरोधी गुणान्वित प्राणी बना देते हैं। प्रणय, ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा तथा कर्त्तव्य पालन आदि उसको कोई भी रूप दे सकते हैं; परन्तु वह फिर भी "अबला" ही है। उसका भोलापन (जो प्रेम का कारण बनता है), उसका साहस (जो उसे भयंकर बना देता है) तथा उसके संस्कार (जिन्होंने उसको 'अबला' बना दिया है) उसका सच्चा चित्र खींच सकते हैं। लेखक के ही शब्दों से हमको एकमत होना पड़ता है:—

"स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।"

(कंकाल)

सूर सूर, तुलसी ससी

(१) तुलसी और सूर,
(२) सूर का सीमित क्षेत्र।
(३) वात्सल्य रस।
(४) संयोग शृंगार।
(५) वियोग शृंगार
(६) भाषा की दृष्टि से।
(७) शैलियों की दृष्टि से।
(८) प्रबन्धनिर्वाह।
(९) साहित्यिक सौन्दर्य।
(१०) प्रकृति-चित्रण।
(११) उपसंहार

भक्ति-काल के जो चार स्रोत हिन्दी-साहित्य में अपनी अमर कीर्ति छोड़ गये, उनमें से जितनी लोकप्रियता सगुण मार्ग पर

तुलसी और सूर

चलने वाली धाराओं को प्राप्त हुई उतनी निर्गुण मार्ग वाली धाराओं को नहीं। कारण स्वाभाविक था। निर्गुण कवियों ने भगवान का जो स्वरूप जनता के सामने रखा वह चिंतन का विषय अवश्य था, अशान्ति के समय में मुरझाये मन को हरा न कर सकता था, इसी हेतु कबीर और जायसी को वह ख्याति कभी प्राप्त न हो सकती थी जो सूर और तुलसी को मिली। यदि हम इस मधुरता को ही श्रेष्ठता का लक्षण मानें तो निश्चय ही सूर तुलसी से ऊँचे हैं, उनकी कविता में जो मधुरता कूट-कूट कर भरी है वह संतप्त

हृदय को शीतल अवश्य कर देती है। सूर स्वयं माधुर्य भाव के उपासक थे और दीनतापूर्ण जीवन त्याग कर ज्ञान-चक्षुओं की सहायता लेकर महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दिखाये हुये उस मार्ग पर आये जिस मार्ग में भगवान कृष्ण, भगवती राधा और सौभाग्यशालिनी गोपियों के साथ नित्य वृन्दावन धाम में सदा स्वच्छन्द रासलीला किया करते हैं। कितना मधुर है रासमय रसिक जीवन। कितना व्यापक है भगवान का वह नित्य रास--- अखिल प्रकृति के नये-नये क्रियाकलाप—धन्य है वह मन-मयूर जो घनश्याम की उस रासलीला में साक्षी रूप से उपस्थित होकर उसका आनन्द लूटता है।

सूर ने भगवान के सम्पूर्ण जीवन को अपने काव्य का विषय न बनाया, उन्होंने केवल उन्हीं स्थलों को चुना है जिनमें मधुरता

सूर का सीमित क्षेत्र

और सौन्दर्य है, विषाद या खिन्नता नहीं। बाल्यकाल और युवावस्था कितने मनोहर हैं। कौनसा है वह दुखी व्यक्ति जो बालकों की नटखट क्रीड़ा को देखकर क्षण भर हँसने का प्रयत्न न करेगा। कितनी मधुरता होती है बालकों के लालन-पालन में:—

"जसोदा हरि-पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराय हलावै जोइ सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउरी निदिया काहे न आनि सुआवै॥"

कृष्ण कुछ बड़े हो जाते हैं, यशोदा उनको स्नान कराना चाहती हैं, वे रोने लगते हैं, तब माता का मधुर हृदय उबटन छिपाने को बाध्य होता है—

"जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन रोय गये हरि लोटत ही।
× × ×

मैं बलि जाउँ न्हाउ जनि मोहन कत रोवन बिन काजै री।
पाछै धर राखौ छपाइ कै उबटन तेल समाजै री ॥"

बालकों में पारस्परिक क्षोभ की भी कितनी स्वभाविक मात्रा रहती है, एक दूसरे को चिढ़ाते कभी क्यों चूकेंगे। खेल में सब बराबर हैं, कोई किसी की धोंस क्यों माने, दाँव तो सभी को देना पड़ता है :—

वात्सल्य रस

"खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
अति अधिकार जनावत जातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।"

श्याम केवल साथियों के साथ ही नटखटी नहीं करते, वे पड़ोसियों को भी तंग कर डालते हैं, माखन-दधि-चोरी में तो रसिक-शिरोमणि प्रसिद्ध ही हैं :—

"श्याम कहा चाहत से डोलत।
सूने विकट अँध्यारे मन्दिर दधि-भाजन में हाथ।
× × ×
मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चीटों काढ़न को कर नायो ॥"

अब थोड़ा तुलसी द्वारा वर्णित राम के शैशव को भी देख लीजिये। राम अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज के पुत्र थे, उनके जीवन में राजकुल की मर्यादा का पालन तो मिलेगा वह विनोद और वह खुलकर क्रीड़ा करना दृष्टिगोचर नहीं होता। माता-पिता शिशु के सद्गुणों से अवश्य सन्तुष्ट होते हैं, उनके सौन्दर्य, उनकी महिमा और अपने सौभाग्य पर अवश्य धन्य हो जाते हैं, किन्तु न वहाँ अन्य बालकों के साथ स्वच्छन्द विहार है न पड़ोसियों से

नटखटी। जो धर्म संस्थापनाय आया हो वह झूँठ क्यों बोलेगा और जो राजपुत्र हो उसे अन्य शिशुओं के साथ मिलकर दाँव लेने या देने की क्या आवश्यकता है। इस भाँति यद्यपि तुलसी ने भी शिशु राम के वात्सल्यपूर्ण चित्र बनाने का यथासंभव प्रयत्न किया है फिर भी वे चित्र कृष्ण के शैशव के चित्रों के सम्मुख नहीं ठहर पाते, इसका कारण कवि में क्षमता या सामर्थ्य का अभाव नहीं, प्रत्युत उसके नायक का तादृश जीवन है। रामचन्द्र के प्रातरुत्थान का वर्णन देखिये:—

"प्रात भयो तात, वलि, मातु, विधु वदन पर
मदन वारौं कोटि, उठौ प्रानप्यारे।
सूत मागध वन्दि वदत विरुदावलि
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे॥"

× × ×

"करतल गहि ललित चाप भंजन रिपु-निकर दाप
कटितट पट पीत, तून सायक अनियारे।
उपवन मृगया-विहार-कारन गवने कृपाल
जननी मुख निरखि पुण्य पुंज निज विचारे॥"

वही राजकुल की शुष्क मर्यादा का अक्षरशः पालन, सूत-मागधों की विरुदावलि से जगना, फिर राजपुत्रों के साथ मृगया को जाना, इस बनावट में रस को कहाँ स्थान मिल सकता है? तुलसी ने "कृष्ण गीतावली" भी लिखी है, किन्तु उसमें शैशव का व्यापक चित्र अवश्य मिल जाता है, सूर जैसी मधुरता नहीं मिलती। जान पड़ता है सूर के पद सुनकर उसकी रचना हुई है:—

"छाँड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।
गेहूँ सुत देउँगी ढार कालि तेरे, वचै व्याह की वात चलाई।

डरि हैं सासु ससुर चोरी सुनि, हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई।"

अस्तु जहाँ तक वात्सल्य रस का सम्बन्ध है हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि तुलसी की भी पहुँच कम न थी, फिर भी वे सूर की समता न कर पाये हैं—न कर सकते थे, सूर ने उस रस में डूबकर इतने रत्न निकाले हैं कि औरों के हाथ केवल सीपी और घोंघे ही पड़ सके।

अब तुलसी और सूर के शृङ्गार वर्णनों को भी देख लीजिये। प्रेम का जो स्वाभाविक विकास, जो मधुर विस्तार और जैसा करुण अन्त सूर ने दिखाया है, वैसा तुलसी ने नहीं। सूर ने यह दिखलाया है कि प्रेम के अन्तर्गत कितने प्रकार की मनोदशाएँ होती हैं–हो सकती हैं और तुलसी ने यह दिखलाया है कि उन मनोदशाओं पर किस प्रकार संयम किया जा सकता है। सूर प्रेम का वर्णन करते हैं, तुलसी प्रेम को संयमित रखने का। राधा का श्याम से कैसे प्रेम हुआ, यह स्वयं एक मधुर प्रसंग है:—

संयोग शृङ्गार

"खेलन हरि निकसे बृज खोरी।

औचक ही देखी तहँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।

सूर श्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥"

फिर क्या था भोरी राधिका को भी "रसिक सिरोमनि" की बातों में रस मिलने लगा किन्तु उसमें कोई वासना का विचार न था, यशोदा जब उससे पूछती हैं तो वह स्पष्ट कह देती है—उसके मन में पाप नहीं:—

"बार-बार तू ह्याँ जनि आवै।

"मैं कहा करों सुतहि नहिं बरजति, घर तें मोहि बुलावै।

मोसों कहत तोहि बिनु देखे, रहत न मेरो प्रान।

छोह लगत मोकौ सुनि वानी, महरि तिहारी आन ॥"

दूसरी ओर "राम चरित मानस" में जो सीताराम का प्रेम दिखाया है उसमें:—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥

× × ×

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहिं उर आनी। दींहे पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेमवस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥"

सीता में समझ है और संकोच है, राधा में भोलापन है और स्वाभाविकता है, एक प्रेम करती हुई भी छिपाती है, दूसरी प्रेम तो अभी नहीं करती किन्तु जो कुछ उसके मन का भाव है उसे प्रकट करने में डरती नहीं। राधा का प्रेम "लरिकाई का" है जिसमें एक दूसरे को हृदय समर्पित किया जाता है, सीता का प्रेम सामाजिक वन्धन है जिसका हृदय से कोई विशेप सम्वन्ध नहीं। अस्तु संयोग शृंगार की दृष्टि से भी सूर में जो स्वाभाविकता और रमणीयता है वह तुलसी में नहीं मिलती। तुलसी में मानो मर्यादा ही हृदय है और सूर में मानों हृदय ही मर्यादा है, तुलसी सामाजिक नियमों के खोखले अनुशासन के विना एक पद भी नहीं रख सकते, सूर हृदय को ही समाज का शासक मानते हैं।

संयोगावस्था में यदि मन में कोई वासना भी होती है तो वह वियोग की कठिन ताप में पिघल कर प्रेमियों के हृदय को स्वच्छ बना देती है। वियोग हमें आत्म विश्लेपण का एक अवसर देता है और हमें कालुष्य-शुद्धि के लिये प्रेरित करता है। राधा का कृष्ण से वियुक्त

वियोग शृङ्गार

हो जाना एक ऐसा ही अवसर है। गोकुल और मथुरा या कुछ दिनों पीछे गोकुल और द्वारका—अन्तर ही कितना है ? क्या राधा श्याम के पास स्वयं जाकर अपने संतप्त हृदय को थोड़ा सा संतोप न दे सकती थी ? उन्हें सीता-निर्वासन के समान कोई दण्ड तो न मिला था और न उनको लोक-प्रसादन की ही चिन्ता थी, फिर भी वे श्याम की पुरानी बातों का ध्यान करती हुई वहीं बनी रहीं। दिन रात उसी ध्यान में मग्न रहना, सदा प्रिय के सामीप्य का अनुभव करना क्या किसी साधना से कम है ? पुरानी बातों का स्मरण कितनी वेदना लेकर आता है। संध्या होरही है, गायें वन से लौट रही हैं, सूर्य छिप रहा है, ग्वाल-बाल लौट रहे हैं, सभी कुछ पूर्ववत् है किन्तु आज श्याम की मंजुल ध्वनि नहीं सुनाई पड़ रही कितनी व्याकुलता है:—

"एहि बिरियाँ वन तें ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धर बारम्बार बजावते॥"

वेही पुरानी ऋतुएँ आती हैं, वही पुरानी स्मृति, वही पुरानी हम हैं, किन्तु हमारे वे प्रियतम जो मिलने का वचन दे गये थे आज नहीं आये—अभी तक कोई संदेश नहीं भेजा:—

"बरु ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन ! गरजि गगन घन छाए।"

तुलसी के चरितनायक के जीवन में भी वियोग के कई अवसर आये हैं। सीता ने राम को विरह में जो सन्देश हनुमान द्वारा भेजा है उसमें दास्य की गंध आती है माधुर्य की नहीं, अपना प्रेम का सन्देश भेजते हुए भी सीता को ध्यान आ जाता है कि राम भगवान् हैं और सगुण लीला करने के लिए ही पृथ्वी पर आये हैं:—

कहु कपि कब रघुनाथ कृपा करि,
हरिहैं निज वियोग संभव दुख।

× × ×

सगुन रूप, लीला – विलास – सुख,
सुमिरति करति रहति अन्तरगत ॥"

इस संदेश में शिष्टाचार अधिक है, प्रेम कम। प्रेम में हम, अपने प्रेमपात्र से अपना सीधा संबंध जोड़ते हैं, वह अपनी डिगरियों उपाधियों और अपने पद को साथ लेकर हमारे सामने नहीं आता। शिष्टाचार में हम उसे साधारण जनता की आँखों से देखते हैं। सीता यदि राम को विष्णु का अवतार समझती हैं तो अपने को लक्ष्मी का अवतार समझें, फिर वियोग का क्या झगड़ा, ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी प्रधानमंत्री की पत्नी भोजन करने के लिए 'क्या माननीय प्रधानमंत्री महोदय भोजन करके प्रसन्न होंगे" (will the Hon. Prime Minister be pleased to take food ?) इन शब्दों से आमन्त्रित कर रही हो।

अस्तु, यह निश्चय हुआ कि जहाँ तक वात्सल्य रस और शृङ्गार के दोनों पक्षों का संबंध है निश्चय ही सूर तुलसी से बढ़कर हैं; क्योंकि सूर का हृदय निर्द्वन्द्व है, तुलसी का संयत एक में स्वच्छन्दता है, दूसरे में मर्यादा। एक माधुर्य को लेके चले हैं, दूसरे आदर्श को। दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। सूर का क्षेत्र सीमित है, किन्तु उस सीमित क्षेत्र में जितनी सफलता उनको मिली है उतनी तुलसी को भी नहीं मिली।

अब भाषा के प्रश्न को उठाइए। सूर की भाषा ब्रजभाषा है,

वह भी ऐसी ब्रजभाषा जिसका सारा माधुर्य ग्रामीणता पर निर्भर है—उसका मिठास अपना मिठास है। ब्रजभाषा का जितना रूप सूर में निखरा है उतना और किसी कवि में नहीं। संस्कृत की कोमल शब्दावली खोज करने पर ही मिलेगी :—

भाषा की दृष्टि से

"संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करति ही रहियो।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लडैतहि माखन रोटी भावै॥"

"सुत" के अतिरिक्त सभी शब्द ब्रजभाषा के हैं, "संदेश" और "प्रातः" को भी अपने तत्सम रूप नहीं रखा; "टेव", "लडैतहि" "धाय" आदि ब्रजभाषा के शब्द कितने मधुर हैं। इसी प्रकार शृंगार में भी शुद्ध ब्रजभाषा के ही शब्द अधिक रखे गये हैं और प्रसाद गुण का सर्वत्र ध्यान रखा कया है :—

ब्रजभाषा

"हमको सपनेहू में सोच।
मानौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भई निदिया, निमिष न और रही॥"

इस भाषा की तुलना तुलसी की ब्रजभाषा से कीजिए। संस्कृत कोमल कांत पदावली, प्रायः समस्त पदों की झनकार मधुरता का सृजन अवश्य करती हैं किन्तु उसमें विद्वत्ता का भी संदेश है:—

"भूषन बसन विलोकत सिय के।
प्रेम विवस मन, कंप पुलक तनु, नीरजनयन नीर भरे पिय के।"

केवल दो चरणों में ही कम से कम ८ संस्कृत के पद हैं। यहाँ समासों का अभाव है किन्तु अन्यत्र समास भी मिलते हैं:—

"परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहर फिरत विकल भयो धायो।
राम-कथा दलि कौरव-चंदिनि सुनत स्रवत दे भावहि।
सरन-सुखद रवि-कुल-सरोज-रवि राम नृपहिं पहिरावहिं॥"

विनय-पत्रिका में तो कुछ पद पूर्णतः मानो संस्कृत के ही हैं। वस्तुतः जहाँ भगवत्स्तुति पर तुलसीदास जम जाते हैं, वहाँ फिर अर्ध-संस्कृत भाषा ही उनके मुख से निकलती है :—

"उरसि वनमाल सुविशाल, नवमंजरी,
भ्राज श्रीवत्स–लांछन, उदारम्।
परम ब्रह्मण्य, अति धन्य गतमन्युअज,
अमित बल विपुल महिमा अपारम्।"

"विनय पत्रिका" के प्रारंभिक ६१ पदों की भाषा ऐसी ही है।

अस्तु, जहाँ तक ब्रजभाषा का संबंध है सूर की भाषा में वह संस्कृत की कोमलकांत-पदावली का स्वाभाविक माधुर्य नहीं जो

अवधी

तुलसी के विनय के पदों में मिलता है। सूर में माधुरी है अवश्य किन्तु ब्रजभाषा की ग्रामीणता की ओर तुलसी में संस्कृत पदावली की। और फिर सूर की भाषा-दृष्टि केवल ब्रज तक ही सीमित है; तुलसी ने जिस सफलता से ब्रजभाषा को अपनाया है, उसी सफलता से अवधी को भी; इतना ही नहीं उन्होंने अवधी के दो प्रचलित रूपों में से दोनों में ही सफलता प्राप्त की है— वे पूर्वी अवधी में भी उतने ही दक्ष हैं जितने पश्चिमी अवधी में। एक ओर उनका "रामचरितमानस" पश्चिमी संस्कृत मिश्रित अवधी का ज्वलंत आदर्श है, दूसरी ओर उनका "रामलला नहछू" पूर्वी अवधी में जायसी से टक्कर लेता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि तुलसी का भाषाओं पर असाधारण अधिकार था, उनकी बराबरी हिन्दी में और कोई कवि—सूर भी नहीं कर सकता। वे ब्रजभाषा लिखने में सूर के समान और कुछ बातों में उनसे बढ़कर तथा अवधी लिखने में जायसी के समान और कुछ बातों में उनसे बढ़कर थे। वे रसानुकूल विभिन्न रूप और प्रकार की भाषाओं को सफलता पूर्वक प्रयोग में ला सकते थे।

तुलसी ने हिन्दी-साहित्य की उस समय की सभी प्रचलित शैलयों को अपनाकर उनमें अपूर्व सफलता प्राप्त की है। उस

शैलियों की दृष्टि से

समय जो पाँच शैलियाँ प्रचलित थीं उनपर उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ तो हैं हीं, साथ ही "रामलला नहछू" जैसा शुद्ध घरेलू गीतों का ग्रन्थ भी तुलसी ने अपूर्व कौशल से समाप्त किया है। यदि सूर में इन बातों की खोज की जावेगी तो निराशा ही होगी। उनका एक मात्र ग्रन्थ रत्न "सूरसागर" है जिसमें अनेक प्रकार के मधुर और कोमल प्रसंगों को लेकर शुद्ध ब्रजभाषा में अनेक गीतों की सृष्टि की गई है। आपके गीतों में जो प्रवाह है, जो संगीत है वह तुलसी में नहीं मिलता। किन्तु तुलसी का कितने प्रकार की काव्य शैलियों पर अधिकार था, यह भी तो महत्व की बात है। अस्तु, यहाँ भी हमें वही पुरानी बात दुहरानी पड़ती है कि तुलसी का क्षेत्र व्यापक है और सूर का सीमित; तुलसी न केवल अनेक रसों और भावों के ही सफल कलाकार हैं प्रत्युत अनेक शैलियों पर भीं उनका सफल अधिकार है और सूर में यह बात नहीं।

"विनय पत्रिका", "गीतावली", और "कवितावली" को पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति तुलसी के भक्तिपूर्ण मर्यादोपासक हृदय पर

प्रबन्ध निर्वाह

मुग्ध हो सकता है और "विनयपत्रिका" को तुलसी का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित कर सकता है, ठीक इसी प्रकार जैसे कि "सूरसागर" सूरदास का है; किन्तु "रामचरितमानस" को पढ़ने पर एक विशेष गुण के दर्शन होते हैं वह है प्रबन्ध-निर्वाह। इस गुण में तुलसी केवल सूर से ही नहीं, जायसी, केशव आदि से भी बहुत ऊँचे हैं। सूर और कबीर में तो "प्रबन्ध" का प्रश्न ही नहीं आता क्योंकि उन्होंने अपनी प्रतिभा को केवल मुक्तक काव्यों तक ही सीमित रखा। जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने अपने ग्रन्थ मसनवी ढंग पर लिखे हैं, इसलिए उनमें उस चतुरता की आवश्यकता ही नहीं जो भारतीय प्रबन्धकार कवियों में अभीष्ट है। केशव में प्रबन्ध की उच्छृंखलता से ही लोक "रामचंद्रिका" को एक रात की कृति कह दिया करते हैं। अतः किस कथा को कितना और कहाँ तक लिखा जाय या न लिखा जाय, इसका ज्ञान जितना तुलसी को था उतना हिन्दी के न किसी प्राचीन कवि को था न आधुनिक को। एक आलोचक ने तुलसी की कल्पना शक्ति पर विशेषतः प्रकाश डालकर यह बतलाया है कि "रामचरितमानस" में कुछ ऐसी कथाएँ भी हैं जो किसी पुराण में नहीं मिलती (देखिए—पं० रामचन्द्र द्विवेदी कृत "तुलसी-सहित्य-रत्नाकर")। अस्तु, यद्यपि कुछ स्थानों पर वाद-विवाद तथा उपदेश आदि में अधिक पड़ जाने—संस्कृत महाकाव्यों की शैली ही यह थी—पर और उत्तर-कांड में ज्ञान-भक्ति आदि का झमेला आजाने पर भी, यह मानना पड़ता है कि प्रबन्ध निर्वाह गोस्वामीजी का ऐसा गुण है जो हिन्दी के अन्य सभी कवियों से उनको बहुत ऊँचा उठा देता है, सूर में यह वस्तु थी ही नहीं।

थोड़ा-सा सूर और तुलसी के काव्यों का साहित्यिक सौन्दर्य भी देख लिया जावे। अलंकारों की दृष्टि से यदि तुलसी के

साहित्यिक सौन्दर्य

केवल एक ही ग्रन्थ "रामचरित मानस" को ही देखा जावे तो हमको लगभग सभी अलंकारों के सफल प्रयोग मिलेंगे। डा० माताप्रसाद ने अपने "तुलसीदास" में यह दिखलाने का सराहनीय प्रयत्न किया है कि उत्प्रेक्षा, सांगरूपक, प्रतीप, दृष्टान्त तथा काव्यलिंग अलंकारों द्वारा कवि की कल्पना को एक अभीष्ट रूप मिला है (देखिये पृष्ठ ३३६-३५४)। एक दूसरे समालोचक ने आपकी "सुन्दर और असरदार" उपमाओं की बड़ी प्रशंसा की है। (दे० मिश्र-बन्धुविनोद ३७) एक अन्य समालोचक ने आपके ग्रन्थों के अनेक सुन्दर अलंकारों के रमणीय उदाहरण दिखाकर यह सिद्ध किया है कि गोस्वामी जी इस विषय के आचार्य थे (पं० रामचन्द्र द्विवेदी —महाकवि तुलसीदास ४४७)। यहाँ केवल; यही अभीष्ट है कि सांगरूपक, उपमा और उत्प्रेक्षाओं का सफल और मनोहर प्रयोग तो सूर में भी मिलेगा किन्तु अन्य अलंकारों की दृष्टि से सूर हमें निराश कर देते हैं। वस्तुतः तुलसी साहित्य के आचार्य भी थे सूर नहीं।

समालोचकों ने सूर और तुलसी के प्रकृति-चित्रण को भी उठाया है और छोटा-बड़ा बनाने का प्रयत्न किया है। यह तो निश्चय ही है कि सूर में तुलसी की अपेक्षा प्रकृति-चित्रण का क्षेत्र भी

प्रकृति-चित्रण

अधिक था और सफलता भी इसीलिए अधिक मिली है तुलसी का "सब दिन चित्रकूट नीको लागत" प्रकृति का एक सुन्दर दृश्य माना गया है किन्तु प्रकृति से जितना प्रेम सूर की गोपियों को है उतना सीता

को नहीं। विरहिणी गोपियों में प्रकृति की प्रत्येक प्रकार की प्रतिक्रिया है, भले ही केवल प्रलाप-जन्य हो—

(१) "बरु ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि, नंदनन्दन गरजि गगन घन छाये ॥
(२) ऊधौं ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेश करत हो भस्म लगावन आनन ॥
(३) देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं भई विरह-ज्वर कारी ॥"

समालोचकों ने विरहिणी नागमती के शोक में प्रकृति का अपूर्व सहयोग दिखलाया है, किन्तु गोपियों का विरह भी प्रकृति से कम प्रीति नहीं रखता।

इस भांति हम देखते हैं कि जहाँ तक साहित्य के विविध अंगों—भाषा, छंद, अलंकार, प्रकृति-चित्रण, प्रबन्ध निर्वाह, कथोपकथनआदि—का सम्बन्ध है सूरदास तुलसी की बराबरी नहीं कर सकते; रसों की दृष्टि से भी सूर का क्षेत्र सीमित ही है और तुलसी का व्यापक। मर्यादा और आदर्श तो एक मात्र तुलसी में ही मिलते हैं। किन्तु जहाँ तक सूर के सीमित क्षेत्र का सम्बन्ध है तुलसी उसमें सूर के सामने सचमुच फीके पड़ जाते हैं।

संस्कृति और साहित्य

(क) साहित्य समाज का दर्पण है।
(ख) इसलिए संस्कृति का प्रतिबिम्ब है।
(ग) साहित्य का संस्कृति को ऋण।
(घ) संस्कृत साहित्य का उदाहरण।
(ङ) हिन्दी साहित्य का उदाहरण।
(च) हिन्दी पर मुसलिम संस्कृति का प्रभाव।
(छ) हिन्दी पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव।
(ज) उपसंहार।

साहित्य समाज का दर्पण है

यद्यपि साहित्यकार मानवीय मानस की स्थायी सम्पत्ति का सदुपयोग करता हुआ ही अपनी अमर रचना को जन-समाज के सामने रखकर यश तथा अर्थ आदि की प्राप्ति करता है, तो भी यह सम्भव नहीं कि जिस देश तथा जिस काल में उसका जन्म हुआ हो उसकी परिस्थितियों को वह अछूता ही छोड़ दे। उस समाज की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक समस्याओं की थोड़ी सी चर्चा किसी न किसी रूप में वह अवश्य ही कर देता है। यह प्रवृत्ति तो इतनी अधिक देखी गई है कि प्राचीन इतिहास के कथानक को लेकर नाटक या प्रबन्ध-काव्य लिखने वाले कवि भी अपनी कृतियों में अपने वर्त्तमान युग की छाया डाल देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी जैसा उदासीन कवि कोई दूसरा न

होगा, क्योंकि वे तो मानव-चरितों के वर्णन न करने की कठोर शपथ ले चुके थे[१], फिरभी उनके सभी काव्यों में तत्कालीन समाज का चित्र मिलता है, कहीं वे कलियुग की कठिनाइयों का वर्णन करते हैं कहीं वर्णाश्रम धर्म के लोप का चित्रण, कबीर ने भी उस युग का अति मधुर चित्र खींचा है[२]। इस गुण को आलोचक इस शब्दावली में कहा करते हैं कि 'साहित्य समाज का दर्पण है'; यदि समाज का प्रतिबिम्ब आपको देखना हो तो उसके साहित्य में देखिए।

समाज पर उस समय की परिस्थितियों का इतना प्रभाव पड़ता है कि हम प्रति काल तथा प्रति देश के समाज को एक नवीन गुण तथा प्रवृत्ति समूह से सम्पन्न पाते हैं। वैदिक कालका जो समाज था वह रामायणकाल में नहीं रहा, और रामायण काल का जो समाज था वह महाभारत काल में नहीं रहा, यह काल क्रमानुसार समाज परिवर्त्तन है। परन्तु एक ही काल में देश के अनुसार भी परिवर्त्तन हो सकता है; भारतीय समाज चीनी समाज से भिन्न है। इसनियम के अनुसार हम यह देखते हैं कि समाज परिवर्तशील है; सामाजिक दशा में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है। फिर भी

इसलिए संस्कृति का प्रतिबिम्ब है

१—प्राकृत-जन कीने गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥ —तुलसी।

२—अजब जमाना आया रे!
सतवन्ती को गजी न पूजै, वेश्या पहिरे खासा है।
जा घर साधू भीख न पावैं, भडुवा खाइ बतासा है॥
अजब जमाना आया रे॥ —कबीर॥

प्रत्येक देश में, प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण, कुछ ऐसी स्वकीय बातें उत्पन्न हो जाती हैं जिन पर काल का आवरण अधिक रंग नहीं चढ़ा पाता—उस काल-क्रमानुसार परिवर्तित रूप में भी एक मौलिक स्थायी मनोवृत्ति की झलक रहती है—इसी को संस्कृति का सूत्र कह सकते हैं। उदाहरण के लिये दार्शनिकता, कर्म में विश्वास, अतिथि-सत्कार, जन्मतः पारस्परिक भेद तथा विचार-स्वतन्त्रता भारतीय रक्त में सदा से रहे हैं, इनको भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ कह सकते हैं जब साहित्य समाज का दर्पण है तो निश्चय ही उसको संस्कृति की भी प्रतिच्छाया होना चाहिए। सामाजिक विभेद के साथ काल-क्रमानुसार साहित्य में भी विभेद मिलता है परन्तु संस्कृति सनातन तथा शाश्वत होती है इसलिए साहित्य में सांस्कृतिक प्रवृत्तियां भी सनातन तथा शाश्वत होती हैं। हम साहित्य को पढ़कर इतिहास के ज्ञान के बिना शायद न बता पावेंगे कि यह साहित्य किस काल का है, परन्तु यदि हमको किसी देश विशेष की संस्कृति का ज्ञान है तो यह बतला सकते हैं कि यह साहित्य उस देश का है या उस देश से प्रभावित है। अस्तु, समाज के मूल में रहने वाली परिवर्त्तन रहित स्थायी प्रवृत्ति जिसको संस्कृति कहते हैं, उस देश के समग्र साहित्य में प्रतिफलित होती है। स्व० डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने एक लेख "भारतीय साहित्य की विशेषताएँ" में इसी बात का विशद विवेचन किया है। ×

साहित्य तो संस्कृति का ऋणी है ही क्योंकि उसका सारा कलेवर उससे ही अलंकृत होता है, संस्कृति भी साहित्य की

× डा० श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा और साहित्य।

साहित्य का संस्कृति को ऋण

अपेक्षा रखती है। यदि हम किसी देश या जाति का अध्ययन करना चाहें तो उस देश या जाति का साहित्य ही हमारा पथप्रदर्शक होगा; ("साहित्य" शब्द का प्रयोग हम एक विस्तृत अर्थ में वाङ्मय Literature के अर्थ में कर रहे हैं); उससे ही हम उस देश या जाति की स्थायी मानसिक सम्पत्ति का ठीक ठीक तथा यथार्थ रूप देख सकते हैं। अस्तु, यह निश्चय हुआ कि साहित्य ही संस्कृति की रक्षा करता है, वही उसे जीवित रखता है और वही उसका प्रचार करता है। यदि आज हमारे पास वैदिक-साहित्य का अमूल्य कोष न होता तो हम इतने धनवान् न माने जाते, यदि आज वेद, उपनिषद् आदि का अध्ययन न होता तो स्वयं हम भी अपनी प्राचीनता को न समझते और न अन्य देश या जातियाँ हमको संसार का मुकुटमणि मानतीं। यह निस्सन्देह सत्य है कि साहित्य संस्कृति का जितना सुगम प्रचार करता है उतना उपदेश, आर्थिक लोभ या दण्ड आदि नहीं। वैदिक-साहित्य द्वारा हम संसार में सर्वोपरि माने गये, परन्तु पाली-साहित्य द्वारा हमने बौद्ध धर्म का प्रचार किया, आधुनिक युग में भी अनेक अमूल्य ग्रंथों को पढ़कर ही लोग हमारे शिष्य बन गये हैं। बात यह है कि साहित्य में एक ऐसी कान्ता के समान मनोमोहिनी शक्ति होती है कि जो कोई उसको सुनता या पढ़ता है १, वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके वशीभूत हो जाता है। इसीलिए साधारण बुद्धिवालों को भी साहित्य से चतुर्व-

१—सद्यःपरनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

—काव्यप्रकाशः।

र्गफल प्राप्ति होती है, यह सभी आचार्यों ने माना है१। इसीलिए साहित्य को वेदशास्त्रों से भी बढ़कर माना गया है२। अस्तु, साहित्य संस्कृति का उपकारक तथा प्रचारक है; वह उससे पुष्ट होता है और उसका कल्याण करता है।

संस्कृत साहित्य का उदाहरण

उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य को उठाइए, भारतीय संस्कृति के प्रमुख गुणों में से उपनिषदों का ज्ञान, आशावाद ब्रह्म तथा आत्मा की एकता, कर्त्तव्य-निष्ठा आदि सर्वत्र ही पाये जाते हैं। भारत के प्रख्यात कवि कालिदास अपने सभी काव्यों में इन बातों की छाप लगाते हैं। शकुन्तला नाटक को ही उठाइए, अनेक स्थलों पर आशावाद तथा भाग्यवाद के दर्शन होते हैं। दुष्यन्त ज्यों ही आश्रम में घुसता है उसकी दक्षिण भुजा पुलकित हो स्पन्दित होने लगती है, उसका विश्वास है कि यह अवश्य फल देगी, उसको सन्देह होता है कि इस आश्रम में इसका क्या फल होगा, परन्तु शीघ्र ही उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है—"भवितव्यता के सर्वत्र द्वार होते हैं।३"; उसे यह भी विश्वास है कि "जहाँ सन्देह हो वहाँ सज्जनों का अन्तःकरण ही उचितानुचित का विवेक करा देता है४। भारतीयों की सी निवृत्ति अन्यत्र न मिलेगी, वे

१—चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत् स्वरूपं निरूप्यते॥ —साहित्यदर्पण।

२—चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणत-बुद्धीनामेव जायते। परमानन्द-सन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव। —साहित्यदर्पण।

३—भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।

४—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु [illegible] :करणप्रवृत्तयः॥

किसी वस्तु की प्राप्ति को केवल उत्सुकता का प्रशमन ही समझते हैं १, इससे अधिक नहीं।

आशा का वह उपदेश जो पति के भस्म हो जाने पर सती होने को उद्यत रति को मिला है, कितना मर्मस्पर्शी है—"हे सुन्दरि पति से फिर संगम होने वाले इस शरीर की रक्षा करो। ग्रीष्म में सूर्यातप से सूखी हुई नदी फिर भरपूर हो जाती है।" २ संसार में जीवन क्षणिक है, मरना एक स्वाभाविक गुण है, जीवन एक विकृति है, इसलिए जो व्यक्ति क्षणभर भी जीता है वह लाभवान् है ३। उसे इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि अपना जीवन सफल बना सके। नारी जाति के प्रति जो धारणा भारतीय संस्कृति में है वह भी कालिदास में ज्यों की त्यों मिलती है; एक ओर तो वे उसको कामान्धा भी मानते हैं, ४ दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि जितने सत्कर्म होते हैं उनका मूल कारण सत्पत्नियां ही होती हैं :—

"क्रियाणां खलु धर्म्याणां, सत्पत्न्यो मूलकारणम्।"

—कुमारसम्भवम्।

हिन्दी साहित्य का पोषण एक नवीन परिस्थिति में हुआ।

१—औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा।

२—तदिदं परिरक्ष शोभने! भवितव्यप्रियसंगमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी॥

—कुमारसम्भवम्।

३—मरणं प्रकृतिः शरीरिणाँ विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

—रघुवंशम्।

४—अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः॥ —रघुवंशम्।

भारतीय संस्कृति का ह्रास और मुस्लिम संस्कृति की विजय ने एक ऐसा अकर्मण्य विलासी समाज उत्पन्न कर दिया जो अभ्यस्त न होने के कारण सदुपयोग न जानता था। स्त्रियों के विषय में पूजा की जो भावना संस्कृत में मिलती है, उसका तो नाम भी नहीं मिलता १, उलटा उनका तिरस्कार—वह भी बर्बर जातियों की शब्दावली में—तुलसी जैसे महात्मा के काव्य में देखिये :-

"शूद्र, गँवार, ढोल, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥"

हिन्दी साहित्य का उदाहरण नवीन तथा प्राचीन

विद्वान लोग भले ही इन पंक्तियों का कोई दूसरा अर्थ करें २, यह मानना पड़ता है कि मुसलमानों के संसर्ग से भारतीयों की वह पूजा-भावना नष्ट हो चुकी थी। कालिदास का दुष्यन्त तो अपने हृदय के साक्ष्य पर भी शकुन्तला को पर-नारी समझ कर उसकी ओर से अपनी लालायित आँखों को हटा लेता है ३, परन्तु हिन्दी के शृङ्गारी कवि पर-नारी-प्रीति को ही जीवन का सार समझने लगे थे ४, रीतिकाल में तो यह भावना और भी दृढ़ हो गई थी ५, यदि उन्होंने इस बात को बुरा

१—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
(जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।)

२—श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन।

३—अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। —शकुन्तला।

४—अधिक चोरी पर सयँ करिअ, एहे सनेह कसोत। —विद्यापति।

५—जोग हू तें कठिन सँजोग पर-नारी को। —देव।

भी बताया है तो इस लिये कि इसमें बड़ा दुःख है १, इसलिये नहीं कि यह अधर्म—सामाजिक व्यवस्थाबाधक है। आधुनिक युग में शुद्ध भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि कविवर प्रसाद में पुनः वही कालिदास तथा उपनिषदों की भावनाएँ आ जाती हैं, वे रीतिकालीन कवियों से भिन्न, कठिनाइयों को सहकर जीवन को अच्छा बनाने के पक्षपाती हैं:—

(१) हम आत्मवान् हैं,हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्य-भाव का प्रचार आवश्यक है। —(प्रसाद:इरावती)।

(२) अतीत सुखों के लिए शोच क्यों ? अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना हीलूँगा, फिर चिन्ता किस बात की। —(प्रसाद : चन्द्रगुप्त)

(३) कहा आगन्तुक ने सस्नेह, अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाव, जीतते जिसको लड़कर वीर॥
—(कामायनी)

प्रसाद में तो आशावाद तथा राष्ट्रीयता का इतना अधिक उल्लास मिलता है कि हम इनको निस्सन्देह भारतीय संस्कृति का पोषक समझ कर अमर कलाकार कह सकते हैं वे जीवन से भागने वाले नहीं, उसको जीतने वाले हैं:—

"कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो।.........राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते। समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है। वही ईश्वर का

१—सुख थोरो अरु दुख बड़ो, पर-नारी की प्रीति —देव।
२—विष खाइ मरै कि गिरै तें, दगादार तें यारी कभी न करै।
—बोधा।

अवतार है। उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोने वालों को हँसाओ। आर्य्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा।"—(प्रसाद : स्कन्दगुप्त)।

हिन्दी पर मुसलिम संस्कृति का प्रभाव

हिन्दी साहित्य पर मुसलिम संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, वस्तुतः हम इस साहित्य को शुद्ध आर्य-साहित्य नहीं कह सकते, यह "हिन्दुस्तानी" साहित्य है। इसीलिए वीरगाथा काल तथा रीति काल का इतना वृहद् कोश होने पर भी हम उसको स्वस्थ साहित्य नहीं कह सकते। मुसलिम राज्य के समय जो निराशावाद इस साहित्य में भर गया वह आज तक भी भरा हुआ है, संसार में एक उत्तरदायित्वशून्य मतवालापन भी मुसलिम संस्कृति की देन है। भारतीय संस्कृति अमरता तथा नश्वरता को साथ-साथ लेकर चलती है, उसमें न पलायन है, न निराशा है, न कायरता है उसमें विद्यापति की राधा के समान पश्चाताप नहीं है :—

(१) "जामिनी आध अधिक जब होइ।
विगलित लाज उठए तब रोइ॥" —विद्यापति।

(२) कबहुँ रसिक सयँ दरसन होएजनु, दरसन होए जनु नेह।
नेह विछोह जनु काहुक उपजए, विछोह धरए जनु देह॥
सजनी दुर करु ओ परसंग।

और न जायसी के समान प्रेम का "अलौकिक" रूप ही है :—

"औ न नेह काहु सौं कीजै। नांव मिटै, काहे जिउ दीजै॥
पहिले सुख नेहहिं जब जोरा। पुनि होइ कठिन निवाहन ओरा॥"
—जायसी।

अत्युक्ति, प्रेम का वीभत्स चित्र आदि सभी बातें हिन्दी को मुसलमानी संस्कृति से मिलीं और उनके राज्य में इन बातों का खूब बोलबाला रहा, आज भी कुछ चिन्ह रह ही गये हैं।

आधुनिक युग के पराधीन देश में पश्चिमी शासन होने से

हिन्दी साहित्य पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव

उस संस्कृति का तो हमारे साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जहां व्यक्तियों पर व्यक्तिगत प्रभाव पड़ा है वहां संस्कृति का भी सारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। आधुनिक रहस्यवाद या छायावाद ही तो कुछ प्रतिष्ठित समालोचकों के मत में यूरोप से बंगाल होता हुआ ही हिन्दी में आया और अनेक तुकबंदीकारों को एक नया मार्ग दिखा गया। आज कल तो प्रगतिवाद भी हिन्दी को अपना क्षेत्र बनाना चाहता है। सत्य तो यह है कि आज के संसार और १७ वीं शताब्दी के संसार में बड़ा अंतर है। प्राचीन युग में छोटे-छोटे राज्य, छोटी छोटी सीमाएँ थी, स्वयं भारत और चीन की संस्कृति भी पारस्परिक स्वतन्त्र थीं आज सारा संसार एक है, संसार में एक ही व्यापक संस्कृति, एक ही व्यापक समस्या निभाई जा सकती है। यदि कोई राजनीतिक समस्या आ खड़ी होती है तो समग्र विश्व उसमें लिप्त हो जाता है। इसी हेतु आज का संसार विकराल युद्धों का सामना करता है। इन समस्याओं का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता ही है, अतएव जगत् में अनेक दार्शनिक तथा साहित्यिक वाद चल पड़ते हैं। यथार्थवाद के रूप में मानव की नग्न वासनाओं का चित्रण यूरोप के समान भारत में भी हो चुका है। उच्च आदर्शों की हेयता भी इसीलिए दिखलाई जाती है। वैवाहिक सम्बन्ध ने यूरोप तथा भारत की संस्कृतियों के बीच एक नया झगड़ा प्रारम्भ

कर दिया है। यद्यपि प्रसाद, महादेवी वर्मा जैसे कलाकार भारतीयता के पक्ष में ही हैं, फिर भी उनको ये प्रश्न उठाने पड़ते हैं:—

(१) स्त्रियोंका कर्तव्य है कि पाशववृत्तिवाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें...... व्यर्थ स्वतंत्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए।

(प्रसाद : अजातशत्रु)

(ख) जगत की एक जटिल समस्या है—स्त्री पुरुष का स्निग्ध मिलन......इसके लिए समाज ने भिन्न-भिन्न समय और देशों में अनेक प्रकार को परीक्षाएँ कीं, किंतु वह सफल न हो सका। रुचि, मानव प्रकृति इतनी विचित्र है कि वैसा युग्म मिलन विरला होता है। मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा। स्वतंत्र चुनाव, स्वयंवरा यह अब सहायता नहीं दे सकते। इसका उपाय एकमात्र समझौता है, वही तो व्याह है। —(प्रसाद : कंकाल)

इसी भाँति राजनीतिक समस्याओं का प्रतिविम्ब प्रेमचंद में सबसे अधिक मिलता है, वे साम्यवाद के कट्टर पोषक हैं। प्रसाद ने स्वयं कुछ बातों में पश्चिमी संस्कृति की प्रशंसा की है :—

(१) "इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक या भौतिक समता, जिसमें ईश्वर के न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह की सुविधाओं की योजना है।"

—(प्रसाद : तितली)

(२) जीवन को सब तरह की सुविधा मिलनी चाहिए। यह मैं नहीं मानता कि मनुष्य अपने संतोष से ही सम्राट हो जाता है और अभिलाषाओं से दरिद्र।

—(प्रसाद : तितली)

इस भाँति हम यह देखते हैं कि संस्कृति और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है। साहित्य संस्कृति का रक्षक, तथा प्रचारक है वही उसको जीवित रखता है। तथा संस्कृति साहित्य को अनुप्राणित करती है, साहित्य की स्थायी निधि संस्कृति ही है, यही उसकी सामग्री है। यद्यपि राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ बदलती रहती हैं, परन्तु संस्कृति स्थायी होने के कारण साहित्य की चिर सहचरी है।

उपसंहार

भारत की एकता

१—विषय प्रवेश—विभिन्नता संयुक्त देश पर विचारणीय प्रश्न।
२—जाति के आवश्यक अंग।
३—भारत में उन अंगों की प्राप्ति।
(क) एक संस्कृति।
(ख) एक विचार धारा।
(ग) जाति, देश, भाषा पर विचार।
४—इतिहास प्रमाण।
५—वर्तमान युग का आदर्श।

पर्वतराज की हिमाच्छादित अट्टालिकाओं से पञ्चनद, व्रज,

विचारणीय प्रश्न

कोशल, बंग, अंग तथा मद्र देश होता हुआ एक यात्री जब कन्या कुमारी अन्तरीप के सुदूर प्रदेश तक पहुँच पाता है तो उसके मार्ग में भाषा, संस्कृति, वस्त्र, भोजन, प्रथाओं तथा व्यवहार की चित्र-विचित्र सामग्री आती है। यदि यह यात्री विदेशी हुआ तो निश्चय ही भारत को योरुप के समान अनेक जातियों का घर समझता हुआ कहेगा कि भारतवर्ष के विशाल वक्षस्थल पर अनेक जातियां निवास करती हैं—भारत एक जाति (Nation) नहीं, अनेक जातियों का सनातन धाम है और क्यों न ऐसे विचारों का समावेश हो जबकि हमारे यहाँ प्रत्येक प्रान्त की एक एक ही नहीं चार-चार अपनी अलग-अलग भाषाएँ हैं, देश में कम से कम आधी दर्जन लिपियों का प्रचार है। कहीं

के व्यक्ति चावल और पतली दाल खाते हैं, कहीं के गेहूँ और चना, कहीं दाल में भी मीठा डालकर खाया जाता है, कहीं चीनी को केवल सूँघ कर छोड़ देते हैं। कहीं सिर पर पगड़ी है, कहीं साफा, कहीं नंगे सिर की ही प्रथा है। कहीं के नर-नारी गुलाब के पुष्प के समान कान्तिवाले होते हैं, कहीं के कमल के समान नीलिमा या कालिमा धारण किये हुए। वस्तुतः एक बंगाली और एक नेपाली के उत्तरांग को देख कर कौन दोनों को एक कहेगा, इसी भाँति काश्मीर देश की एक रमणी का चित्र यदि दक्षिण के मेघवर्ण पुरुष के साथ खींचा जावे, तो कौन सहृदय विधाता को "असदृशविधायक" न कहेगा। कभी कभी तो आश्चर्य होता है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, आदि की धार्मिक—विचारधारा-जनित भिन्नता पर विचार न कर यदि हम केवल हिन्दुओं की ही प्रथाओं को देखें तो कहीं-कहीं एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता है, कहीं एक स्त्री अनेक पुरुषों से विवाह करती है, कहीं घर का अधिपति पिता है कहीं माता; कहीं विवाह -विच्छेद (Divorce) भी हो जाता है, कहीं अक्षतयोनि बाल-विधवा का भी दूसरा विवाह नहीं हो सकता। क्या यह चित्र-विचित्र मय रूप इस बात का द्योतक नहीं है कि भारत एक जाति (Nation) नहीं, अनेक जातियों का अनुपयुक्त मिश्रण (Mixture) है ? विदेशियों ने इस प्रकार की भावना को इतना अधिक प्रोत्साहित किया कि कुछ विचारक तो सचमुच भारत के टुकड़े करने पर उतारू हो गये, और धर्म को आधार मानकर देश को "हिन्दुस्तान" तथा "पाकिस्तान" दो टुकड़ों में, घोर रक्तपात करते हुए, बाँट दिया।

एक समय वह था जब विद्वान इस बात को मानते थे कि जातीयता (Nationalism) की भावना के लिए (१) समान

जाति के आवश्यक अंग

भाषा, (२) समान धर्म तथा (३) समान संस्कृति के साथ-साथ एक ही भूभाग भी होना चाहिए। किन्तु अब उनके विचार बदल गये हैं। जर्मनी में अधिक संख्या में रहने वाले सारे विश्व में फैले हुए, फिलिस्तीन से निकाले हुए यहूदियों के पास एक भूभाग (Territory) न था, फिर भी वे एक जाति थे। स्वयं स्विट्जरलैंड में ही कई भाषाएं बोली जाती हैं, किन्तु उनकी एक जाति है। अरब के मुसलमान तथा तुर्किस्तान या रूस के मुसलमानों में संस्कृति का भी अन्तर है। इस भाँति हम यह देखते हैं कि इनमें से एक भी गुण जातीयता का द्योतक नहीं। वस्तुतः भाषा तथा धर्म, या भूभाग का महत्त्व तो आजकल के संसार में कम हो गया है। हाँ, संस्कृति का कुछ मूल्य है अवश्य। सबसे प्रमुख बात है विचारधारा। जो लोग यह सोचते हैं कि उनकी अपनी एक जाति (Nation) है, उनकी वस्तुतः एक जाति है। अफ्रीका में रहने वाला ईसाई भारतीय हो सकता है; किन्तु चीन में रहने वाला बौद्ध भारतीय नहीं हो सकता। इसी भाँति भारत निवासी ईसाई या ऐंग्लो-इंडियन अंग्रेज नहीं, प्रत्युत भारतीय ही हैं। भारतीय मुसलमान भले ही एक उलटी लिपि लिखें, भारतीय ही कहलावेंगे।

अब यह देखना चाहिए कि भारत में जातीयता के कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं। भारत, यद्यपि यूरोप के समान ही बृहत् है, फिर भी इसके निवासियों की भावनाएँ सदा से एक-सी रही हैं। यदि विचार-परम्परा ही जातीयता की द्योतक है, जैसा कि वास्तव में है ही, तो अनन्त-

बिभिन्न धर्म वालों में भी एकता

काल का इतिहास यह बतलाता है कि भारत एक जाति है। उत्तर से दक्षिण तक चले जाइए भारत के ग्रामों में सभी निवासी—हिन्दू मुसलमान या ईसाई—जाति-प्रथा को मानते हैं, ईश्वर से डरते हैं, पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, कर्मों के फल पर विश्वास रखते हैं, गंगा को पवित्र नदी मानते हैं, पाप-पुण्य की एक ही नीति है, सत्य-असत्य पर समान विचार है! हो सकता है कि धार्मिक विचार के कारण कोई मुसलमान पुनर्जन्म में विश्वास न करता हो, किन्तु शव का अन्तिम संस्कार करने के अनन्तर आकर बैठे हुए हिन्दू मुसलमानों को हमने यह कहते देखा है, "संसार में कुछ है नहीं, न मालूम कौन कब मर जायगा, आदमी को अपना अगला (Future) जन्म बनाना चाहिए, न कि वह पापकर्मों में पड़कर इस जीवन को बिगाड़े और आगे भी कुछ साथ न ले जावे!" विचार-विभिन्नता मानों विभिन्न भावनाएँ (Different Philosophies) हैं, जो कि प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती हैं किन्तु जातीयता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, हिन्दुओं में भी चार्वाक पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता, बौद्ध नास्तिक होते हैं। सूफी मत को मानने वाले एक मुसलमान की विचार-प्रणाली देखिए:—

> १—रानी पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
> जो रे उवा, सो अथवा, रहा न कोइ संसार॥

---

(१) प्रिय के प्रेम में अनुरक्त वे स्वर्ग चली गईं, उनके जलने (सती होने से) आकाश भी रक्त वर्ण हो गया। जो संसार में उत्पन्न हुआ है, वह नष्ट होता है; कोई भी संसार में स्थिर नहीं रहता।

२—जब पहुँचाय फिरा सब कोऊ।
चला संग गुन-अवगुन दोऊ॥

कहीं-कहीं तो हृदय की इतनी प्रधानता दिखलाई पड़ती है कि लोग धर्म जाति आदि को सांसारिक तथा रुकावट डालने वाला समझकर छोड़ देते हैं, जिस प्रकार मीरा "मेरे तो गिरधर गुपाल, दूसरा न कोई" कहकर अपना परिचय देती है, उसी प्रकार 'ताज' नाम की एक यवन महिला के भी श्याम के प्रति ऐसे ही उद्गार थे:—

"नंद के कुमार, कुरवान ताँड़ी सूरति पै।
ताँड़े नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं॥"+

अस्तु, हम इस तत्त्व पर पहुँचते हैं कि व्यावहारिक जीवन में, अनेक परिस्थितियों के कारण, भले ही धार्मिक भेद हो हृदय की उच्चतम कोटि पर पहुँच कर भारत के सभी हिन्दू-मुसलमान-ईसाई एक ही स्वर से बोलते हैं।

भारतीय विभिन्न मतावलम्बियों के सामाजिक नियम भी एक से ही हैं। भारतीय इतिहास का विद्यार्थी इस बात को जानता

---

(२) जब माता पिता इष्ट-मित्र आदि (चिता पर) पहुँचाकर लौट आये तो केवल गुण तथा अवगुण ही (दूसरे जन्म में) साथ जा सका। (संसार का कोई भी प्रियजन साथ न जा सका।)

+ हे नन्द के कुमार, मैं तुम्हारी छबि पर निछावर हो चुकी हूँ, हे प्यारे मैं तुम्हें पाने के लिए (यदि धर्म परिवर्तन आवश्यक होगा तो) मुसलमान से हिन्दू बनकर रहूँगी।

सामाजिक ढाँचा एक सा ही है

है कि आर्यजाति में वर्णाश्रम प्रथा ही सामाजिक ढाँचा है। पूर्व जन्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले लोग यदि जन्मतः ही एक दूसरे को छोटा-बड़ा मानें तो आश्चर्य ही क्या है। यहाँ का ब्राह्मण बिना पढ़ा-लिखा, पतित, धूर्त होकर भी ब्राह्मण ही है और एक अछूत पवित्र, सच्चरित्र तथा विद्वान् होकर भी अछूत ही है। इसका प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा, सैय्यद, शेख, पठान सभी अलग-अलग हैं, खान-पान एक है किन्तु ऊँच-नीच की भावना वहाँ भी है; यहाँ का सैयद साक्षात् ब्राह्मण है। एक सैयद एक दिन कह रहा था—"पंडितजी, हम और आप तो एक ही हैं, आप ब्राह्मण हैं, हम सैयद हैं।" कितने आश्चर्य की बात है, मत (Religion) का कोई भी विचार नहीं रहा, केवल जाति भेद ही प्रमुख बन गया। इसी भाँति यद्यपि जैन तथा सिक्खों में धार्मिक दृष्टि से भेदभाव नहीं, फिर भी विवाह आदि के अवसर पर कितनी छानबीन होती है, कभी कभी यह जानकर हँसी आती है कि हिन्दू खत्री तथा सिख खत्री में वैवाहिक सम्बन्ध हो जावेगा किन्तु सिख जाट तथा सिख खत्री में नहीं होगा। कुछ लोग जैनों को एक जाति समझा करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यही है कि उनको उनके गोत्रों का, जिसकी महिमा वैवाहिक सम्बन्ध के समय ज्ञात होती है, ज्ञान नहीं। हाँ, यह बात दूसरी है कि कुछ प्रान्तों में प्रान्तीयता की भावना अधिक होती है इसलिये उनमें अन्तःप्रान्तीय विवाह नहीं होते; उदाहरण के लिए एक बंगाली कायस्थ, संयुक्तप्रान्त या पंजाब के कायस्थ से विवाह न करेगी। किन्तु यह अति संकुचित (Too narrow) विचार धारा है। अस्तु, जहाँ तक वृहत् सामाजिक

ढाँचे का सम्बन्ध है, भारत में रहने वाली अनेक जातियाँ एक ही जैसी हैं।

सामाजिक जीवन ही क्यों, भारतीयों का गृहस्थ जीवन भी एक सा ही है। हिन्दू गृहस्थ में पति-पत्नी के अतिरिक्त, अविवाहित कन्यायें, पुत्र, वयोवृद्ध पित्रादि होते हैं; सम्मिलित कुटुम्ब

गृहस्थ जीवन

(Joint family) प्रथा है; प्रायः एक विवाह (Monogamy) की रीति है, बड़े से पूर्व छोटे का विवाह नहीं होना, सब से वयोवृद्ध पुरुष ही घर का अधिपति होता है। सिक्खों, जैनों तथा बौद्धों में तो यह बातें ज्यों की त्यों मिलती ही हैं, मुसलमानों में यही बात दिखाई पड़ेगी। यद्यपि इस्लाम में ४ विवाहों की आज्ञा है सम्मिलित कुटुम्ब का कोई अधिकार नहीं, विवाह आदि में केवल दूध ही बचाया जाता है, फिर भी ग्रामीण मुसलमान एक ही विवाह करता है, घरवालों से मिलकर रहता है, प्रायः दूर ही विवाह करता है। ईसाइयों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना आवश्यक था, किन्तु गृहस्थ को देखकर आप यह नहीं बतला सकते कि यह हिन्दू का घर है या ईसाई का। आपको आश्चर्य न होना चाहिये कि सवर्ण हिन्दू से ईसाई होने वाला व्यक्ति अपनी कन्या असवर्ण हिन्दू या मुसलमान से ईसाई होने वाले को न देगा। कुछ और भी बातें दिखाई पड़ती हैं। यदि ग्रामीण हिन्दू रामायण या वेदग्रन्थों को आदरणीय मानते हैं तो ग्रामीण मुसलमान भी उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं। हमने ग्रामीण मुसलमानों को गंगाजली उठाने में हिचकते देखा है, वे जलभोज भी दिया करते हैं, साधुओं का आदर समान रूप से होता है। आध्यात्मिक शक्ति, सिद्धि, भूत प्रेत स्वप्न, शकुन टोना आदि में सभी का विश्वास

है। इस भाँति हमने यह देख लिया कि सांस्कृतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक जीवन की कोई भी बात भारतीयों के विभाजन का कारण नहीं है।

भारतीयों का सबसे बड़ा पारस्परिक भेद वेष-भूषा का है। पंजाबियों सोप की सलवार, बंगालियों की धोती, यू० पी० वालों का पाजामा तथा मद्रासियों की पतलून एक अद्भुत अपनापन रखते हैं। इतना ही नहीं, बंगाली धोती, महाराष्ट्री धोती तथा बनारसी धोती का भी अपना-अपना अलग ढंग है। एक दर्जी से ज्ञात हुआ कि कम से कम ५ प्रकार के कुर्ते तो वह ही बना लेता है। पाजामे भी अलीगढ़ी, चूड़ीदार, राजपूती तथा ढीला चार तो हम ही जानते हैं। टोपियों की दुनियाँ ही निराली है, एक गोल टोपी आया करती है जिसको पुराने हेडक्लर्क आज भी पहिनते हैं, फिर एक किश्तीनुमा का सिलसिला आया, अब गाँधी टोपी का जोर है—इसमें भी तीन फैशन होते हैं—एक तुर्की टोपी अलग होती है, एक पठानी टोपी अलग। संस्कृत का उष्णीश साफा तथा पगड़ी के अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः वस्त्रादि धर्म

व्यवहारिक सभ्यता में अन्तर संस्कृति में नहीं

या जाति के सूचक नहीं। सभ्यता तथा पेशे से भी सम्बन्ध रखते हैं। यू० पी० में रहने वाले भिन्न-भिन्न लोगों का पेशा उनकी सूरत से बतलाया जा सकता है। नौकर भी जब "सेठजी", "लालाजी", "बाबूजी", "भाईसाहब", "मौलवी", "चौधरी", "पहलवान" आदि शब्दों द्वारा लोगों को पुकारते जाते हैं तो क्या उनके इन शब्दों में कोई सार नहीं होता। और तो और जिस प्रकार मूछों की ठाकुर टाइप, लाला टाइप,

गुण्डा टाइप, फिकर नौट (फिकर not) कर्जन कट तथा क्लीन शेव आदि अनेक फैसन होती हैं, उसी प्रकार चश्मा भी मुन्शी टाइप (काली पतली कमानी वाला गोल छोटा काँच युक्त), लाला टाइप (सोने या धातु का चमकता फ्रेम), बाबू टाइप (प्लास्टिक की कमानी तथा कुछ गोल से भिन्न रूप का शीशा),साहब टाइप (नई डिजाइन का कटा काँच, प्रायः कमानी का अभाव तथा कुछ रंग लिये हुए शीशा), गँवार टाइप (सफेद धातु का काला पड़ जानेवाला फ्रेम तथा मुंशी टाइप शीशा) तथा गरीब टाइप (एक कमानी तथा एक में डोरी बँधी हुई) आदि भेदों वाला है। अस्तु इन बातों से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि भोजन-वस्त्रादि में भिन्नता का होना इस बात का सूचक नहीं कि उन व्यक्तियों की संस्कृति भिन्न है, प्रत्युत वह यह बतलाता है वे लोग समय के साथ चलने में कितने सफल हो पाये हैं। यद्यपि "जयहिन्द", "नमस्ते जी", "गुडमोर्निंग", आदाबरज", "लाल सलाम" तथा "जयभीम" कहने में क्रमशः काँग्रेस, संघ या आर्यसमाज, बाबूपन, हिन्दुस्तानीपन, साम्यवाद, तथा जाटवत्व भी सूचना मिलती है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। भाषा के विषय में भी यही कहा जा सकता है। अंगरेजी में चिट्ठी लिखने से कोई अंग्रेज नहीं होता। हाँ इन सब बातों से उसकी विचारधारा की सूचना मिलती है। संस्कृति भी एक प्रकार की विचारधारा का ही प्रभाव है किन्तु वह स्थायी तथा आंतरिक होती है; व्यवहारिक सभ्यता समय, शिक्षा, संगति आदि के साथ बदलती चलती है। हमको पहिले संस्कृति तथा व्यावहारिक सभ्यता में अन्तर समझना चाहिये, तभी हम यह जान पावेंगे कि वेष-भूषा, खान पान आदि की भिन्नता होते हुए

भी भारत एक जाति (Nation) है।

प्राचीन युग से आज तक के इतिहास का अध्ययन भी इसी विचार को परिपुष्टि करता है। प्राचीन काल में "आर्यावर्त" शब्द से जिस भूभाग का तात्पर्य समझा जाता था, वह सीमित भूमण्डल है, तदन्तर "भारतवर्ष" शब्द से उस भूभाग का

इतिहास प्रमाण

बोध होने लगा जो कि उत्तर में पर्वतराज हिमालय, दक्षिण में कुमारी अन्तरीप, पूर्व में ब्रह्मदेश तथा पश्चिम में सौराष्ट्र तक फैला हुआ है। प्रकृति ने इसको एक स्वाभाविक सीमा प्रदान कर दी और काल ने धीरे-धीरे एक जाति के रूप में ढाल दिया। उस समय से आज तक समस्त भारत में एक राष्ट्र भाषा रही है तथा एक ही शासन प्रमुख रह पाया है। राजपूत काल में देश छिन्न-भिन्न अवश्य होना चाहिये था और हुआ भी वही किन्तु आज फिर सारा देश एक झण्डे के नीचे "जयहिन्द" का नारा लगाता हुआ संसार को कँपा सकता है। रामायण तथा महाभारत के युद्ध किसी भूभाग विशेष के युद्ध न थे प्रत्युत सारे देश ने ही इनमें भाग लिया था, और महाभारत के युद्ध का फल सारे देश को ही भोगना पड़ा। देश में जितने धार्मिक या राजनीतिक आन्दोलन हुए हैं उनका प्रभाव भी व्यापक ही पड़ा है, मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन, जिसके उन्नायक तुलसी, सूर, कबीर, मीरा नानक आदि थे, दक्षिण से चलकर उत्तर में आया और यहीं बस गया। इस युग का आर्यसमाज आन्दोलन यद्यपि उत्तरी भारत में तथा ब्रह्मसमाज पूर्वी भारत में ही अधिक रहा, फिर भी उनका प्रभाव दूसरे भूभागों में न फैला हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। मुसलमान धर्म, ईसाई धर्म आदि के इस युग में, तथा जैन, बौद्ध,

सिख आदि के पुराने, आन्दोलन भी देश-व्यापी थे। सारे देश में एक सामान्य नियमावली बन गई है, एक सामाजिक तथा व्यावहारिक व्यवस्था है जो स्वयं एकता की सूचक है। इतिहास स्वयं बतलाता है कि भारत का भूगोल भी एक ही है।

वर्त्तमान युग में एक नये उत्साह की धारा बह रही है भारतीय कांग्रेस ने जो आन्दोलन चलाया था उसका मूलमन्त्र था कि धर्म भाषा आदि की भिन्नता होते हुए भी भारतीय सब एक हैं; इस संस्था में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी ने काम

वर्त्तमान युग का आदर्श

किया और इसको आगे बढ़ाया। आगे चलकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी "आजाद हिन्द फौज" को भी यही शिक्षा दी कि धर्म का भेद-भाव होते हुए भी खान-पान जाति-पांति वेश-भूषा आदि का कोई अन्तर न होना चाहिये। यद्यपि मुसलमानधर्म का अनावश्यक प्रचार करके मुसलिम-लीग ने कुछ मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति द्वेप का बीज बो दिया, जिसके फलस्वरूप देश में घोर रक्तपात हुआ और देश के टुकड़े हो गये। परन्तु आज भी दोनों प्रदेशों में सभी धर्मवाले रह रहे हैं। धीरे-धीरे लोग अपनी भूलों को समझकर यह सोचने लगते हैं कि वस्तुतः भारत (हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान) एक ही जाति (Nation) है; इसका अपना एक अतीत है, अपना एक इतिहास है, अपनी एक संस्कृति है, अपनी विचारधारा और अपनी भाषा है। यद्यपि इतने बड़े देश में व्यवहारिक सभ्यता का भेद-भाव स्वाभाविक है, फिर भी हमारे देश की एक संस्कृति है और हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारत एक जाति है।

मित्रता और प्रेम

(१) राग और द्वेष.
(२) राग और प्रेम.
(३) प्रेम के कुछ रूप.
(४) काम और प्रणय.
(५) प्रीति और प्रेम.
(६) स्नेह, प्रीति, काम तथा मित्रता.
(७) आयु का प्रभाव.
(८) प्रीति के दो प्रकार.
(९) संस्कारजन्य प्रेम.
१०) संगतिजन्य प्रेम.
(११) पारस्परिक मिश्रण.
(१२) प्रेम क्यों ?
(१३) संगति और प्रेम.
(१४) प्रीति और बाधा.
(१५) आदर्श की यथार्थता.
(१६) गृहस्थ जीवन में.
(१७) उपसंहार.

राग और द्वेष

संसार में जितनी भौतिक या मानसिक वस्तुएँ हैं उनसे जब हमारा परिचय होता है तो या तो वे हमें अच्छी लगतीं हैं या बुरी। अच्छी लगने वाली वस्तुओं के संसर्ग से हमारे मन की जो दशा होती है उसे "राग" कहते हैं और बुरी लगने वाली वस्तुओं के संसर्ग से उत्पन्न मनोदशा को "द्वेष"। ये राग और द्वेष ही हमारे सांसारिक

जीवन के मापदंड हैं। ज्यों ज्यों हमारा सांसारिक जीवन विस्तृत होता चला जावेगा—ज्यों ज्यों हम मायाजाल में फँसते जावेंगे—हमारे जीवन में राग और द्वेष की मात्रा भी बढ़ती जावेगी। इन मनोदशाओं से छुटकारा पाना ही परमहंस का प्रधान लक्षण है यही मुक्ति का मार्ग है।

राग और प्रेम

राग (Attachment) एक सामान्य शब्द है; प्रायः इससे मन की उस दशा का बोध होता है जो निर्विशिष्ट रूप से संसार की वस्तुओं के प्रति हुआ करती है; जैसे ऊषा के सौन्दर्य से सभी के मन में 'राग' उत्पन्न होता है, 'प्रेम' नहीं। प्रेम भी एक प्रकार का राग ही है, किंतु दोनों में अंतर है; एक का प्रयोग संकुचित अर्थ में होता है और दूसरे का व्यापक अथ में।

विशेषोन्मुख राग का ही नाम 'प्रेम' है। संगीत से सभी का मन रंजित—रागयुक्त होता है, किंतु संगीत से प्रेम सभी को नहीं होता। असत्य से द्वेष सभी को होता है किंतु उसको जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न एकाध ही करता है। प्रेम की विरोधिनी भावना को 'घृणा कहते हैं।

प्रेम के कुछ रूप

पात्रभेद से प्रेम के भी अनेक रूप हो सकते हैं। अपने से बड़ों के प्रति जो सामान्य प्रेम होता है उसे "भक्ति", और जो गुणाश्रित प्रेम होता है उसे "श्रद्धा" कहते हैं। छोटों के प्रति हमारा प्रेम "वात्सल्य", और बराबर वालों के प्रति "स्नेह" कहलाता है। "वात्सल्य" "भक्ति" का उत्तर है और "स्नेह" "स्नेह" का बदला, किंतु ये तीनों ही रूप निरपेक्ष भी हो सकते हैं।

एक युवती और एक युवक का प्रेम या तो काम कहलावेगा

काम और प्रणय

या प्रणाय। पहिले में सामाजिक बंधनों का ध्यान न रखते हुए असंयत अनुराग की उच्छृंखलता दिखलाई पड़ती है, और दूसरे में समाजानुमत कर्त्तव्यों का पालन करते हुए आयुजन्य विकारों की तृप्ति। एक में विकारग्रस्त मन का अनुसरण होता है दूसरे में सामाजिक बंधनों से प्रारंभ। पात्रों के अनुसार प्रथम को परकीया-प्रेम और दूसरे को स्वकीया-प्रेम कह सकते हैं। धर्मशास्त्र में प्रणाय का जो स्थान है रतिशास्त्र में काम को भी वही सम्मान प्राप्त है।

ऊपर अनुराग के जितने स्वरूपों का वर्णन आया है सबमें

प्रीति और प्रेम

उत्तर (Response) का होना संभावित कर लिया गया है; किंतु जब हम अचेतन वृक्ष, पुस्तक इत्यादि वस्तुओं से प्रेम करते हैं तो उसमें प्रत्याचरण (Response) नहीं होता और न अर्धचेतन प्राणियों—पशुओं आदि-में ही हमें मनुष्य जैसा प्रत्याचरण मिलता है। ऐसे अनुराग को हम "प्रेम" ही कहना ठीक समझते हैं। प्रेम में प्रत्याचरण की प्रतीक्षा नहीं होती और इसीलिए चलती-फिरती पाषाण-मूर्त्तियों के अनुराग को भी हम कभी-कभी 'प्रेम' कह दिया करते हैं। किंतु "प्रीति" उभयाश्रित होती है; उसमें पारस्परिक व्यवहार पर ध्यान रक्खा जाता है। इसीलिए "प्रीति" में "प्रेम" के समान स्वप्न नहीं होता, उसमें पात्रों का पारस्परिक हृदय भली-भाँति तौल लिया जाता है। प्रायः "प्रेम" और "प्रीति" शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर भी किया जाता है। दो पुरुषों की प्रीति

स्नेह, प्रीति, काम तथा मित्रता

को "मित्रता" और दो नारियों की प्रीति को "बहिनापा" कहते हैं; किंतु एक पुरुष और एक स्त्री की प्रीति को, विशेषतः

युवावस्था के मध्यान्ह में, "काम" ही कहेंगे । ऐसा भी देखा जाता है कि किसी संस्था के दो सदस्य—स्त्री और पुरुष—एक दूसरे के अधिक समीप आ जाते हैं और उनमें "प्रीति" हो जाती है, किंतु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं उसे "मित्रता" के भीतर रखना ठीक न होगा। एक स्त्री और एक पुरुष में स्नेह हो सकता है किंतु उसमें वह गंभीरता नहीं देखी गई जो "प्रीति" का रूप धारणकर "मित्रता" कहला सके। सघन स्नेह का ही नाम प्रीति है और वह पात्रभेद से "मित्रता" और "काम" दोनों में ही बदल सकता है।

अनुराग के इन विभिन्न रूपों का भेद आयु पर भी निर्भर है।

आयु का प्रभाव

जिस अवस्था में समझ कम होती है उसमें "स्नेह" की ही प्रधानता देखी गई है : और आयु अधिक होने पर हमारा अनुराग प्रायः "प्रीति" की श्रेणी का हो जाता है; किंतु किशोरावस्था "मित्रता" तथा "काम" का ही विहारस्थल है। यौवन के उन्माद में आदर्श तथा कल्पना की इतनी धुन होती है कि हम सदा एक स्वप्न के संसार में ही विचरण करते रहते हैं; प्रीति का जितना रोग इस आयु में होता है उतना किसी और काल में नहीं। धीरे-धीरे जीवन की कठोर वास्तविकताओं का अनुभव करते-करते इस प्रीति का क्षेत्र संकुचित तथा इसका आदर्श अकाल्पनिक हो जाया करता है। यही कारण है कि संसार के कवियों ने जितने यौवन के गीत गाये हैं उतने और किसी जीवन के नहीं।

प्रेम और मित्रता के विभिन्न स्वरूपों पर विचार करते हुए

प्रीति के दो प्रकार

हम यह देख चुके हैं कि किस तरह रूप में किस प्रकार के पात्रों की आवश्यकता है, हमने यथासंभव उनके लिंग और उनकी वय का भी ध्यान

रक्खा है; अब हम प्रेम इत्यादि के अनिवार्य उपकरणों की विवेचना करते हैं। जिस प्रकार किसी भी मनुज के व्यक्तित्व के निर्माण में उसके संस्कार और उसकी संगति सबसे महत्वपूर्ण अंग हैउसी प्रकार प्रेम की उत्पत्ति भी संस्कार और संगति द्वारा होती है। या तो हम किसी व्यक्ति के साथ रहते-रहते उससे प्रेम करने लगते हैं या हमारे पूर्व संस्कार ही ऐसे होते हैं कि किसी को एकबार देख ही हम अपना हृदय उसे अर्पित कर देते हैं। प्रथम कोटि का वर्णन बहुत स्वाभाविक है, दूसरे प्रकार का अधिकतर कवियों की सूझ है, इसे परंपरित (Romantic) या दर्शनजन्य (Love, at first sight) भी कहते हैं। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार प्रथम कोटि में साहचर्यजन्य के अतिरिक्त गुण श्रवणजन्य प्रेम भी आता है और द्वितीय कोटि में साक्षात दर्शन,स्वप्न तथा चित्र दर्शन से उत्पन्न प्रेम। राधा का सूर द्वारा वर्णित प्रेम प्रथम श्रेणी का है, राधा कृष्ण की "बालापन की जोरी" हैऔर इसीलिए उसने इस प्रेम को भूलने की विवशता प्रकट की है—"बालापन को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे?" आधुनिक काल में भी "बालापन के साथी छैला" से भूल न जाने की प्रार्थना की जाती है।

दर्शन से उत्पन्न होने वाला "प्रेम" "काम" का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। दृष्टि का आदान-प्रदान, सात्त्विक भावों का उदय; लज्जा और

संस्कार जन्य प्रेम

उत्सुकता का सुन्दर मिश्रण; मौन रहकर भी सब कुछ कह देना। कितनी शीघ्रता और कितनी सफाई से सौदा होता है:—

"सोने की सी बेली अति सुन्दर नवेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
'कविराम' नैनन सुधा की बरखा सी भई,

गई जब दीठि वाके मुखचन्द पहियाँ।
नैकु नीरे जाय करि बातनि लगाई कर
कछु मन पाइ करि बाकी गही वहियाँ।
सैन में चकित भई, गौन में थकित भई,
नैनन में चाह रही बैनन में नहियाँ ॥"

शकुन्तला-दुष्यन्त, मालती-माधव, मलयवती-जीमूतवाहनइत्यादि का प्रेम इसी प्रकार का है। किन्तु कुछ कवियों ने इस प्रेम की उत्पत्ति को अधिक संभव न मानते हुए ही कदाचित् इसमें "जन्मान्तरसंगति" का पुट दिया है। हमारा मन जब पूर्वजन्म की संगति को पहिचानता है तभी किसी की ओर आकर्षित होता है और यह प्रेम उतना ही स्वाभाविक है (अथवा और भी अधिक है) जितना कि साहचर्य से उत्पन्न प्रेम। कालिदास के उपर्युक्त पद का हीभाव तुलसी ने "प्रीति पुरातन लखहि न कोई" वाक्य में रखकर सीता और राम की मर्यादा की रक्षा की है। धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से भले ही पूर्वजन्म का ऐहिक बंधन में थोड़ा-बहुत हाथ रहता हो (If marriages & friendship are created in heaven) किंतु सांसारिक दृष्टि से यह बात प्रायः देखने में नहीं आती। संसार में ऐसे व्यक्ति विरले ही होंगे जिनका मन पूर्वजन्म की संगतिको पहिचानता हो, अधिकतर लोगों की तो आँखें इस जन्म के रूप और यौवन को पहिचानती हैं। अस्तु, इस प्रेम को "शुद्ध प्रेम" कहना भूल है, यदि इसे "काम" कहा जावे तो अधिक अनुपयुक्त नहीं होगा। हाँ, मर्यादा के लिये इसका कर्त्तव्य दो प्रकार का होना चाहिए—तत्कालीन तृप्ति और आजन्म स्नेह—
(तिला एक संगम, जान जिव नेह— विद्यापति)

अब प्रेम और मित्रता के अधिक संभव रूप पर विचार करना चाहिए। जिस प्रकार रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए प्रायः कोई आवश्यक बात न होने पर भी हम केवल मनोरंजन के निमित्त पास बैठे हुये व्यक्ति से परिचित होकर उससे बात करना चाहते हैं, जिस प्रकार रात भर जगने वाले व्यक्ति इधर उधर की बातें केवल इसीलिए कहा करते हैं कि जिससे "मन बहले और रात कटे" उसी भाँति जब दो व्यक्ति एक ही पड़ौस में किराये पर घर लेकर रहते हैं, तो उनमें थोड़ा सा प्रेम अथवा अपनापन उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि जो व्यक्ति हमसे गुण, कर्म, जाति, धर्म अथवा निवास इत्यादि में जितना ही अधिक समीप होगा उतना ही हमारा और उसका सम्बन्ध घनिष्ठ होता जायगा। यह नियम इस बात को भी बतलाता है कि पड़ौस में रहने वाले अनेक व्यक्तियों में से क्यों एक हमारे अधिक समीप हो जाता है और दूसरा कम। बात यह है कि समीपता का आधार जितना ही अधिक सूक्ष्म होगा उतना ही अधिकप्रभावशाली होता है। मानसिक आधार सूक्ष्म तथा भौतिक आधार स्थूल होते हैं। इसी

संगति जन्य प्रेम

हेतु एकही घरमें रहने वाले कुछ व्यक्तियों की छाया भी हमको नहीं सुहाती। यह नियम यह भी समझाता है कि साथियों के गुण-दोषों से ही हम किसी व्यक्ति के गुण-दोष किस प्रकार जान सकते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना भी अनुचित न होगा कि कभी कभी हम अपने साथी से प्रेम नहीं करते, केवल उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन ही किया करते हैं। जिस प्रकार यदि हम दो ही व्यक्ति एक कार्यालय में नौकरी करते हों तो आपस में प्रेम न करते हुए भी हम बाहरी मेल दिखलाकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर लेते हैं। अथवा एक ऐसी स्त्री या पति से विवाह हो जाने पर, जिसे कि

हम प्रेम नहीं करते, हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम एक दूसरे के दिल को न दुखावें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कर्त्तव्य का भार उस व्यक्ति पर अधिक आपड़ता है जो स्वभाव का कोमल तथा विचार शील होता है। गृहस्थ में प्रायः स्त्रियाँ इस कार्य को अपने सिर पर लेती हैं। स्त्रियों में तो निर्वाह का यह गुण इतना अधिक पाया जाता है कि पहिले जिस व्यक्ति को घृणा करतीं थी उससे विवाह हो जाने पर वे उसे सचमुच प्रेम करने लगतीं हैं। स्त्रियों के इसी स्वभाव पर तो जहाँगीर चौंका था:—

"नारी क्या रहस्य है भगवन्!
सोचूँगा घर जाकर।"

(नूरजहाँ)

वास्तव में भारतीय विचारकों ने ही इस रहस्य को समझ पाया है—

"जहँ लगि देह धर्म और नाते।
पिय बिन तियहिं तरनि तें ताते॥"

यही "अर्धाङ्गिनी" का विश्लेषण है।

क्या संगीत में संस्कारों का कुछ भी योग नहीं! यदि जन्मान्तर संगति का कुछ भी प्रभाव नहीं तो ऐसा क्यों है कि हम किसी विशेष नगर के एक विशेष भाग में जाकर रहते हैं और वहां पर साथ-साथ रहने के ही कारण किसी विशेष व्यक्ति से हमारा प्रेम या मित्रता हो जाती है? कृष्ण का जन्म गोकुल में ही क्यों हुआ सिंहलद्वीप पर क्यों नहीं हुआ? अथवा राधा ही हस्तिनापुर में क्यों न उत्पन्न हुई? प्रश्न बड़ा बेढंग-सा प्रतीत होता है किंतु सचमुच

पारस्परिक मिश्रण

बड़ी कठिन समस्या है। यह भी कहा जा सकता है कि कोई बात नहीं राधा और कृष्ण का जन्म यदि कए स्थान पर हो गया तो ठीक है किन्तु कृष्ण को इतना निर्मोही नहीं होना था ; वे कह सकते हैं कि—"होते कहूँ हम नंदलली, तौ तुम्हारी सी नांई नहीं करते "किंतु न तो वे" "नंदलली" हो सकते थे और न उनका जन्म ही अन्यत्र हो सकता था। नियति कहिए या भाग्य, कर्म कहिए अथवा संस्कार कोई न कोई वस्तु ऐसी अवश्य होगी जो ऐहिक संगीत और संबंधों का भी नियमन करती है। अस्तु, जिस प्रकार संस्कारजन्य प्रेम तथा मित्रता में संगति का योग्य रहता है उसी प्रकार संगतिजन्य प्रेम एवं मित्रता में थोड़ा-बहुत योग संस्कारों का भी अवश्य मानना पड़ता है।

प्रेम क्यों ?

प्रेम की परिस्थितियों पर विचार करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि किशोरावस्था में हमारा हृदय किसी को अपना बना लेने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है और जब उसे उचित व्यक्ति नहीं मिलता तो किसी अन्य व्यक्ति को ही; धोखे से उचित पात्र समझकर, अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है इस प्रकार हमारी मित्रता हो जाती है। ठीक यही बात युवावस्था के प्रेम की उत्पत्ति में मानी जाती है :—

"प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह।
और किसको देना है हृदय चीन्हने की न तनिक थी चाह।

The truth is that love, existing already in the soul, seeks out a suitable object, and if it does not find one then creates one.

—Aerial

बेंच डाला था हृदय अमोल आज वह मांग रहा था दाम।
वेदना मिली तुला पर तोल, उसे कामी ने ली बेकाम ॥" (प्रसाद)

वस्तुत: प्रेम करना केवल प्रेम की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को शमन करने का असफल प्रयत्न है जिसके कारण अनेकानेक युवकों का जीवन आज के संसार में निराशा और पश्चात्ताप का पूर्ति बन गया है। किशोरावस्था की मित्रता भी इसीभांति या तो उदासीनता में परिणित हो जाती है या केवल परिचय के रूप में ही रह जाती है।

प्रेम के दोनों रूपों में किसी न किसी प्रकार से संगति का होना आवश्यक ही है। किंतु इस संगति का कार्य क्या है? संगति प्रेम की उत्पत्ति में साधक, प्रेम के विकास में बाधक एवं प्रेम के अवसान में साधक तथा बाधक दोनों ही हो सकती है। साथ-साथ रहते-रहते दो व्यक्तियों में किस प्रकार स्नेह हो जाता है यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं, अब यह देखना है कि इसके अनन्तर क्या होता है। जब तक प्रेम या मित्रता नहीं होती है; तब तक, हमारा परिचय भले ही पुराना हो, हम एक दूसरे के "पास" नहीं आते और पारस्परिक व्यवहार में "शिष्टाचार" का प्रयोग उचित मात्रा में करते हैं। किंतु स्नेह अपनापन का सूचक है और जो अपना हो गया उससे फिर किस बात की शिष्टता? फलत: पारस्परिक आदर-सत्कार, सेवा-सम्मान में भी कमी देखी गई है। यही बात प्रीति के घटने का कारण बन जाती है। जो वस्तु एक बात की उत्पत्ति का कारण बनी वही कुछ समय में अधिक बढ़कर उसका विनाश करने लगती है:—

संगति और प्रेम

"मांगत-मांगत मान घटे,
अरु प्रीति घटे नित के घर जाये।"

अस्तु अनियंत्रित संगति प्रेम का विनाश ही करती है इसमें संदेह नहीं। एक बात और भी है। जब तक हम प्रीति के बंधन में नहीं बँधते तब तक एक-दूसरे के प्रति उत्सुकता और नवीनता का भाव रहता है किंतु जब हम अपने हो जाते हैं तो न उत्सुकता ही रह जाती है और न नवीनता ही; धीरे-धीरे हमारा मन, एकरसता से दबकर परिवर्त्तन की खोज करने लगता है। यहीं प्रीति में गाँठ पड़ जाती है। अस्तु, जिस मित्रता में एक रसता (Monotony) रहेगी, नये-नये परिवर्त्तन न होंगे वह उसी प्रकार सड़ जावेगी जिस प्रकार कि गड्ढों में भरा हुआ वर्षा का पानी। गृहस्थ जीवन के प्रेम में इसी एकरसता का सबसे अधिक डर रहता है, इसीलिए साहित्य में परकीया-प्रेम को स्वकीयां-प्रेम से अधिक तीव्र माना गया है। लार्ड बाइरन ने अपनी एक नववधू से विदा कराते समय कहा था, "तुम अब मेरी पत्नी हो और यही कारण है कि मैं अब तुम्हें घृणा किया करूँगा; हाँ, यदि तुम किसी दूसरे की पत्नी होती तो मैं तुम्हारी चिंता में लीन रहता" २ भारतीय समाज में पत्नी को पीहर भेजने की प्रथा भी कदाचित् इसीलिए है कि न केवल परिवर्त्तन के कारण एक नवीनता और स्फूर्त्ति का वातावरण ही बना रहता है। प्रत्युत वियोग के उपरांत मिलने से हृदय में नई-नई उमंगें उठने लगती हैं; हम यह समझने लगते हैं मानो आज ही गौना होकर आया

"You are now my wife and that is enough for me to hate you Were you some one else's wife, I might perhaps care about you" Byron.

है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज ऐसी कन्या को जिसके कि भाई नहीं है विवाह के लिए छाँटने में क्यों हिचकिचाता है।

प्रीति के तीसरे पहर में संगति बाधक भी हो जाती है और साधक भी। यदि संगति असंयत रही तो प्रीति के विकास में घातक सिद्ध होकर उसका अंत ही कर देती है; फुलझड़ी के समान थोड़ी देर तक अपना प्रकाश दिखलाकर ऐसा प्रेम-प्रदीप सदा को बुझजाता है। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति बहुत ही थोड़े मिलेंगे जो अपने साथी से यह कह सकें कि, "जिसप्रकार हमारी प्रीति अपरिचय से आरंभ हुई थी उसी प्रकार इसका अवसान भी अपरिचय में ही होना चाहिये"। हाँ, जो लोग प्रीति के इस रहस्य को समझते हैं वे संगति को संयत रखते हुए प्रीति को परिपाक तक पहुँचा देते हैं। ऐसों के लिए संगति अंत तक प्रीति की साधक है। वास्तव में प्रीति की चमक उसी समय देखी जाती है जब हम अपनी ही आंखों का प्रयोग करें और भलीभांति, फोटोग्राफर के समान सोच समझकर, अपनी और अपने साथी की दूरी नियत करलें, उससे पास या दूर हो जाने पर हमको अपने प्रीतिपात्र का व्यवहार मनोहर नहीं दिखलाई पड़ सकता।

प्रीति और बाधा

यदि प्रीति के मार्ग में कोई बाधा न दिखलाई पड़े तो वास्तविक आनन्द नहीं आता। परकीया प्रेम का उल्लेख हम कर चुके हैं। वेदों में भी "योषां जारमिव" कहकर इसी प्रेम की तीव्रता को दिखलाया गया ;वैष्णव कवियों ने तो इसी को सर्वस्व माना है—"अधिक चोरी पर सयँकरिय, यहै पिरीत क

स्रोत" (विद्यापति) और इसको परम सफलता का चिन्ह माना है :—

"जोग हूँ तें कठिन संजोग पर नारी को" [देव]।

बात यह है कि यदि पथ में कोई प्रतिबन्ध है तो उसे जीतने का हर्ष दोनों ओर की प्रीति को अधिक आनन्दप्रद बना देता है, यदि प्रतिबन्ध ही नहीं तो विजय किस पर होगी और यदि विजय ही नहीं तो फिर हर्ष किस बात का ? वीरगाथा काल में इसी हेतु संयोग से पूर्व वीररस का स्रोत बहाया जाता था। आधुनिक काल का असफल प्रेम भी इसी बात का सूचक है। जिसको हम प्राप्त नहीं कर सकते उसके गुणों को देखते-देखते हम स्वयं ही हैरान हो जाते हैं। किंतु, यह भी सत्य है कि, यदि उस को हम प्राप्त कर सकें तो भी हमें उसके साथ सुख नहीं मिल सकता, फिर भी हमारा मन नहीं मानता:—

"छलना थी फिर भी मेरा, उसमें विश्वास घना था।
उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं बना था।"

—प्रसाद.

अस्तु, ज्यों ज्यों बाधाएँ अधिक दिखाई पड़ेंगी, हमारा स्वाभिमानी मन अधिकाधिक विद्रोह करेगा और प्रीति में अधि-काधिक माधुर्य आता जावेगा।

आदर्श का यथार्थता

प्रीति का आदर्श स्वरूप कैसा होना चाहिए, इस विषय पर भी अनेक विचार उपस्थित किये जा सकते हैं जिनका सारांश यही होगा कि व्यक्ति गत स्वार्थों का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। मानवीय स्वार्थों में देहगत स्वार्थ ही प्रथम आता है, अतः जिस प्रेम या मित्रता में दोनों पक्षवालों के शरीर कए ही प्राण या जीव से

संचालित हों वह सर्वमान्य है । एक का सुख-दुःख दूसरे का सुख-दुःख है, एक की अनुभूति दूसरे की अनुभूति है, वे दोनों भले ही दूर हों फिर भी पास ही हैं; एक व्यक्ति दूसरे को उसी भाँति "पहिचानता" है, जैसे स्वयं अपने को:—

"कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात ।
अपने जिय सों जानिए, मेरे जिय की बात ।।"

(बिहारी)

यहाँ वाइरलेस सेट (Wireless Set) की भी आवश्यकता नहीं । ऐसी प्रीति में दुराव-छिपाव तो छू तक न जाना चाहिए । किंतु सोचने से जान पड़ता है कि यह प्रीति वास्तव में आदर्श ही है, यह संभव नहीं; कल्पना की वस्तु है, प्रत्यक्ष जीवन का काम नहीं । जो संसार में रहता है उस के प्रतिदिन के जीवन का भी कुछ रहस्य होता है जिसे वह अपने "अभिन्न" को भी नहीं बतला सकता और यदि बतलाता है तो उस संबंध में कभी न कभी खटाई पड़ जावेगी, न प्रीति ही रहेगी न उसका आदर्श । अतः यह निश्चित है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति को न केवल कुछ बातें अपने मित्र से छिपानी चाहिए प्रत्युत वह छिपाता भी है और यदि वह ऐसा नहीं करता तो बुद्धिमानी का काम नहीं करता, भविष्य में धोखा खायगा:—

सबको अपना समझा था, मैं कुछ भी छिपा न पाया ।
मत सरल बनो, पहिचानो, यह जग ने मुझे सिखाया ।।"

—अतीत.

हाँ, "एक प्राण दो देह" वाले इस आदर्श की यदि थोड़ी-बहुत

संभावना हो भी सकती है तो गृहस्थ जीवन में ही। भारतीय आदर्श पति और पत्नी को अविच्छेद्य मानता है। उनके ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों ही आदर्श एक ही हैं। पत्नी तो मरने पर

गृहस्थ जीवनमें

भी उसी पति की ही होती है (प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा)। अस्तु, अभिन्नता की अधिक संभावना मित्रता की अपेक्षा प्रेम में हैं, किंतु वह भी तुलनात्मक रूप से ही। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जो अपने जोड़े में भी छिपाई जाती हैं। वस्तुतः, कुछ बातें मित्र से छिपाकर स्त्री को बतलाई जाती हैं। और कुछ स्त्री से छिपाकर मित्र को, किंतु किसी के भी सामने हम अपना हृदय खोलकर नहीं रख सकते। नारियों के हृदय में तो इतना स्थान होता ही है कि वे अपनी कुछ बातें पति तथा सहेलियों दोनों ही से छिपाती रहें, पुरुष को भी अपनी भूल किसी पर प्रकट नहीं करनी चाहिए:—

"रहिमन निज मन की व्यथा, मन हीं राखो गोय।
सुनि इठलैहै लोग सब, बांटि न लैहैं कोय॥"

—रहीम.

लोगों की इसी प्रवृत्ति के कारण ही तो हम कहते हैं:—

"मेरा था ही कौन, जिसे मैं नाज दिखाता" (मुक्ति)।

संसार की समस्याएँ इतनी विचित्र हैं कि न तो हम यहाँ पर

उपसंहार

किसी से प्रीति ही जोड़ सकते हैं और न किसी को अपना ही समझ सकते हैं। माया जाल में पड़े हुए तुच्छ प्राणियों की परवशता और उनके छोटे-छोटे स्वार्थ, इन्हीं की उलट-फेर में सारा जीवन बीत जाता है। क्या हुआ कि किसी ने इसी देह से स्वर्ग प्राप्त करने का प्रयत्न

भी किया और उसे कुछ ऊँचा उठते ही ऐसा उलटा लटकाया गया कि उसके आँसू भी सूख गये और उसकी जीभ से बहता हुआ रस या विष पृथ्वी पर एक आंतक मात्र छोड़ गया। न तो विश्व अपनी चाल ही बदलेगा और न हमें इस चाल से कभी संतोष ही हो सकेगा। हाँ, इस निराले संसार का एक संदेश अवश्य है कि अंत में सभी को मरना है×। अस्तु, क्या ही अच्छा हो कि हम न किसी से राग ही रक्खें और न द्वेष। अथवा हम किसी की संगति से अपने मन को मैला ही न करें, क्योंकि संगति से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और इसी से उसका अवसान सदा दुःख में ही होता है:—

"मा पियेहि समागच्छि, अप्पियेहि कुदाचनं। १
पियानदस्सनं दुक्खं, अप्पियानञ्च दस्सनं॥" (धम्मपद।२१०)

किंतु यह बुद्धि यदि मनुष्य में पहिले ही आ जाया करे तो क्यों जीवन में इतनी निराशा और इतना पश्चात्ताप हो। अनुभव के बिना हम यह सोच ही नहीं पाते कि यह संसार प्रेम करने का—मित्रता जोड़ने का—स्थल नहीं; यहाँ तो "नरक के कीड़ों से भी बुरी" मनुष्य की दशा है। ठीक है, भूला हुआ यदि संध्या तक घर लौट आवे तो उसे भूला नहीं कहना चाहिए:—

क्योंकि प्रियजनों के अदर्शन से दुःख होता है
और अप्रियजनों के दर्शन से दुःख होता है॥

× मरणान्तं हि जीवितम्। धम्मपद १४८।
One thing is certain that life flies.—omar

१ न तो प्रियजनों से मिलो, न अप्रियजनों से मिलो।

"जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किए दुख होइ।
नगर ढिंढोरा फेरती, प्रीति करो जनि कोइ॥" (मीरा)।

विश्वशान्ति के उपाय

१—संसार के सामने कठिन समस्या और उसका कारण
२—इस युद्ध से पूर्व किये गये शान्ति के उपाय।
३—आज की परिवर्तित परिस्थितियाँ।
४— नवीन उपाय—
५— आध्यात्मिकता
६—(क) गांधीवाद
(ख) भारत का नेतृत्व
७—(क) संयुक्त राष्ट्र संघ
(ख) संयुक्त राष्ट्र-न्यायालय
(८) नवीन योजनाएँ
(९)—वर्त्तमान परिस्थितियों से भविष्य का अनुभव

सभ्यता के वर्तमान युग में विज्ञान का जो चरम विकास हुआ है उसको देखकर हर्ष भी होता है और आश्चर्य भी, आज यद्यपि हम काल को अपनी कलों में जकड़ने में अधिक सफल नहीं हुए हैं फिर भी देश (Space) पर हमने अपना पूर्ण अधिकार कर लिया है; आज से ५० वर्ष पूर्व मरे हुए व्यक्ति का स्वर हम आज भी सुन सकते हैं; बात की बात में कलकत्ते से बम्बई पहुँच सकते हैं; यदि हमारा कोई मित्र हमसे ५०० कोस की दूरी पर रह रहा है तो भी हम उससे अपनी कुर्सी पर बैठकर ही बात कर सकते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि नवीन आविष्कारों

"शान्ति का—कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है" (प्रसाद: स्कन्दगुप्त)। आज सभी विचारवान् व्यक्ति सुख तथा शान्ति की खोज में समय बिता रहे हैं; कहीं पुस्तकें लिखी जाती हैं, कहीं लेख पढ़े जाते हैं, कोई पुरस्कार की घोषणा करता है, कहीं सभाएँ की जाती हैं, किन्तु इसी प्रकार सुख की सम्भावना नहीं "सुख तो धर्म्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुःखमय है ही। संसार के कर्मों को धार्मिकता के साथ करने में सुख की ही सम्भावना है" (प्रसाद:- आँधी)।

जब सन् १९१४ का महायुद्ध समाप्त हो गया तो विजयी जातियों की एक सभा हुई, जिसमें इस बात पर विचार हुआ कि संसार में सुख तथा शान्ति का साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया जाय। एक लीग आफ नेशन्स (League of nations) का जन्म हुआ। इस शान्ति सभा में भी अमरीका का बहुत बड़ा हाथ था। आशा थी कि संसार में अब अशांति न होगी। किन्तु २० वर्ष का समय केवल पारस्परिक तैयारियों में ही बीता; सभी देश मानो थोड़ा आराम करने के लिए ही शान्ति का नाम ले रहे थे। सैनिक शिक्षा प्रारम्भ हो गई, लड़ाई का सामान बनाया जाने लगा। कुछ देशों में शासन-विषयक परिवर्त्तन भी हुए। एक देश को दूसरे से डर था, वह स्वयं अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाता जाता था और दूसरे पर शान्तिभंग करने का आरोप करता था। राज-

इस युद्ध के पूर्व शांति के उपाय

१—One who seeks equity must do equity

२—मित्रादभय—ममित्रादभयं.........

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

नीतिज्ञों ने प्रतिक्षण महायुद्ध की प्रतीक्षा की और २० वर्ष के अनन्तर फिर संसार भयंकर युद्ध ज्वाला में जलने लगा। न शान्ति सभा कुछ कर पाई और न शान्ति के पंच शान्ति रख पाये। जब युद्ध हुआ तो जान पड़ा कि प्रत्येक देश इसके लिए बहुत बड़ी तैयारियाँ कर चुका था।

आज की परिवर्तित परिस्थितियाँ

विचारकों का मत है कि द्वितीय महायुद्ध प्रथम महायुद्ध से अधिक भयंकर था और तृतीय महायुद्ध इस द्वितीय महायुद्ध से भी अधिक विकट होगा। वे यह भी कहते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के अनन्तर पहिले सब देश अपनी क्षति पूर्ति में लगे थे, फिर युद्ध के लिए ललकारने लगे थे, किन्तु इस महायुद्ध के बीतते ही तृतीय महायुद्ध की बातें छिड़ गईं एक ओर रूस और दूसरी ओर अमरीका दूसरी लड़ाई से पूर्व ही महत्वपूर्ण होते जा रहे थे। आज सारा संसार दो शिविरों में बँटा हुआ है एक ओर साम्यवाद है दूसरी ओर पूँजीवाद; एक ओर मजदूर-किसानों को आगे कर उनकी ओट में ताल ठोंकी जा रही है, दूसरी ओर उद्योगीकरण के नये सुधारों की घोषणा औरों को खा जाना चाहती हैं; एक को रूस कहते हैं दूसरे को अमरीका। अङ्गरेजों में अब अपना दम नहीं रहा है। फ्रांस पहिले ही आँसू बहा रहा था। चीन अखाड़ा बन ही चुका था केवल भारत ही एक तीसरी महान् शक्ति रह जाती है, जिससे अभी तो कोई भय या आशा नहीं है किन्तु निकट भविष्य में इसका महत्व बढ़ता जायगा। सौभाग्य से भारत में एक नवीन सूर्य का उदय हो रहा है, जो

अपनी संजीवनी किरणों से मनुष्यों की सोई हुई आत्माओं को जगाकर उनका हाथ पकड़ कर उनको सावधान कर रहा है। अपने प्राचीन रक्त तथा अपनी प्राचीन परम्परा को ध्यानमें रखकर हम आज समग्र संसार को जगाने के लिए तैयार हो गये हैं और शान्ति-संदेश देकर उसका उद्धार चाहते हैं¶।

संसार की विकट परिस्थति को देखकर ही राजनीतिज्ञ अब यह सोचने लगे हैं कि युद्ध को मिटाने के लिए युद्ध की जड़ को मिटाना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र मंडल (United Nations Organization) उसी समय सफलता पूर्वक अपना काम कर सकती है जब सदस्य देश (Member Nations) शांति के उद्देश्य को गम्भीरता पूर्वक समझ कर इसके लिए प्रयत्न करेंगे। आज हमारा विरोध विचार धाराओं (Idealogies) का तो है ही, पारस्परिक भेद-भाव का भी है। आज हम अपने को मानव न समझकर हिन्दुस्तानी, फरांसीसी, अंग्रेज ईसाई, यहूदी, सिख या काले-गोरे के रूप में देखते हैं। यह हमारी समझ में नहीं आता कि ईसाई, हिन्दू तथा

भौतिकता को त्याग-कर आध्यात्मिकता का जीवन

¶ जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम-पुंज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

× × ×

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान॥ १६२

—प्रसाद : स्कन्दगुप्त

चीनी होने पर हम "मानव" ही हैं ; हमारा शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास एक-सा है हम संकुचित कर्त्तव्य के लिए व्यापक कर्त्तव्य (Wider Loyalties) का बलिदान कर देते हैं। हममें महानता ग्रंथि (Superiority Complex) इतनी बढ़ गई है कि दूसरे देशों और दूसरी जातियों को असभ्य पिछड़ी हुई तथा बर्बर कहकर उन पर स्वयं शासन करना चाहते हैं या उनके काले चमड़े को अपने गोरे चमड़े से हीन समझकर उनको अपना दास बना लेना चाहते हैं अथवा हमारे हृदय में हीनता ग्रंथि (Inferiority Complex) इतनी बढ़ गई है कि सदा दूसरे देश के आक्रमण का स्वप्न हमारी आँखों में नाचता रहता है और हम उससे बचने की तैयारी करते रहते हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि कि हमने आत्मा के महत्व को बिलकुल भुला दिया है। हम सांसारिक सम्पत्ति को ही सब कुछ समझने लगे हैं। पश्चिमी संस्कृति का इतना कुप्रभाव हमारे ऊपर पड़ा है कि आज हम 'आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद्-शशि का विलास हो, तब भी दाँत पर दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा* करते हैं, हम यह नहीं जानते कि "हमें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मोंको विचारनेसे भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है‡।" हमारे हृदय में आत्मिक विकास होना चाहिए "हम आत्मवान् हैं हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्यभाव का प्रचार अवश्यक है¶ यदि आत्मा को वेचकर कोई पाप कमाता है तो हमें भी उसके

* प्रसाद : स्कन्दगुप्त।

‡ प्रसाद : अजातशत्रु।

¶ प्रसाद : इरावती।

साथ पतित न हो जाना चाहिए यह मानकर कि "अन्त में विजयी वही होता है जो सत्य को परम ध्येय समझता है[१]" हम संसार को स्वर्ग बना सकते हैं इसमें सन्देह नहीं।

अनादि काल से भगवान् का जो संदेश वेदों में प्रतिध्वनित

गांधीवाद और भारत का नेतृत्व

हो रहा है उसको समय-समय पर साधारण बोलचाल की भाषा में भी कोई न कोई महान आत्मा सोते हुएविश्व को सुना ही दिया करता है; शताब्दियाँ बीत गई गया में एक वृक्ष के नीचे बैठकर जिस ज्ञान की प्राप्ति भगवान बुद्ध को हुई उसीकी ध्वनि आज महात्मा गांधी के शब्दों में विश्व विजय करने निकली है। सत्य और अहिंसा आत्मज्ञान के व्यवहारिक पक्ष हैं। आध्यात्मिक पक्ष में ब्रह्म का क्या रूप है वह सच्चिदानंद है, निराकार है या सरकार है यह प्रत्येक व्यक्ति के जानने की बात नहीं, किन्तु उसे सब जान सकते हैं कि सांसारिक व्यवहार में "सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है[२]", उसको पहिचान कर सभी अपने हो जाते हैं, फिर हिंसा को कोई स्थान नहीं रह जाता। यही सत्य और अहिंसा गांधीवाद का प्राण है। वे पश्चिमी भौतिक सभ्यता में विश्वास न कर पूर्वी निवृतिमूलक प्रवृत्ति मार्ग में विश्वास रखते थे। जीवन को सरल बनाया जावे इसकी जटिलता (Complexity) कम की जावे, केवल नगर जीवन को ही नहीं प्रत्युत ग्राम जीवन को भी अधिक विकसित बनाया जावे, पारस्परिक भेद-भाव को दूर कर हम सबको एक समझें,यही तो महात्मा गांधी का सन्देश है।इन विचार धाराओं को अपनाकर

१—प्रथाद : जनमेजय का नागयज्ञ।

२—"Truth is God and God is truth"—
Mahatma Gandhi.

जीवन संघर्ष (Struggle for Existence) ऐसा विकट रूप धारण न करेगा कि एक व्यक्ति के लिए अनेकों व्यक्तियों के जीवन का कोई भी मूल्य न समझा जावे। जब हम मनुष्य को चना मटर के समान भूनते हैं तो शायद यह भूल जाते हैं कि यह भी हमारे समान मनुष्य हैं, इनके भी हमारा जैसा हृदय, हमारी जैसी आत्मा और हमारी जैसी (भले ही हमसे कम) बुद्धि है। संसार के "तीन-चौथाई व्यक्ति, जो कल आपको मिलेंगे, आपकी सहानुभूति के लिए भूखे और प्यासे हैं१" "यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्दर में विकसित होंगे२।" यह सत्य है कि "निश्चय ही व्यक्तिगत उदाहरणों द्वारा समाज का पुनरुद्धार उस समय तक व्यर्थ है जब तककि विचारशीलता इतना परिवर्तन न करदे कि सुधारक पर पत्थर न फेंके जायें३", फिर भी यह समस्त भारतवासियों का कर्त्तव्य है कि महात्मा गांधी का सन्देश—भारत का सन्देश संसार के कोने-

---

१—"Three-fourths of the peeple you will meet tomorrow are hungering und thirsting for sympathy." Dale carnegie : How to win friends and influence People.

२—प्रसाद : अजात-शत्रु।

३—"It is evidently useless to seek by an individual example to rejuvenate the forms of society until such time as reason shall have brought about so great a change, that the reformer be no longer exposed to stoning."

—Aerial.

कोने में फैलाकर शान्ति की जड़ जमा दें।

इधर अन्तर्राष्ट्रीय (International) प्रयत्नों में भी

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय योजनाएँ

सहयोग देना आवश्यक है। जिस प्रकार संयुक्त राष्ट्रमंडल (United Nation Organisation) एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत है, उसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना (International army) की भी आवश्यकता है। ये तीनों निष्पक्ष हो कर विचार किया करें कि कौन-सा देश दूसरे देश या जाति पर अत्याचार कर रहा है, उसे दण्ड दें और उसको सुधारें। यह तो नकारात्मक (Negative) कार्यवाही रही, कुछ रचनात्मक (Constructive) कार्यवाही भी होनी चाहिए। वर्त्तमान युवक और भावी नेताओं को ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे जब संसार के नायक बनें तो संसार का भला करें, विनाश न करें। संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक मंडल (United Nations Educational Scientific and Cultural Organization U. N-E.S. C. O.) एक ऐसा ही प्रयत्न है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय भाषाएँ, इतिहास, संस्कृति आदि की शिक्षा के लिए एक देश के विद्यार्थी दूसरे देश के विद्यालयों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें। आपसी प्रादेशिक (Regional) झगड़े संयुक्त राष्ट्रमंडल U. N. O.) की छत्रछाया में ही तय हो जाया करें। आर्थिक सहायता के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) इस मंडल की देख-रेख में भी आ जावे। संक्षेप में, सारा विश्व एक

देश के समान बनकर सभी का यथा योग्य पालन करे तभी संसार में शान्ति हो सकती है।

यह जानकर हर्ष होता है कि पिछले दो युद्धोंसे थका हुआ विश्व अब नेतृत्व के लिए भारत की ओर देखने लगा है। पूर्वी जातियाँ अब तक अंधेरे गर्त्त में पड़ी हुई थीं, अब वहाँ पर उषा की सवारी निकल रही है। हमारे प्रधानमंत्री पं०जवाहरलाल नेहरू का दृढ़ निश्चय है कि संयुक्त राष्ट्रीयमंडल (U. N. O.) का कार्य बढ़ाया जावे क्योंकि यही आज के संसार में ऐसी संस्था है जो विश्व को शान्ति दे सकती है। एशिया तथा पिछड़े हुए देशों के उत्थान से एक ऐसा संघ बन जावेगा जो अमरीका तथा रूस की की दुरभिलाषा को पूर्ण न होने देगा। हमको भी "उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिए, जिसको हम विश्व व्यापी नियम बना सकें*।" अर्थात् "जो आचरण अपने प्रतिकूल है उसे दूसरे के प्रति न करें‡।"

यही हमारा व्यक्तिगत सहयोग है। "भगवन्! वह कौनसा दिन होगा जब समस्त विश्वमात्र एक कुटुम्ब बन जावेगा"।¶

---

* "Act only on that maxim which thou canst at the same time will to become a Universal law".

—Kant.

‡ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान समाचरेत्।

¶ प्रसाद : भजातशत्रु।

हिन्दी में भ्रमर-गीत साहित्य

(१) श्रीमद्भागवत की कथा का सूर को उपदेश
(२) "भ्रमर गीत" नाम से अभिप्राय
(३) सूर की विशेपता
(४) नन्ददास की उद्भावना
(५) रीतिकालीन कवियों के हाथ में
(६) आधुनिक काल में भ्रमर-गीत—
(क) सत्य नारायण
(ख) रत्नाकर
(ग) हरिऔध
(घ) मैथिलीशरण गुप्त
(७) उपसंहार

दक्षिण में "पुष्टिमार्ग" का उपदेश देने से 'आचार्य' पदवी प्राप्त करने के अनन्तर जब स्वामी वल्लभाचार्य जी व्रजभूमि के दर्शन को आये तो उन्होंने भक्तों के मुख से एक सहृदय भक्त अंधे सूरदास की बड़ी प्रशंसा सुनी। महाप्रभु ने सूरदास को बुलाकर उनको भगवल्लीला का कोई पद सुनाने की आज्ञा दी। परन्तु सुनकर महाप्रभु को आनंन्द न प्राप्त हुआ, निश्चयही वे सूर की कला पर रीझे और उसको अपना शिष्य बना लिया : किन्तु उन्होंने कहा कि "सूर ह्वै कैं ऐसौ काहे कौं विघियातु है" (तू अंधा तो है ही परन्तु इतना दीन क्यों बनता है)। भगवान् के सदुपदेश से सूर के ज्ञानचक्षु खुले, उन्होंने देखा कि समग्र ब्रह्माण्ड में भगवान् कृष्ण तथा भगवती

श्रीमद् भागवत् की कथा का सूर को उपदेश

राधा का नित्य और अखण्ड रास होता रहता है, परन्तु अभागी गोपियाँ (जीवात्माएँ) उसको प्रायः नहीं देख पाती। धन्य हैं वे गोपियाँ (जीवात्माएँ) जो भगवान् कृष्ण (ब्रह्म) की पुष्टि (कृपा) से उन नित्य (कभी न समाप्त होने वाले) रास को साक्षी रूप से देखती हैं। महाप्रभु की आज्ञा से सूरदास ने श्रीमद् भागवत के इस रहस्य को भाषा में गा-गाकर सुनाया है। इसी प्रसंग के अन्तरित वह प्रसंग भी है जहाँ उद्धव विरह-विह्वला गोपियों को ज्ञान और वैराग्य का उपदेश देते हैं; परन्तु गोपियों के अटूट प्रेम का उन पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं ही ज्ञान की बातें भूल कर उनके भक्त हो जाते हैं। श्रीमद् भागवत का यह सबसे सरस स्थल है, जिसका आगे चलकर हिन्दी में बड़ा प्रचार हुआ, इसी प्रसंग को "भ्रमर-गीत" कहते हैं।

"भ्रमर-गीत" नाम से अभिप्राय

"भ्रमर-गीत" नाम में ही एक भ्रम में डालने वाली विचित्रता है। बात यह है कि जिस समय उद्धव गोपियों को उपदेश देने का प्रयत्न कर रहे थे उस समय कहीं से एक भ्रमर (भौंरा), अपने दुर्भाग्य से, उधर मँडराता हुआ आ निकला। भ्रमर और कृष्ण में बहुत सी बातें समान हैं; दोनों का रंग श्याम (काला) होता है; दोनों सरस फूलों (या रमणियों) पर मँडराते हैं और रस लेकर चलते बनते हैं; भ्रमर की गुंजार तथा श्याम की वंशी—दोनों में मन मोहने की शक्ति होती है; भ्रमर के गले में एक पीली रेखा सी होती है कृष्ण भी पीताम्बर पहिनते थे। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से दोनों में समानता है। इधर उद्धव तथा भ्रमर में भी समानता है। रंग, रूप, वस्त्र आदि तो एक से ही हैं एक और भी बात है स्त्रियों में ऐसी रीति है कि वे अपने संसारमें यह

मानती हैं कि भ्रमर यदि किसी विरहिणी के पास आकर गुनगुनाने लगे तो निश्चय ही उसके प्रिय का सन्देश लाया है। अस्तु, उद्धव तथा भ्रमर दोनों के कर्म में भी समानता हो गई। अतः गोपियाँ चटपटीं तो थीं ही, वे अपने अधिकतर पदों में भ्रमर को सम्बोधन करती हैं और उसके द्वारा कभी उद्धव पर और कभी कृष्ण पर व्यंग्य कसती जाती हैं। कुछ पदों में उन्होंने उद्धव का भी नाम लिया है, परन्तु अधिकतर पदों में "अलि", "मधुप", "मधुकर", या "भँवरा" को ही सम्बोधन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रासंगिक घटना के आधार पर इस मधुर प्रसंग का नाम "भ्रमर-गीत" ही पड़ गया।

अंधे सूरदास ने इस प्रसंग में बड़ी सजीवता भर दी है। कृष्ण जब द्वारका के महाराज बनकर रहने लगे तो भी, यद्यपि वह कुब्जा से भी प्रेम करते हैं, उनको सदा व्रज तथा व्रजवालाओं का ध्यान रहा। अपने एक ज्ञानी और योगी मित्र उद्धव से जब वे उद्धव गोपियों के अनूठे प्रेम की चर्चा किया करते थे, तो उनको, उस प्रेम को व्यर्थ बतलाते हुए ज्ञान का उपदेश दिया करते थे। एक दिन रसिक-शिरोमणी सोचने लगे कि इस अभिमानी पंडित की बुद्धि में कैसे सुधार हो। इतने में उद्धव आते दिखाई दिये। कृष्ण ने थोड़ा विचारा ही था कि उद्धव बोले—क्या सोच रहे हो? कृष्ण गम्भीर हो बोले सोचता यह हूँ कि संसार में प्रेम करना व्यर्थ है। उद्धव मन में प्रसन्न हो बोले—हम तो तुमसे सदा यही कहा करते, आज तुम्हारी समझ में यह बात आई है। कृष्ण ने अपनी लीला रचने के लिए उनको इस बात पर तैयार कर लिया कि वे अपने सदुपदेश गोपियों को भी सुनाकर उनको प्रेम से हटाकर योग में लगा दें। निदान उद्धव का रथ गोकुल

सूर के भ्रमर-गीत की विशेषताएँ

आ पहुँचा। गोपियों ने सोचा—शायद कृष्ण आ गये। ज्यों की त्यों सब दौड़ी परन्तु निराशा ! खैर वह नहीं आये, उनका एक अभिन्न मित्र आया है, वे पीछे आ रहे होंगे, तब तक इसको आगमन का सुखद समाचार सुनाने पहिले भेज दिया है। परन्तु उद्धव का सन्देश सुनकर सब भौचक्की रह गईं।

सूर की गोपियाँ भिन्न भिन्न रुचि की हैं। कोई गरम हो जाती है, कोई रोने लगती है, कोई उद्धव को उलटी-सीधी सुनाने लगती है। अधिकतर ऐसी हैं जो ज्ञानी उद्धव को हृदयहीन मूर्ख समझकर "बनाने" लगती हैं। उनका तर्क सीधासा है। वे चार बातें कहती हैं:—

(१) वे युवावस्था में हैं। युवावस्था में योग कहीं नहीं बतलाया गया।
(२) वे रमणियाँ हैं। योग केवल पुरुषों के ही लिये होता है।
(३) वे अनपढ़ हैं। ज्ञान के लिए पंडित होना आवश्यक है।
(४) वे शूद्रा हैं। ज्ञान के अधिकारी केवल पहिले तीन वर्ण वाले होते हैं।

परन्तु उद्धव में समझ तो थी ही नहीं। वे फिर भी तर्क और

सूरदास की गोपियाँ

उपदेश करते हैं। तब तो मानो गोपियाँ चिढ़ जाती हैं। कोई इतनी उतावली है कि साफ कह उठती है कि यह सन्देश कृष्ण का नहीं। कुब्जा का है। कोई कहती है—उद्धव तुम मार्ग भूल गये हो, कृष्ण ने तुमको यहाँ नहीं भेजा है। कोई इतनी चटपटी है कि उस वेचारे की खिल्ली उड़ाने लगती है:—

"ऊधौ ! भली करी तुम आये।
ये बातें कहि-कहि या दुःख में व्रज के लोग हँसाये।"

(वाह साहब उद्धव, तुम खूब आये ! यहाँ पर हम लोग दुःखी थे परन्तु तुमने इन अटपटी बातों से हम सबको खूब हँसाया !!)

कोई भी इस बात पर विश्वास नहीं करती कि उद्धव का उपदेश कोई मजाक के अतिरिक्त दूसरी बात भी है। एक गोपी कहती है कि जो कुछ उलटी-सीधी बातें तुमने यहाँ कही हैं उनको तो हमने सह लिया है, क्योंकि फिर भी तुम कृष्ण के मित्र हो परन्तु ध्यान रखो कि यदि अन्यत्र ऐसी बातें करोगे (कि 'नंगी रहो, घर-बार छोड़ दो') तो हम नहीं जानते तुम्हारी क्या दशा होगी:—

"हमसौं कही लई सो सहि कैं, जिय गुन लेउ अपाने।
कहँ अबला, कहँ दशा दिगम्बर, समुख करो पहिचाने ॥"

खैर जी छोड़ो इन बातों को, परन्तु यह तो बतलाओ कि जब कृष्ण ने तुमको यहाँ भेजा था तो क्या वे कुछ मुस्कराने लगे थे (अवश्य तुमको मूर्ख बनाया गया है):—

"साँच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हें पठाये, तब नैकहु मुसकाने ॥"

यद्यपि सूर की एक गोपी उद्धव से बातें करते करते रोने भी लगी है, परन्तु अधिकतर ऐसी ही हैं जो उद्धव की गंभीरता पर हँसकर उनकी हँसी ही उड़ाती हैं। केवल राधा ने स्वयं पश्चात्ताप ही करके उनका हृदय से स्वागत किया है। राधा में गंभीरता है अन्य गोपियों में नहीं। राधा अपनी 'चूक' भी मानती हैं, अन्य गोपियाँ नहीं। इस भाँति सूर की गोपियाँ ग्रामीण स्त्रियाँ हैं जिनमें चुहलबाज़ी इतनी अधिक है कि गंभीर तथा ज्ञानी उद्धव

को जमने ही नहीं देतीं। उद्धव पर ब्रज तथा ब्रजभूमि का इतना प्रभाव पड़ा कि वे स्वयं कृष्ण के पास आकर कहने लगे-कि मुझको तुमने प्रेम का पाठ पढ़ने ठीक ही स्थल पर भेजा था।

जिस प्रकार सूर निर्गुण भक्ति का विरोध तो नहीं करते परन्तु सगुण भक्ति को सरल मानकर उसी को अपनाते हैं उसी प्रकार उनकी गोपियाँ यह तो नहीं कहतीं कि ज्ञान और योग का कोई मार्ग ही नहीं, या वह मार्ग बुरा है परन्तु वे स्वयं अपने लिए प्रेम-भक्ति को ही ठीक समझती हैं, ज्ञान भले ही श्रेष्ठतर हो परन्तु वे उसकी अधिकारिणी नहीं, हो सकता है यह उनकी भूल हो परन्तु वे क्या करें उनका मन तो कृष्ण को छोड़ और कुछ सोचता ही नहीं। वे भोली भाली, अपने में सन्तुष्ट रहने वाली हैं। परन्तु नन्ददास की

नन्ददास की नवीन उद्भावना

गोपियां ऐसी नहीं। जिस प्रकार सूर की सरल ब्रजभाषा के स्थान पर नन्ददास संस्कृत की पदावली का प्रयोग ही अपने भ्रमर-गीत में ठीक समझा उसी प्रकार उनकी गोपियां भी 'संस्कृत' हैं। सूर की गोपियों के समान वे अपढ़ नहीं, उद्धव के उपदेश को वे चुपचाप नहीं सुनतीं प्रत्युत पूरी बहस करती हैं। तर्क की जो आवश्यकता सूर ने जान-बूझकर हटादी थी, वह नन्ददास में प्रत्युत हुई। उनकी गोपियाँ इससे कम मतलब रखती हैं कि उनके लिए क्या अधिक उपयुक्त है, उद्धव को इन व्यक्तिगत बातों से प्रयोजन ही क्या, परन्तु वे सदा के लिए यह सिद्ध कर देना चाहती हैं कि ब्रह्म की निर्गुण उपासना सारहीन है; भक्ति का मार्ग ही एक मात्र श्रेष्ठ है, ज्ञान या तप आदि का नहीं। इसभाँति हम यह देखते हैं कि सूर में जो

एक व्यक्तिगत समस्या थी, वह नन्ददास में इस झगड़े का रूप कर गई कि "भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान"। वस्तुतः उस युग का यह भी एक विचारणीय प्रश्न था, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने इस पर बड़े विस्तार से विचार किया है। जनता 'ज्ञानियों' के कपटाचार से भलीभाँति परिचित थी और शायद इसलिए उस दुःखी जीवन में भक्ति ही एकमात्र अवलम्ब था। अस्तु नन्ददास की गोपियाँ विदुषी तो हैं ही, दर्शन का भी पर्याप्त ज्ञान रखती हैं और तर्क में भी निपुण हैं, उनकी तर्कनिपुणता ज्ञानी उद्धव को चकित तथा पराजित कर देती है। उद्धव प्रेम की घनिष्ठता के कारण प्रभावित नहीं होते प्रत्युत उनके पास गोपियों को परास्त करने का कोई उपाय नहीं रहता। अतः यह स्पष्ट है कि सूर में हृदय की ही प्रधानता है, नन्ददास में बुद्धि की; सूर में सरसता है नन्ददास में शुष्कता; सूर में भोलापन है नन्ददास में विद्वता। पाठकों का मन सूर की गोपियों की बात मानने को अपने आप ही तैयार होता है, परन्तु नन्ददास की गोपियाँ हमारी बुद्धि को भले ही पराजित करदें मन को नहीं मोह सकतीं। साहित्यिक दृष्टिकोण से सूर का महत्व अधिक है और दार्शनिक दृष्टिकोण से नन्ददास का।

अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी उसी गीत को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार गाया है, किन्तु किसी में कोई मौलिकता की छाप नहीं है। आगे चलकर रीतिकाल के कवियों का ध्यान भी इस प्रसंग की ओर गया ही, परन्तु एक भिन्न रूप से। वे तो केवल शृंगार रस के कवि थे, इसलिए उनको न तो इस बात से मतलब था कि ज्ञानमार्ग उत्तम है या भक्ति मार्ग, और न वे कृष्ण की लीला को श्रीमद्भागवत के आधार पर गाना ही चाहते थे।

रीतिकालीन कवियों के हाथ में

राधा और कृष्ण के नाम से कविता करने का लाइसेन्स लेकर वे अपने आश्रयदाता राजाओं का निकृष्ट मनोरंजन करने लगे। इनविलासमयी कविताओं में कोई-कोई कवित्त या सवैया ऐसा भी मिल जाता है जिसमें "ऊधौ" या "मधुप" का नाम देखकर हम यह कह सकते हैं कि कवि की दृष्टि में उस समय भ्रमर-गीत का प्रसंग भी था। परन्तु कुछ साधारण विशेषताओं पर ध्यान देना होगा। प्रथम तो यह कि इनकी गोपियों ने कुब्जा के विषय में सर्वातजनोचित व्यंग्य अधिक कसे हैं, अपने प्रेम की पुष्टि कम की है; कि यह वर्णन भी प्रायः नायिकाभेद के अन्तर्गत ही किया गया सा है। दूसरी बात यह है कि प्रेम का प्रतिपादन भी विभिन्न प्रकार से यहाँ अधिक हुआ है। प्रायः प्रेम की पीर यहाँ सूर की अपेक्षा अधिक मिलती है; और इनकी गोपियाँ शुद्ध नायिका बन भोगविलास तथा केलिक्रीड़ा की ही इच्छुक हैं, उनमें न पुरानी स्मृति है, न तर्क, न मन की परवशता का दृष्य और न अनन्यता के साथ उपालम्भहीनता। उदाहरण के लिए यदि हम दास जी की कविता को देखते हैं, तो कुछ प्रेम दिखाई भी पड़ता है:—

"ऊधो तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबर कान्ह बसै इक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरी-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥"

परन्तु तोप-निधि की कविता में तो दूसरे ही प्रकार का व्यंग्य दिखलाई पड़ता है। गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य नहीं कसतीं, प्रत्युत मानो उसे "दूती" (दूत) समझती हुई ऐसी बातें कहती हैं:—

"एक कहै हँसि ऊधवजू ! ब्रज की जुवती तजि चन्द्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू ! एक प्रान प्रिया लहि कंस की दासी।
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा ! मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबियात जबै ढिंग पौढ़ति है कुबजा कछुवा सी।"

देखिए सक्ति को कैसा शृंगार का भद्दा रंग दे दिया गया है, गोपियाँ मानो केवल विलासिनी तथा कामुका हैं इसीलिए ज्ञान और योग की बातें नहीं सुनना चाहतीं।

आधुनिक काल यद्यपि गद्य का युग है फिर भी इसमें वह पुरानी चलती हुई धारा दिखाई पड़ती है। सुविधा के लिये, हम जिन चार कवियों पर विचार करेंगे उनको दो वर्गों में रख लेते हैं।

(१) ब्रजभाषा वर्ग
(२) खड़ी बोली वर्ग

ब्रजभाषा में भ्रमर-गीत पर लिखने वाले इस युग के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न हैं। "भ्रमर-दूत" में यशोदा ने द्वारका में जाकर बसे हुए कृष्ण के पास संदेश भेजा है। इसमें कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि इसमें सूर के समान "पद" नहीं प्रत्युत नंददास के से टेक या पूँछ वाले गीत हैं। दूसरी बात यह है कि इसकी भाषा में मधुरता साहित्यिकता की है। ग्रामीणता की नहीं। परन्तु सबसे महत्त्व पूर्ण बात तो यह है कि इस गीत में पुराना रंग बिलकुल बदल गया: न ज्ञान और भक्ति का झगड़ा रहा न योग और भोग का, एक नई समस्या आ गई है 'ग्रामीण-जीवन' और 'नागरिक जीवन' की। यशोदा कहती हैं कि उस नगर में खान-पान की वे सुविधाएँ न मिलती होंगी जो यहाँ ग्रामों

स्व० सत्यनारायण "कविरत्न" का "भ्रमर-दूत"

में मिल जाती हैं; कोई हृदय से प्रेम न करता होगा; नगरों में तो केवल "इतराना" तथा दिखावा ही मिलता है वास्तविक स्नेह या सहानुभूति नहीं। अंत में देश दशा का प्रसंग भी बड़ी मार्मिकता को लेकर आया है और आत्मकथा के भी कुछ छींटे मिल जाते हैं। रस, यदि कोई है तो वात्सल्य और करुण :—

"नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनंद न देख्यो जात यहाँ कहुँ।
बढ्यो यथेच्छाचार कृत जहँ देखौं वहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन-दिन आर्यसमाज ॥
दिनन के फेर सों ॥"

नगर निवासियों की आधुनिक सभ्यता पर कवि ने बड़े सुन्दर छींटे कसे हैं। वह उनके स्वभाव तथा व्यवहार के साथ ही साथ उनके वस्त्राभरणों पर भी चलती हुई बातें कह गया है:—

"अब की गोपी मदभरी, अधर चलैं डिगुलाँय।
चारि दिना की छोकरी, इतनी गई इतरायँ ॥"

आजकल की गोपी (छोकरियाँ) बड़ी मदमाती हैं, वे झूमती हुई सी चलते में धरती पर पैर नहीं रखतीं (ऊँची एड़ी के सेंडलों के कारण) कल की बालिकाएँ होकर भी इतनी इतराती है !!)

इसभाँति कविरत्नजी ने तो भ्रमर-गीत की सारी बातें ही बदलदीं, केवल बाहरी आकार तो वही पुराना है, शेष सभी बातें नया रंग लाती हैं। यहाँ सन्देश कृष्ण नहीं भेजते, यशोदा भेजती हैं; यहाँ विरह नहीं है, वास्तविक कठिनाई है; यहाँ सन्देश शृंगार का का नहीं वात्सल्य का है; यहाँ उद्धव नहीं हैं। नवीन तथा प्राचीन सभ्यता का झगड़ा तथा देशभक्तिका पुट इसको पूर्णतः आधुनिक बना देता है। परन्तु रत्नाकरजी ने फिर वही पुरानी ध्वनि उठाई।

अपने "उद्धव-शतक" में उन्होंने प्रेम के उसी प्रसंग को उठाया है जो रीतिकाल में चल चुका था। पद तथा गीत न होकर रीतिकालीन कवियों के समान कवित्त ही है उनके सन्देश में। उजड़े हुए रीतिकालीन उपवन का एक बचा हुआ अंकुर कालान्तर में "रत्नाकर" के नाम से प्रकट हुआ, उसमें उन सभी पादपों के पत्तों की खाद लगी थी। "आपकी गोपियाँ न तो सूर की गोपियों के समान नितान्त सरला (ग्रामीण) हैं न नंददास की गोपियों के समान तर्कनिपुण और न कविरत्न की गोपियों के समान नागरिक जीवन से डरने वाली, वे तो प्रेम की भिखारिणी हैं"—उनकी आँखों में आँसू हैं, मन में ध्यान और कलेजे पर हाथ है:-

स्व० जगन्नाथ दास रत्नाकर" का "उद्धवशतक"

"ऊधौ कहौ सूधौ सौ सँदेश पहिले तौ यह,
प्यारे परदेश तैं कबैं धौं पग पारि हैं।
'कहै रतनाकर' तिहारी परि बातनि में,
मीड़ि हम कब लौं करेजो, मन मारि हैं॥"

यदि तुम हमें मारना चाहते हो—हमार साँस रोकना चाहते हो—तो केवल योग ही तो इसका उपाय नहीं, और भी इससे अच्छे साधन हो सकते हैं:—

"और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ,
साँस रोकिबे को कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है, अटारी है उत्तंग अति,
जमुना-तरंग है, तिहारो सतसंग है॥"

इस भाँति हम यह देखते हैं कि "रत्नाकर" जी ने अपने इस काव्य में भ्रमर गीत का जो रूप लिया है उसमें पिछले सभी रूपों का मिश्रण है। उन्होंने रीतिकाल से छंद तथा अलंकार, नन्ददास

से थोड़ी सी तर्क तथा सूर से उक्ति वैचित्र्य लेकर एक नवीन रूप दे डाला। कविरत्न का इनपर कोई प्रभाव नहीं मिलता क्योंकि ये काव्यशैली में प्राचीनता के ही भक्त थे।

खड़ी बोली में यह प्रसंग ज्यों का त्यों न आ पाया। परन्तु दूतकाव्य के रूप में इसके दर्शन हो जाते हैं। इसका रूप तो सत्यनारायणजी ने ही बदल दिया था। अस्तु, स्व.पं०अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने अपने "प्रिय-प्रवास" में विरहिणी गोपियों का संदेश भिजवाया है, परन्तु रीतिकालीन प्रणाली पर ही। उनकी राधा विरहिणी तो है, परन्तु हत्या कर डालनेवाली नहीं। वह कृष्ण को प्रेम करती है और यहभी जानती है कि कृष्ण संसार की सेवा के लिए ही द्वारका चले गये हैं, अस्तु "सच्ची प्रेयसी" होने के नाते वह स्वयं भी लोक की सेवा में लग जाती है। उसका जीवन गंभीरता तथा तप का जीवन है, हाय-हाय का नहीं। उसने जो संदेश भेजा है, वह पवन आदि द्वारा भेजा है उसमें योग तथा तप का वह उद्धववाला रूप नहीं मिलता। वस्तुतः कथा की दृष्टि से यहाँ रीतिकालीन परंपरा का ही पालन है।

पं अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" का "प्रियप्रवास"

मैथिलीशरण गुप्त.

राष्ट्रकवि डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपने "द्वापर" में इस प्रसंग को चलाया है और उद्धव द्वारा गोपियों को उपदेश दिलवाया है। उनकी गोपियाँ प्रेम विह्वला, या तर्कनिपुणा हैं या नहीं बात करने में बड़ी चतुर हैं; उनके प्रत्येक वाक्य में साहित्यिकता भरी हुई है और वे लक्षणा एवं व्यंजना से अधिक काम लेती हैं, अभिधा से कम।

अस्तु, भ्रमरगीत की वह पुरानी कथा श्रीमद्भागवत से चलकर हिन्दी में आई और व्रज भाषा तथा खड़ी बोली दोनों में फैली। समय-समय पर कवियों की रुचि तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण उसके कई रूप दिखलाई पड़ते हैं।

उपसंहार

उसमें भावपक्ष का भी पूर्ण विकास हो पाया है और कलापक्ष का भी। भिन्न भिन्न सहयोगियों का इस कथा में अपना अपना अलग महत्त्व है। परन्तु जो माधुरी सूर की प्रारंभिक कविता में मिलती है वह अन्यत्र नहीं मिलती, उसमें हृदय को स्पर्श करने की सब से अधिक शक्ति इसी सरस सागर के बीच ही उत्पन्न हुई है।

गांधीवाद तथा साम्यवाद

१—वर्तमान युग में राजनीतिक अशान्ति और उसका कारण—भौतिक सभ्यता की असमता ।

२—उस अशान्ति को दूर करने के दो उपाय—गांधीवाद तथा साम्यवाद ।

३—गांधीवाद की विशेष विचार-धारा—

(क) आत्मिक उन्नति ।

(ख) ऊँचे आदर्श (Higher Values)

(ग) जातीय (National) धार्मिक तथा सांस्कृतिक समानता ।

(घ) युद्ध के शस्त्र—सत्य व अहिंसा ।

(ङ) आत्मावलम्ब ।

४—साम्यवाद की प्रमुख विचारधारा—

(क) भौतिकता ।

(ख) साधारण आदर्श ।

(ग) वर्तमान युग के अनुसार आवश्यक परिवर्तन ।

(घ) हिंसा तथा रक्तपात ।

(ङ) पारस्परिक अवलम्ब ।

५—साम्यवाद क्यों आवश्यक है ?

६—भारत में साम्यवाद सफल हो सकता है ?

७—गान्धीवाद की कमी—उसकी सफलता ।

८—संसार की आवश्यकता और भारत का कर्त्तव्य ।

समय के परिवर्तन के साथ-साथ संसार में इतना अधिक परिवर्तन हो रहा है कि कभी-कभी जब हम क्षण भर एकान्त में बैठकर विचार करते हैं तो आश्चर्यनिमग्न हो जाते हैं; भारत के सनातनी (Orthodox) मस्तिष्क के लिए यह परिवर्तन एक आशंका, अविश्वास और प्रायः निराशा का कारण बन जाता है; प्रकृति की अनेक लीलाएँ हमने पहिले भी देखी थीं और आनन्द-विभोर होकर उसके सौन्दर्य का मनोहर गीत गाया था; किन्तु आज का कवि कितना व्याकुल और कितना चिन्तित दिखलाई पड़ता है:—

आज नहीं जो कल था,
गिरि सा अडिग आज मेरा मन,
जो कल तक चंचल था ॥

इस व्याकुलता का कारण यह नहीं कि कवि को उस नवीनता से प्रेम नहीं, प्रत्युत यह है कि उसमें वह एक अन्धकारमय भविष्य का अट्टहास देखता है ? आज संसार में सभी कुछ अव्यवस्थित है; हमारे विचार अनिश्चित हैं, हमारा सामाजिक संगठन अव्यवस्थित है; हमारा राजनीतिक संगठन अव्यवस्थित है; हम मानो एक अनिश्चय के सागर में उछलते डूबते चले जा रहे हैं। हम नवीन मार्ग खोजते हैं तथा अपनी परिस्थितियों के अधिक अनुकूल सत्य की खोज करते हैं। हम एक दूसरे से प्रश्न करते हैं, वाद-विवाद करते हैं, झगड़ते हैं और अनेक "वाद" तथा मत खोज निकालते हैं। × यह है इस

संसार की परिस्थिति और शान्ति की समस्या

× So we search for new ways, new aspects of the truth more in harmony with our enviro-

युग की अशान्ति। भौतिक सभ्यता (Materialistic Culture) इतनी व्यापक होती जा रही है, कि आत्मिक तथा मानसिक आदर्शों (Values) का लोप ही होता जाता है। एक ओर वैभव-विलास तो दूसरी ओर दुखियों का आर्त्तनाद; किसी के पास स्फटिक के रँगीले भवन, तो किसी के पास एक फूँस की झोंपड़ी भी नहीं है; कोई वायुयानों में घूमता है, किसी को बैलगाड़ी भी नहीं मिल सकती। क्या दोनों ही मनुष्य हैं? वस्तुतः क्या दोनों का समान मूल्य है? यह सत्य है कि दो व्यक्तियों में योग्यता का अन्तर होता है, किन्तु उनका मूल्य तो देश में समान ही है।‡ फिर इतनी असमता क्यों? इसी प्रश्न ने आधुनिक राजनीति को इतना जटिल बना रखा है। भौतिक सभ्यता का विस्तार इस प्रश्न का कोई हल भी नहीं दे सकता। पिछले दो युद्धों से हमको सन्तोष न हुआ और हम तीसरे युद्ध की तैयारी करने लगे। आज संसार का एक बड़ा भाग शान्ति चाहता है, किन्तु शान्ति है कहाँ?

साम्यवाद तथा गांधीवाद के दो भिन्न मार्ग

पूर्व तथा पश्चिम ने इस प्रश्न का उत्तर दो भिन्न-भिन्न रूपों में दिया है। भौतिक सभ्यता में अग्रसर सांसारिक सुख भोगविलास आदि को सर्वस्व समझने वाला विज्ञानविशारद पश्चिम यह कहता है कि संसार में

---

nment. And we question each other and debate and quarrel and evolve any number of "isms" and philosophies.—*Nehru :Glimpses of World History.*

‡Men were evidently not equal in capacity but they were equal in value.— *A. Lincoln.*

समता उत्पन्न करने के लिए सांसारिक सुख भोग के आधार पर उत्पन्न विषमता को मिटा देना चाहिए, सारी संपत्ति देश की है, सारी जनता देश की है; प्रत्येक को उसकी क्षमता और योग्यता के अनुसार भोजन, वस्त्र, शिक्षा, आवास, चिकित्सात्मक सहायता आदि राज्य की ओर से मिलना चाहिए; उसके बदले में राज्य प्रत्येक व्यक्ति से यथायोग्य काम करावे; यह कट्टर देशीयता है जिसके सामने व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं; रूस इसी विचारधारा का केन्द्र है। पूर्व का दृष्टिकोण इससे भिन्न है; पूर्व में आत्मिक (Spiritual) तथा मानसिक (Intellectual) आदर्शों को ठुकराया नहीं जा सकता, यहाँ कुछ बातें पूर्वजन्मसे भी सम्बन्ध रखती हैं और कुछ पाशवता से भिन्न मानवता से भी; यह इच्छाओं का दमन, सामान्य जीवन, आत्म-निर्भरता, त्याग आदिकी शिक्षा द्वारा व्यक्ति के चरित्र को ऊँचा उठाना चाहता है, आत्मा की शक्ति को सांसारिक सभी शक्तियों से बलवती समझता है; शान्ति के द्वारा शान्ति चाहता है; अशान्ति के द्वारा शान्ति नहीं। इसको गांधीवाद कह सकते हैं, मनुष्य की मनुष्यता को विकसित कर उसे संसार की सेवा में लगाना इसका मूल मंत्र है।

गांधीवाद की प्रमुख विचारधारा

महात्मा गांधी ने भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक कार्य करने के लिए जिस सिद्धान्त को ग्रहण किया, उसका वैज्ञानिक रूप गांधीवाद कहा जा सकता है। गांधीवाद यह मानता है कि संसार की सत्ता केवल भौतिक ही न होकर आध्यात्मिक है, आत्मा की शक्ति इतनी प्रबल है कि इसके सामने सब को झुकना पड़ेगा, अन्त जहाँ सत्य है वहाँ सर्वदा विजय होगी। क्योंकि सत्य ही स्वयं ईश्वर है; अपने को आध्यात्मिक दृष्टिकोण

से शक्तिशाली बनाने के लिए मनुष्य को अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य सत्य, शम, दम आदि नियमों का यथावत् पालन करना चाहिए; आत्मिक शक्ति के विकास में काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि बाधक हैं; आत्म-विजय या इन्द्रिय-विजय ही बाह्य विजय का मूल है। इस भाँति सारा संसार एक कुटुम्ब बन जाता है, सभी धर्म अच्छे हैं, सभी जातियाँ एक-सी हैं, सभी काम एकसे हैं—कोई ऊँच-नीच नहीं; हमें चाहिए कि जिस धर्म, जाति या देश में उत्पन्न हुए हैं, उनके नियमों का पालन करते हुए शेष संसार से प्रेम उत्पन्न करें। यदि कोई व्यक्ति कुप्रवृत्तियों वाला है तो हमें उससे घृणा न करनी चाहिए, प्रत्युत उसकी उस प्रवृत्ति से ही घृणा करनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति या जाति में दुर्गुण है—जैसे अंग्रेजों में भारत को दास बनाये रखने का दुर्गुण था—तो हमको उससे शत्रुता न समझनी चाहिए, प्रत्युत हममें इतनी आत्मिक शक्ति हो कि हम उससे उस बुरे स्वभाव को बदल सकें इसी भाँति हिन्दू तथा मुसलमान या मुसलमान तथा यहूदियों के झगड़े मूर्खताजन्य हैं; कोई भी धर्म पारस्परिक द्वेषभाव नहीं सिखाता; प्रत्येक मुसलमान को "अच्छा मुसलमान" तथा प्रत्येक हिन्दू को "अच्छा हिन्दू" बनना चाहिए, न कि कोई भी अपना धर्म परिवर्तन कर दे। गोरे काले का भेद एक भूल है, दोनों ही ईश्वर ने उत्पन्न किये हैं; जहाँ जिसकी अधिकता हो वहाँ वह दूसरे को कष्ट दिये बिना ही शासन करे कोई भी पेशा बुरा नहीं है, यदि आप पढ़ लिख गये हैं तो आपके लिए जूता गाँठना कोई लज्जा की बात नहीं, लज्जा की बात है पढ़-लिखकर "बुरे जूते गाँठना"। इस भाँति छूआछूत का भेद भी बनावटी होने के कारण पाप है, क्योंकि इससे आत्मिक शक्ति का ह्रास होता है।

लम्बी बनने दो, प्रत्येक कुटुम्ब तथा नगर अपनी कम से कम आवश्यकताएँ रखे और उनकी स्वयं पूर्ति करे; नगर-नगर में घरेलू धंधे फिर से चलने लगें; शिक्षा में शारीरिक तथा हार्दिक शिक्षा को ऊँचा स्थान दिया जावे क्योंकि कोरे मानसिक विकास से चारित्रिक विकास नहीं हो सकता। इसी भाँति हम देखते हैं कि यद्यपि गाँधीवाद एक राजनीतिक और सामाजिक कार्यक्रम है, फिर भी इसका अन्तिम उद्देश्य आध्यात्मिक है—सत्यरूपी ईश्वर पहिचान कर उसकी प्राप्ति इसका सर्वोच्च लक्ष्य है।

गांधीवाद की कमी तथा दौष

गांधीवादका प्रमुख दोष यही है कि वह एक काल्पनिक आदर्श को लक्ष्य मानकर चलता है। संसार में अधिकतर व्यक्ति ऐसे ही हैं जिनमें या तो आत्मिक शक्ति हैही नहीं या वे उसे कभी विकसित नहीं कर सकते उनके सामने सर्व-प्रथम समस्या यही रहती है कि जीवन किस प्रकार कटेगा, कल क्या खाना होगा ? नौकरी कहाँ मिलेगी ? उनको ईश्वर तथा आत्मा तक पहुँचने में पच्चीस स्थानों पर ठहरना पड़ता है। दूसरी ओर वे धनवान् हैं जो लक्ष्मी का नग्न-विलास करेंगे, पूजा भी करेंगे तो लक्ष्मी की ही या लक्ष्मी के पति विष्णु की। ऐसे लोगों को भी आत्मा और ब्रह्म से क्या मतलब ? अस्तु, भौतिक आवश्यकताओं (Necessities) को पूरा किये बिना उच्च आदर्शों (High ideals) की बात कहना "अंगूर खट्टे हैं" वाली कहावत को चरितार्थ भले ही कर सकें, वास्तविकता से दूर ही भागना होगा। दूसरी बात है कि जिनके पास सुख के सभी साधन हैं उनको त्याग, दान आदि का उपदेश देना आजकल के युग की बात नहीं, आजकल तो कलियुग है यहाँ तो दान भी एक प्रकार का उत्कोच (रिश्वत) है जो स्वर्ग में

सीट रिजर्व कराने के लिए ही दिया जाता है। साथ ही साथ विज्ञान के वर्त्तमान युग में घरेलू धंधों को चालू करना हथेली से चन्द्रमा को छिपाने का सा हास्यास्पद प्रयत्न है, यह नहीं हो सकता कि हम प्रकृति की शक्ति बिजली को कृत्रिम दीप-प्रकाश से पराजित कर देंगे ; उसको हराने के लिए तो प्रकृति की ही कोई दूसरी शक्ति—सूर्य—ही आवश्यक तथा सफल हो सकती है। इस भाँति गांधीवाद एक प्रकार का युग प्रवर्त्तन (Retreat of time) है, यह अनैतिहासिक वस्तु (Anachronism) है; हम ज्ञान की अवस्था को फिर नहीं लौट सकते।

यह चिन्ता घेरे रहती है कैसे बीतेगा जीवन।
नहीं हाथ में शेष रहा कुछ निकल गया जो कुछ था धन॥
टके-टके को मुँह तकते हैं, फिरते मारे-मारे हैं।
मेरी किस्मत है चक्कर में बिगड़े भाग्य सितारे हैं॥
खाने को मिल गया आज तो कल का नहीं ठिकाना है।

—गुरुभक्तसिंह : नूरजहाँ।

गांधीवाद के कुछ दोषों का परिहार और भौतिक सभ्यता के कुछ दोषों का समावेश साम्यवाद (Communism) में हुआ। समाजवाद (Socialism) भी साम्यवाद के मार्ग में एक घरेलू परीक्षा (Home Examination) है, जिसमें हमारे भारत के दृष्टिकोण से केवल ३ अन्तर हैं—समाजवाद अहिंसावादी है, अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर विदेशी प्रभाव नहीं देख सकता, तथा अपनी कार्यवाही केवल राजनीति तक ही रखता है धर्म आदि में नहीं।

साम्यवाद की कुछ मोटी मोटी बातें

अस्तु, साम्यवाद एक भौतिकवादी मत है इसका विश्वास है कि जब तक समाज में दलबन्दी (Class strife) चलेगी तबतक चैन

नहीं मिल सकता। अब तक पूंजीपतियों (Capitalists) का समाज तथा राज्य पर शासन था। राजनीतिक व्यवस्था उनकी है। सामाजिक व्यवस्था उनकी है, धर्म उनका है, ईश्वर उनका है, उच्च आदर्शों का ढोंग केवल गरीबों को बाँधने का ढकोसला है; चरित्र का उच्च तथा नीच होना केवल पूंजीपतियों के निर्द्वन्द्व विलास का साधन है, क्यों कि यदि मैं आज चोरी करता हूँ तो इससे उस पूंजिपतियों के विलास में बाधा उपस्थित होगी। सारा धन, सारे प्राणी, सभी शिक्षा तथा सारे अधिकार जनता अध्यवसित होने के कारण देश के हैं, प्रत्येक व्यक्ति उनको बलपूर्वक—हिंसा के द्वारा भी प्राप्त कर सकता है। अस्तु, साम्यवादी परिवर्त्तन में विश्वास न कर क्रान्ति में विश्वास करता है—यदि आप अपना अधिकार चाहते हैं तो उठाइये तलवार, रक्त के प्रवाह से अधिकारों को अर्घ्य दिया जावेगा। क्या यह भी सम्भव हो सकता है कि उपभोग करते रहने पर आप लक्ष्मी को अपने अङ्क से निकल जाने दें, और आपको क्रोध न आवे; संसार में आज तक किसी ने माँगकर गिड़गिड़ाकर कुछ प्राप्त नहीं किया। दलितवर्ग में जाकर उनको समझाना चाहिए। वे समझें कि मनुष्य मात्र समान हैं, जितना वाँट गद्दी पर करवट बदलने वाले सेठ का है उतना ही—या उससे भी अधिक पसीना बहाने वाले श्रमजीवियों का भी है; हड़ताल कराकर उनमें असन्तोष करा देना चाहिये; तभी वे मरने-मारने पर उतारू हो सकते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इन मोटे सेठों से मिलजुलकर काम नहीं निकाला जा सकता ? साम्यवादी कहता है नहीं, जिसके मुँह में रक्त का स्वाद बस गया है, उस कुत्ते को रोटी से नहीं

साम्यवाद की नियमावली उसका आधार

कहलाया जा सकता। वह तो यहाँ तक कहता है कि मनुष्य वास्तविक रूप में पशु ही तो है; सभ्यता तो एक अस्वाभाविक आवरण है जो केवल भय से छिपाने के लिये प्रयुक्त होता है। अस्तु, यदि हम अपनी स्वाभाविक कुप्रवृत्तियां काम, क्रोध आदि को दबाते हैं तो वह भी अस्वाभाविक होने के कारण निन्द्य है; अर्थात् प्रत्येक स्त्री किसी भी पुरुष के लिए स्त्री ही है, माता, बहिन या पत्नी नहीं—पशुओं में भी यही होता है और मनुष्य भी चाहता तो यही है, किन्तु सामाजिक भय से ऐसा कर नहीं पाता: विवाह बन्धन अस्वाभाविक है पशुओं में भी नहीं पाया जाता; सन्तान पर माता पिता को कोई अधिकार नहीं वे किसी विशेष इच्छा से उसे उत्पन्न नहीं करते—वह देश की सम्पत्ति है, देश उसका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, आदि पूरा करेगा और उससे काम भी लेगा। किसी की किसी भी प्रकार की सम्पत्ति—धन, धाम, स्त्री, पुत्र आदि—नहीं। रूस में सभी लोग होटलों में भोजन करते हैं और प्रत्येक को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना पड़ता है। भारत के समान वहाँ विवाह नहीं होता और न जननी सन्तान का स्वयं पालन करती है। सभी स्त्रियाँ भी सरकारी नौकर हैं। साम्यवादी आदर्श में तनिक भी विश्वास नहीं करता, जीवन से बड़ी उसके यहाँ कोई वस्तु नहीं, जीवन के लिए वह अनेक नियमों को बेधड़क तोड़ देता है। अपने मत को सफल बनाने के लिए किसी बाहरी देश से सक्रिय सहायता लेने में इसको कोई भी संकोच या लज्जा नहीं। इस भाँति भौतिकता (Materialism) या प्राकृतिकता (Naturalism) साम्यवाद का प्राण है।

संसार की वर्तमान परिस्थिति को देखकर विद्वान लोग यह समझने लगे हैं कि साम्यवाद का प्रसार अनिवार्य है। धीरे-धीरे चीन, ब्रह्मा, इण्डोनेशिया, मलाया और फिर भारतवर्ष-कितना सुन्दर

साम्यवाद क्यों अनिवार्य है ?

क्रम है। यह भी कहा जा सकता है कि साम्यवाद किसी दल या व्यक्ति की पुकार नहीं, यह अधिकतर व्यक्तियों के हृदय की पुकार है। इस कथन में भी सत्य है। आज मुट्ठीभर सेठों को छोड़कर सारा देश त्राहि त्राहि कर रहा है; रात-रात भर पढ़कर आँखें फोड़ लेने वाला एक स्नातक (Graduate) जब थर्ड डिवीजन में बी० ए० पास कर घर-घर चक्कर काटता है तो उसके मन में यह अवश्य आता होगा कि क्या सचमुच गदहा लक्ष्मी का वाहन है। साम्यवाद उन पढ़े-लिखों के हृदय की पुकार है जिनके लिए एक-एक पैसा रत्नराशि के समान बहुमूल्य है और जो किसी भी देश में, संख्या अधिक न होने पर भी अपनी योग्यता के कारण, क्रान्ति करा सकते हैं। सम्भव है कुछ धर्म भीरु और कुछ कर्मभीरु अपनी दुम दबाये किसी के तलवे चाटकर अपना जीवन काट देना चाहते हों, किंतु ऐसे कीड़े किसी के मार्ग में बाधक नहीं हो सकते। काल बड़ा बली है, वह स्वयं सभी साधन भी जुटा देता है।

किन्तु क्या भारत में साम्यवाद सफल हो सकता है ? सचमुच प्रश्न बड़ा जटिल है। हमने ऊपर साम्यवाद की कमियों को भी बतलाया है। भौतिक सभ्यता में पला हुआ देश भले ही ऊँचे

भारत में साम्यवाद

आदर्शों (Higher values) को ठुकरा दे, किन्तु भारत में ऐसा होना सम्भव नहीं, भारत सदा से त्याग और बलिदान

का आदर्श रहा है। आत्मा की शक्ति का सुन्दर रूप इस युग में श्री महात्मा गांधी ने हमको अपनी सफल विजय द्वारा दिखलाया। परन्तु ऐसों को भूल न जाना चाहिए। "मरता क्या न करता" एक प्रसिद्ध कहावत है, और यदि परिस्थितियों का सुधार न हो पाया तो कौन जानता है, भारत का भविष्य भी एकबार रक्तरंजित हो जावे।

भारत के लिए श्रेयस्कर मार्ग

इसमें सन्देह नहीं कि गांधीवाद में यदि दो एक सुधार कर दिया जावे तो वह यहाँ ही नहीं सारे विश्व में ही सफल हो सकता है। जो लोग गांधीवाद का डंका बजाते हैं वे इसी पर वाद-विवाद करते हैं कि घरेलू उद्योग-धंधे बढ़ाने चाहिएँ या नहीं, उनकी समझ में यह तो आता ही नहीं कि देश में जो कुछ हो रहा है वह गांधीवाद का ठीक विरोधी है। गांधीवाद आत्मा के विकास को लेकर चलता है, सेवा को ध्येय बनाता है, त्याग, तपस्या सत्य, अहिंसा, अस्तेय, असंचय (Unhoarding) आदि इस के अंग हैं, किन्तु यहाँ शुद्ध-खादी का कुरता और गांधी टोपी ही गांधीवाद माना गया है; कल जो अंग्रेजों के बूट चाटते थे आज वे ही खादी पहिन कर 'जय हिन्द' करने लगे! धन्य रे अवसरवादी! कितना धन? बाजार में कमाया; कितना उत्कोच लिया और दिलाया; कितने गरीबों का रक्त चूस कर आज देशभक्त बनना चाहते हो! क्या तुम में त्याग है! क्या तुम संचय (Hoarding) छोड़ सकते हो! व्यापार करने वालों को बुरे रूप में "बनिया" कहा जाता है और जब तक इन "बनियों" पर विश्वास किया [illegible] गांधीवाद की [illegible] ही होगी; इनको सफलता

नहीं मिल सकती। देश के लिये गांधीवाद अवश्य ही एक सफल औषधि है किन्तु इसका पालन भौतिक सभ्यता में पले हुए "सेठ" नहीं कर सकते, उसके सिद्धान्तों को राज्य द्वारा मान्य बनवाकर ही इससे कोई लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं।

————

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

—:०—

१—समस्या क्या है ?

२—स्वरूप से हमारा अभिप्राय—

(क) लिपि.

(ख) शब्द-भण्डार.

(ग) संख्या.

३—लिपि पर सर्वसम्मत विचार.

४—शब्द भंडार पर मतभेद। विभिन्न मतों पर विचार. अपना मत.

५—अंकों की नई समस्या—सुझाव.

६—उपसंहार.

स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पूर्व ही देश के नेताओं में इस विषय पर बड़ा मतभेद चल रहा था कि स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा क्या होनी चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों के बीच विभिन्न व्यक्तियों ने अपने मत में परिवर्तन भी किया है। एक समय था जब पंडित जवाहरलाल नेहरू रोमन लिपि के पक्ष में थे। पीछे नेताजी सुभाषचन्द्र बसु भी अन्त तक रोमन लिपि के पक्ष में रहे। महात्मा गांधी एक समय हिन्दी के पक्ष में थे, फिर हिन्दुस्तानी का प्रचार करने लगे। इस भांति अबतक विधान-परिषद् में भी मतभिन्नता [illegible] रहा। कुछ लोग यह कहते थे

राष्ट्रभाषा की समस्या क्या है ?

कि हमारी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' होनी चाहिए; दूसरे लोग 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थे। जो लोग हिन्दी के पक्ष में थे उनका कहना है कि जो भाषा संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार, दिल्ली, आधा पंजाब, तथा आधा महाराष्ट्र बोलता, समझता तथा लिखता है तथा जिसको दक्षिण भारत में भी बहुत सारे लोग समझ सकते हैं, जो प्रत्येक बड़े नगर में समझी और बोली जाती है, जिसको संस्कृत भाषा की लिपि तथा बृहत् साहित्य का सहयोग प्राप्त है वही हमारे देश की राष्ट्रभाषा है और वही इसीलिये "राजभाषा" भी होनी चाहिए। हिन्दुस्तानी का प्रयत्न कुछ व्यक्तियों की भावुकता को शान्त करने का है, और उसमें आड़ आ जाती है उत्तरी भारत के कुछ नगरों के कुछ व्यक्तियों की साधारण बोलचाल की; उसके समर्थक कहते हैं कि हिन्दी इतनी कठिन हो जाती है कि उसको साधारण व्यक्ति समझ नहीं सकता। परन्तु हमारा सौभाग्य है कि यह समस्या सुलझ गई, और विधान-परिषद् ने यह निश्चय कर दिया कि स्वतन्त्र भारत की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखी गई हिन्दी होगी, परन्तु १५ वर्ष तक अंग्रेजी भी चलती रहेगी; धीरे-धीरे अंग्रेजी को हटाकर हिन्दी को प्रयोग के योग्य बनाया जायगा।

अस्तु जब यह निश्चय हो गया कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी तो स्वभावतः दूसरा प्रश्न यह आता है कि इस भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए। यह हम पिछले दिनों में देख चुके हैं कि जब अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी का प्रचार प्रारंभ किया तो उर्दू के प्रेमियों ने हिन्दुस्तानी नाम से ही उर्दू का प्रचार

प्रारंभ कर दिया। वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति या सभा यह निश्चय करले कि हम नाम की चिन्ता नहीं करते, 'हिन्दी' नाम रहा आवे हम इसी नाम से उर्दू फैलावेंगे तो बड़ा अनर्थ होगा। अस्तु, यह आवश्यक है कि जिस "हिन्दी" को हम राष्ट्रभाषा कह चुके हैं, उसके स्वरूप को भी स्पष्ट कर देना चाहिए, एक बार उसकी परिभाषा सबके सामने आजावे; जिससे फिर झगड़ा न हो सके। भाषा-विज्ञान भाषा के दो रूप मानता है एक लिपि और दूसरा शब्द। हम भी अपनी सुविधा के लिये भाषा को इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत समझने का प्रयत्न करते हैं। संक्षेपमें इन प्रश्नों का उत्तर हमारी बातों को स्पष्ट कर देगा:—

स्वरूप से हमारा अभिप्राय

(१) हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी की स्वीकृत लिपि क्या होनी चाहिए ?

(२) देवनागरी लिपि में भी हम किस शब्दावली का व्यवहार करेंगे ?

प्रसंगतः एक नई समस्या आज उठ खड़ी हुई है, इसके विषय में भी मतभेद हो सकता है, यह अब तक हमने सोचा भी न था। वह यह है:—

(३) हमारी भाषा में जिस संख्या का प्रयोग हो वह किस रूप में लिखी जानी चाहिये ? तथा एक बात पर हम और विचार करेंगे:—

(४) जिन विदेशी शब्दों को हम अपनावेंगे, उनका नियमन किस व्याकरण के नियमों में होगा।

अब हम इसी रूप में राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करते हैं।

यदि किसी विदेशी की यह इच्छा हो कि भारत की राष्ट्रभाषा क्या है, उसका क्या रूप है, यदि वह उसको केवल देखना भर चाहे तो वह अनेक लिपियों को देखकर चकित हो जावेगा। जिस प्रकार चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस आदि की अपनी अपनी भाषाएँ अपनी एक निश्चित लिपि में लिखी जाती है, उस प्रकार भारत की एक ही लिपि नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। पंजाब की गुरुमुखी, संयुक्तप्रान्त राजस्थान आदि की हिन्दी, बंगाल की बंगाली, मिथिला की मैथिली, आसाम की आसामी, दक्षिण की तामिल आदि अनेकों लिपियाँ हमारे देश में प्रचलित हैं। इस गड़बड़ का प्रधान कारण प्रान्तीयता प्रेम (Provincia-lism) है; हम एक सामान्य सर्वप्रचलित "देवनागरी" लिपि को अपनाने में आनाकानी करते हैं। यद्यपि राष्ट्रभाषा के लिए "देवनागरी" लिपि को स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओं की उन्नति में बाधा नहीं डालते, परन्तु केवल यही कहना चाहते हैं कि सारे देश की एक ही लिपि हो। इससे हानि कोई नहीं होगी। लाभ अनेक हो सकते हैं। आज मशीन का युग है। हमको टाइप की आवश्यकता है, शीघ्रलिपि (शॉर्टहैण्ड) की आवश्यकता है, तार के लिये एक लिपि चाहिए। क्या अनेक लिपियों में ये सब काम किये जावेंगे? मैं समझता हूँ कि ऐसा करना समय तथा धन का व्यर्थ व्यय करना होगा। उत्तरभारत की सारी लिपियाँ देवनागरी से निकली हैं, दक्षिण में भी संस्कृत का अध्ययन इसी लिपि के द्वारा होता है, फिर क्या कारण है कि इसके ग्रहण करने में हम को कोई संकोच हो? कुछ लोग फारसी लिपि का भी कभी कभी

लिपि की समस्या

स्वप्न देख लिया करते हैं, किंतु यह समय को न देखकर चलना है। इसी भाँति रोमन लिपि का विचार भी नासमझी है। यूनीवर्सिटी कमीशन ने जो प्रान्तीय भाषाओं के प्रोत्साहन के विषय में अपना मत दिया है, उसमें यही भूल रह गई है कि यह नहीं कहा कि प्रान्तीय भाषाएँ भी देवनागरी लिपि में ही लिखी जावें. अधिकतर विद्वान अब एक लिपि के मत से सहमत होकर यह कहने लगे हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर (बंगाली) तथा भारती (दक्षिणी) की रचनाओं को देवनागरी लिपि में छपवाकर जनसाधारण में उसका प्रचार होना चाहिए ।

अब समस्या शब्द भण्डार की आती है। इस पर आज सबसे अधिक मतभेद चल रहा है। सुविधा के लिए इसके दो वर्ग कर लिये जाते हैं:—

(१) पारिभाषिक (टेकनीकल) शब्दावली.

(२) सामान्य (एवरी-डे) शब्दावली.

शब्द भण्डार की समस्या

अब तक हमारे देश में अंग्रेजी चलती थी, इसलिए विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि में उसी भाषा के शब्द चलते थे; व्यापार में उन्हीं का प्रयोग होता था; हिन्दी में इन शब्दों का अभाव है। हम इन शब्दों को ज्यों का त्यों ले लें, या इनके स्थान पर नये शब्दों का प्रयोग करें। यदि ज्यों का त्यों लेते हैं तो हमारी भाषा बिगड़ जावेगी। इसलिए यह निश्चय किया गया है कि पारिभाषिक शब्दावली का प्रधान स्रोत संस्कृत भाषा होना चाहिए; धीरे-धीरे, शब्दकोष बनाकर इस कार्य का संपादन करना चाहिए। यद्यपि आज के पढ़े-लिखे व्यक्ति को यह परिवर्तन खटकता है, परन्तु यह सिद्धान्त रूप से इसका विरोध

नहीं करता। कुछ शब्द तो संस्कृत में हैं ही, जो नहीं भी हैं उनको विद्वान् बना सकते हैं। हाँ, कठिनाई रसायन-शास्त्र (Chemistry) की है।

$Kmno^3$ (पोटेशियम पर मेगनिट) के स्थान पर आप क्या "शब्द" रखेंगे ? यह चिन्ह न केवल यह बतलाता है कि इस पदार्थ में कौन-कौन से तत्त्व हैं, प्रत्युत यह भी बतलाता है कि क्रिया-प्रतिक्रियाएँ कौन-कौन सी होती हैं। हमारी राष्ट्रभाषा की यह समस्या आजकल बड़ी अखरती है; परन्तु विद्वान् यह भी जानते हैं कि बीज गणित (Algebra) का भी ऐसा ही रूप था, उसमें हमको x^3+y^3+3xy लिखने का अभ्यास था; परन्तु आज $य^३+ल^३+३यल$ लिखना भी उतना ही सुगम होगया है; इसी प्रकार रेखा गणित (Geometry) में भी हिन्दी का प्रयोग सफलता से किया जा रहा है; तब क्या अन्य विद्वानों तथा शास्त्रों में हिन्दी का प्रयोग सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता ? संस्कृत राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति ने सरकार को जो स्मारक-पत्र (Memorandum) भेजा था, उसके अनुच्छेद १४ में संस्कृत शब्दावली की व्यापकता तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों तथा विज्ञानों के लिए उसकी व्यवहार्यता को उचित ही प्रमाणित किया है;* विद्वानों को उससे सहमत होना चाहिए।

पारिभाषिक शब्दावली

* That laws (Dayabhaga, Mitakshara etc.) systems of logic and Philosophy (Sankara Bhasya etc.) and Politics (Kautilyas Arthasha-stra) can be and were written and elaborated

आज कल हम आपस की सारी बातें अवश्य करते हैं परन्तु हमारे पास कोई भाषा नहीं है। अधिकतर व्यक्ति अंग्रेजी या अंग्रेजी-मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करते हैं। य अब अधिक दिन तक नहीं चल सकता। स्वतन्त्र भारत में एक भाषा ऐसी होगी जिसमें हम अपना विचार-विनिमय किया करेंगे तथा जिसमें हमारे साहित्य की रचना होगी; परन्तु कठिनाई है उसके स्वरूप निर्धारण की। आज भी कुछ लोग यह कहते हैं कि जो विदेशी शब्द प्रयोगमें आगये हैं उनको ले लो, जो प्रान्तीय शब्द प्रयोग में आगये हैं उनको भी ले लो—यही आपकी "हिन्दुस्तानी" या "हिन्दी" है। जहाँ तक विदेशी शब्दों का सम्बन्ध है, वे दो

सामान्य व्यवहार की शब्दावली

प्रकार के हैं—प्रथम वे नका पर्याय-वाची हिन्दी में है ही नहीं जैसे बाइ-सिकल, रेल, टेलीफोन, ताँगा, स्टेशन आदि; दूसरे वे जिनका पर्यायवाची हिन्दी शब्द भी प्रचलित हैं

---

that Science could be explained (See Charaka, Susruta, Nidana.) Chemistry (Hindi Rasayna Literature referred to by Acharya Prafulla Chandra) Anatomy (Pratyakshasariram by M. M. Gananath Sen),—and treatires on Music, Art and Aviation (Samarangana Sutradhara) can be written and explained in Sanskrit will convincingly prove its capacity for use in every branch of human thought of Art and Science. (page 6)

और वे भी स्वयं प्रचलित हैं जैसे स्कूल-मदरसा-पाठशाला, मास्टर-अध्यापक, बाथरूप-गुसुलखाना-स्नानागार, हैट-टोपी आदि। जहाँ तक प्रथम वर्ग के शब्द का सम्बन्ध है हम यह मानते हैं कि हिन्दी के हृदय में उदारता तथा प्रचार की शक्ति होनी चाहिए, हम कोट, रेल, बल्व, इंजन, मशीन आदि का प्रयोग निःसंकोच करेंगे—हाँ हम उसको हिन्दुस्तानी बना सकते हैं; "टोंगा" का "ताँगा" "इंजिन" का "इंजन" कर सकते हैं। परन्तु दूसरे वर्ग के विषय में विचार करना है: "पाठशाला" या "विद्यालय" के स्थान पर आप "स्कूल" तथा "कालेज" करलें तो हानि भी क्या है; कट्टर लोग हमसे सहमत नहीं, परन्तु उनको यह जानना चहिए कि "मंदिर" "मसजिद" "गुरुद्वारा" तथा "गिरजाघर" यद्यपि एक ही अर्थ के द्योतक हैं, फिर भी इनसे अलग-अलग संस्कृतियों का बोध होता है; इसी प्रकार "मास्टर" "टीचर" "लेक्चरार" तथा "प्रोफेसर" तो "अध्यापक" "शिक्षक" "आचार्य" तथा "गुरु" से भिन्न ही हैं; "पाठशाला" से संस्कृत पाठशाला, "मदरसा" से मुसलमानी पाठशाला, "स्कूल" से अंग्रेजी पाठशाला, एवं "कालेज" शब्द से ऊँची कक्षा की पाठशाला का बोध होता है। हम क्यों न अपनी भाषा में प्रयोग होने वाले इन सभी शब्दों को चलने दें? जिसकी जैसी शैली होगी, वैसा ही वह प्रयोग भी करेगा। ध्यान इस बात का रखना होगा कि "टाँगा" का आप "रथ" कर सकते हैं, परन्तु फिर "कार" "बस" "ट्राम" आदि का आप क्या करेंगे? बहुत से लोग पूछते हैं "चश्मा" "शिकायत" "सिफारिश" "कागज" की हिन्दी क्या है? मैं सम-

विदेशी शब्दों का प्रयोग

मानता हूँ ये शब्द स्वयं हिन्दी के हैं, इनकी संस्कृत हो सकती है, हिन्दी नहीं हो सकती।

अब थोड़ा प्रान्तीय देशी शब्दों के प्रयोग पर भी विचार कर लीजिए। आजकल जनतन्त्र का युग है। प्रत्येक व्यक्ति जनता के कंधे पर बन्दूक रख अपना स्वार्थ पूरा किया करता है। निदान प्रश्न यह है क्या प्रयोग में आने वाले प्रान्तीय देशी शब्दों का भी प्रयोग किया जावे। कांग्रेस के प्रयोग से कुछ लोग "जनता की भाषा" का बिगुल बजाते हुए इस प्रकार के शब्दों का अति मात्रा में प्रयोग कर रहे हैं। यह सबसे बड़ी भूल है। इससे प्रान्तीयता बढ़ती है, और एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से दूर ही दूर जाता है। बौद्धों ने भी इसका एक प्रयोग किया था परन्तु अंत में उनको भी संस्कृत की शरण लेनी पड़ी। साहित्य का विद्यार्थी यह भली

प्रान्तीय देशी शब्दों का प्रयोग

भाँति जानता है कि तुलसी और जायसी के साहित्य-प्रचारमें संस्कृत शब्दावली का प्रयोग कितना महत्त्व रखता है; जायसी का मधुर ग्रामीण अवधी को कोई नहीं पूछता, तुलसी की संस्कृत पदनिष्ठित भाषा घर-घर में प्रचलित है। जब मैं आंध्र-जाति की तेलगू भाषा के शब्द भंडार को देखता हूँ तो ८०% शब्द संस्कृत के मिलते हैं, बंगभाषा, मराठी आदि की भी यही दशा है भूषण जैसे राष्ट्रीय कवि का प्रचार क्यों न हुआ, इस प्रश्न का उत्तर भी भाषा ही को देना है। हो सकता है कि प्रारम्भ में हमको कुछ कठिनाई और कुछ संकोच का सामना करना पड़े, परन्तु हमको अपनी भाषा यथाशक्ति संस्कृत शब्द भंडार से परिपूर्ण बनानी चाहिए। भाषा की एकता देश की सबसे बड़ी एकता है, और वह तभी हो सकती है जब प्रत्येक प्रांत का शब्द-भंडार एक हो जिस

के लिए उसको संस्कृत से ही भरना पड़ेगा। इस प्रकार सारी भाषाएँ साररूप में एक हो जावेंगी।

कभी कभी बन में भटकते हुए हमारे हाथ कोई हीरा पड़ जाता है; देशी विदेशी दोनों प्रकार की भाषाओं में संस्कृत के शब्द ज्यों के त्यों दिखलाई पड़ जाते हैं। एक दिन मेरे एक मदरासी मित्र ने मुझको भोजन कराया, जो पदार्थ परोसा गया था उसका नाम पूछने पर "पायासम" बतलाया गया, यह तो साक्षात् "पायसम" (सं० खीर) ही था। इसी भाँति ग्रामीण व्यक्तियों के मुख से "जल," "द्वार," "संकल्प," "प्रतिज्ञा," "न्याय," "संगति," इत्यादि शब्दों को सुनकर बड़ा आनंद प्राप्त होता है। विदेशी शब्दों की ओर ध्यान दें तो कमेटी (Committee) शब्द में दो "एम" (m) तथा दो "टी" (t) क्यों आती हैं इसका कारण अंग्रेजी वाले नहीं बतला सकते; क्यों संस्कृत वाला ही बतलावेगा कि "समिति" इसी शब्द का वास्तविक रूप है। इसी प्रकार "सेण्टर" (Centre) में tre क्यों आता है, ter क्यों नहीं आता, इसका भी कारण यही है कि यह शब्द "केन्द्र" से निकला है। विद्वानों की जानकारी के लिए Saint (सन्त); Path (पथ); Shock (शोक), Door (द्वार) Sweat (स्वेद=पसीना), Deity (दैत्य) आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। कभी कभी तो आश्चर्य होता है "सुनु" शब्द के संस्कृत में दो अर्थ है—(१) पुत्र तथा (२) सूर्य; अंग्रेजी में भी सुनु (Sun, Son) Wait, Weight दोनों अर्थों में ठीक है। "Ram's" तथा "रामस्य" में क्या अन्तर है? यह तो भाषा-विज्ञान ही बतलाता है कि गृहस्थी सम्बन्धी शब्द मता

संस्कृत शब्दावली का व्यापक प्रभाव

पिता, भ्राता आदि सभी भाषाओं में समान है; यह भी भाषा-विज्ञान ही बतलावेगा कि "स्वसृ" का "सिसृ" तथा सिस्तृ" हो कर कैसे "सिस्टर" (Sister) बना ! वस्तुतः यदि संस्कृत शब्दों के द्वारा हम विदेशी भाषाएँ भी सीखें, तो बड़ी सरलता रहेगी; परन्तु आपका तर्क तो यह है कि मजदूर कहते हैं—"तेरे बाप का क्या गया ? " इसलिए "बाप हिन्दी है, पितृ (पिता) तो संस्कृत है ; परन्तु इस प्रकार तो आप "फादर" (पितर) पितर को सीख नहीं सकेंगे। संस्कृत संसार की सर्व प्राचीन भाषा तथा सभी भाषाओं की जननी है ; अस्तु संस्कृत शब्द भंडार जिस प्रकार प्रान्तीय भेद=विभेद को मिटा देगा उसी प्रकार विश्व भर में भी एकता स्थापित कर सकता है ; दूसरी भाषाएँ भी संस्कृत माध्यम से सहज ही सीखी जा सकती हैं।

अस्तु सामान्य शब्दावली के लिए हमारा नियम यह बना कि यदि हमारे पास प्रचलित संस्कृत शब्द भी हैं तो सबसे पहिले उसका प्रयोग करेंगे, फिर यदि वह नहीं हैं तो देशज शब्द ले सकते हैं ; फिर प्रचलित विदेशी शब्द ; अन्त में यदि संस्कृत या देशज शब्द भी प्रचलित नहीं हैं और विदेशी शब्द भी प्रचलित नहीं हैं तो फिर संस्कृत का ही शब्द लेंगे भले ही वह प्रचलित न हो या उसको गढ़कर तैयार करना पड़े।

नियम

अब अंतिम कठिनाई, संख्या-विषयक, उठाने से पूर्व यह बतला देना भी आवश्यक है कि विदेशी शब्द को अपनाते समय आप उसको शुद्ध अवश्य कर लीजिये। जिस प्रकार हिन्दू का बहुवचन हिन्दूज़ (Hindus) होता है, उसी प्रकार स्टेशन

का बहुवचन आपके यहाँ "स्टेशनों" ही होना चाहिए; यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार "दिन" से "दैनिक विशेषण बनता है उसी प्रकार आप "टेलीफोन" से "टेलीफोनिक" बनालें; परन्तु पोस्ट (Post) से क्या "पोस्टल" (Postal) बनावेंगे, मशीन से क्या मैकेनिकल (Mechanical) होगा। व्यक्तिगत रूप से मैं तो "क्लर्की" "मास्टरी" "ड्रायवरी" आदि शब्दों के पक्ष में हूँ, और "अखराजात" ("खर्च" का बहुवचन) आदि शब्दों को हेय मानता हूं।

एक चेतावनी और गंभीर समस्या

एक समस्या डिगरियों की है, संसार में प्रायः सर्वत्र इनका ज्यों का त्यों प्रयोग होता है—बी० ए०, एम० ए०, एल-एल० बी० ज्यों के त्यों लिखे जाते हैं। परन्तु "श्यामलाल गुप्ता" के स्थान पर "श्या० ला० गुप्ता" या "स० (एस०) ल० (एल०) गुप्ता" लिखना अच्छा नहीं लगता, हमको "एस० एल० गुप्ता" का ही अभ्यास हो रहा है, भले ही यह ठीक न हो। इसी प्रकार आर० एम० एस० (R.M.S.) के स्थान पर "रे० मे० स०" लिखें या नहीं! इन समस्याओं पर अभी हमको फिर कभी गंभीरतापूर्वक विचार करना है।

अंकों (Numerals) की समस्या नई ही उठ खड़ी हुई है। हमारे देश से १,२,३,४, का प्रचार अरब में हुआ और अरब से यूरोप में जा इनका रूप 1,2,3,4, हो गया। अरब वाले इनको "हिन्दूसे" (हिन्द से आये हुए) कहते हैं, और यूरोप वाले इनको अरबी अंक (Arabic Numerals) कहते हैं। आजकल यूरोपवाला रूप सारे संसार में प्रचलित है, इसीलिए

अंकों की नई समस्या

कुछ भारत वासियों का विचार है कि अपनी राष्ट्रभाषा में इनको ज्यों का त्यों ले लिया जावे। उनका कहना है कि प्रथम तो ये भारतीय हैं ही, दूसरे सारे संसार में प्रचलित हैं, तीसरे केवल कुछ ही हिन्दी के पुराने रूप से भिन्न हैं। विरोधी लोग तो यह कहते हैं कि प्रथम तो ये उस रूप में नहीं है जिसमें यहाँ से गये थे इसीलिये अपने ही रूप को रखा जावे, दूसरे जब हमारी भाषा अलग होगी तो क्या केवल ८ या ९ अंकों के रहने से क्या कठिनाई आवेगी; तीसरे सारा संसार इनको अपनाता है इसीलिये हम भी अपनालें यह कोई तर्क नहीं। विधान-परिषद् में इतनी सम-शक्ति का विरोध पहिले कभी न हुआ था, दोनों मतों के समर्थकों की संख्या बराबर थी। यद्यपि इस निर्णय का अधिक महत्त्व नहीं है, फिर भी जब राष्ट्रभाषा के अक्षर देवनागरी लिपि में मान लिये गये तो अंक भी क्यों न मान लिये जावें यह समझ में नहीं आता ?

इसभाँति हमने यह देख लिया कि हमारी भावी उन्नति का आधार हमारी राष्ट्रभाषा का स्वरूप होगा। जब इसको जैसा रूप

उपसंहार

देंगे वैसे ही हमारे विचार और हमारी उन्नति होगी; हमारी संस्कृति का यही आधार होगा। आशा है कि स्वतन्त्रता [illegible] से हम संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर यह उपालम्भ न देंगे कि वह मृतभाषा या कठिनभाषा है, तथा उस भाषा के अमूल्य कोष से [illegible] इस संसार के सम्मुख जीवन का एक उच्च आदर्श रक्खेंगे।

मुसलमानों की हिन्दी सेवा

(१) प्रस्तावना—हिन्दी प्रचलित काव्यभाषा थी, हिन्दू और मुसलमान सभी इसमें रचना करते थे.
(२) खड़ी बोली का प्रथम कवि मुसलमान—अमीर खुसरो.
(३) सूफी कवियों की हिन्दी-सेवा—जायसी.
(४) संतमत का प्रवर्त्तक—कबीर.
(५) प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष—रहीम.
(६) दिल्ली का पठान सरदार—रसखान.
(७) मुबारक अली बिलग्रामी.
(८) रीतिकाल के मुसलमान कवि—रसलीन, आलम,
(९) मीराबाई का अवतार—ताज.
(१०) हिन्दी गद्य का जन्मदाता—इंशाअल्लोखाँ.
(११) आधुनिक युग में कमी क्यों है ?
(१२) उपसंहार ।

एक समय संस्कृत हमारे देश की काव्यभाषा थी फिर अपभ्रंश भाषाओं का समय आया-हिन्दू, जैन तथा मुसलमान तक इसी में अपने हृदय के भाव अभिव्यक्त किया करते थे, अब्दुल रहमान नामक एक मुसलमान ने अपभ्रंश में अपना "सन्देश-रासक"❀ लिखकर इसी बात का परिचय दिया है। काल-क्रमानुसार काव्य-भाषा का पद हिन्दी को मिला और जो भी

❀ प्रकाशक—भारतीय विद्या-भवन, बम्बई।

परन्तु प्रसिद्धि का कारण वे पहेलियाँ ही हैं। इन पहेलियों का कोई 'अर्थ' होता है, जो पहेली में भी आ जाता है:—

"टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन-बरतन सब लुढ़काया।
खागया, पीगया, देगया धक्का।
ए सखी साजन ? नहिं सखि "कुत्ता" ॥"

प्रथम तीन पंक्तियों से सखी समझती है कि दूसरी सखी अपने "साजन" के विषय में कह रही है, परन्तु अंत में उसे ज्ञात होता है कि वह "कुत्ते" की बात कहती थी। खुसरो की ये पहेलियाँ उसकी विनोदशील प्रकृति का परिचय देती हैं।

भक्तिकाल के आते आते तो अनेक मुसलमान कविता लिखने लगे थे। भक्ति-काव्य-धारा की एक शाखा "सूफी-काव्यधारा" तो केवल मुसलमानों तक ही सीमित थी, पूर्वी अवधी में इतनी सरस तथा मधुर काव्य-रचना करके उन्होंने अपनी सहृदयता का पूरा परिचय दिया है। जायसी का "पद्मावत" अवधी का ही नहीं, 'हिन्दी-संसार की अमूल्य निधि है। "प्रेम की पीर" का जो चित्र हमको उस काव्य में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। प्रथम मिलन के अवसर पर पद्मावती ने रत्नसेन से जो कुछ कहा है वह भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टियों से कितना मधुर है:—

मलिक मुहम्मद जायसी

"जब हुँत कहिगा पंखि सँदेशी।
सुना कि आवा है परदेसी॥
तब हुत तुम बिन रहै न जीऊ।
चातकि भएउ रटत पिय-पीऊ॥"

परवत-परबत मैं फिरा, नैन गँवाये रोइ ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जाथैं जीवन होइ ॥"

उन्होंने जनता की भापा में जनता के लिये अच्छे-अच्छे उपदेश इतने सरल ढंग से दिये हैं कि मानस पर उनका गहरा प्रभाव पड़ता है। संसार के सभी सुख व्यर्थ हैं। मृत्यु सदा सिर पर खड़ी रहती है, जब चलने की बारी आती है तो कोई भी साथ नहीं जाता; इसलिए संसार से छूटने के लिये सभी भोग-विलास, घर, कुटुम्ब छोड़ गुरु द्वारा दिखलाये गये मार्ग पर चलना चाहिए।

"बिन सत्गुरु इतना दुख पाया, वैद मिला नहीं इस तन का रे।
माता, पिता, बंधु, सुत, तिरिया, संग नहीं कोइ जाइ सका रे।
जब लगि जीवै हरि गुन गाले, धन-जोबन है दिन दस का रे।
चौरासी जो उबरा चाहे, छोड़ कामिनी का चसका रे॥"

भक्त काल के मुसलमान कवियों में रहीम का नाम प्रसिद्ध ही है, इनका पूरा नाम सरदार अब्दुर रहीम खानखाना था। इनके पिता सरदार बैरमखाँ खानखाना मुगल-सम्राट अकबरके अभिभावक तथा सेनापति थे। रहीम हिन्दी, संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के बड़े अच्छे पंडित थे। इन्होंने संस्कृत में लिखा है। उस समय

रहीम कवि

के साहित्यिकों— तुलसीदास जी से— इनका अच्छा परिचय था। दान के लिये ये प्रसिद्ध थे और एक बार गंगकवि को इन्होंने ३६ लाख रुपया दान दिया था। जहाँगीर के कोप-भाजन बन ये चित्रकूट चले आये। रहीम के दोहों में संसार का इतना मार्मिक अनुभव मिलता है कि इनके दोहे ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध होगये हैं, इतनी सरल भापा में इतना प्रभावशाली नीति-वाक्य अन्यत्र न मिलेगाः—

कहाँ लौं सयानी चंदा—हाथन छपाइ बो ।
आजु हौं निहारयौ बीर, निपट कालिंदी तीर,
दोऊन को दोउन सों मुरि मुसकाइ बो ।
दोऊ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ इन्हें,
भूलि गई गैयाँ, उन्हें गागर उठाइ बो ॥"

इस युग में और भी कई मुसलमान कवि हुए, मुबारक प्रसिद्ध ही हैं। "अलक-शतक" और "तिलक-शतक" लिखने वाले

मुबारक

बिलग्राम निवासी सैयद मुबारक अली शृंगार के अच्छे कवि थे। इस छोटे से ग्रंथ में दोहों और उत्प्रेक्षाओं का सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है। नायिका की अलक (सामने लटकने वाली लट) तथा उसके कपोल के तिलक पर कितने कवि रीझ गये। रीतिकाल में इन पर बहुत कुछ लिखा गया। हमारे कवि ने भी अपनी "बड़ी चढ़ी" उत्प्रेक्षाओं द्वारा इनका सुंदर वर्णन किया है :—

"अलक मुबारक तिय बदन, लटक परी यों साफ।
खुशनबीस मुंशी मदन, लिख्यौ काँच पर काफ ॥"
"चिबुक-कूप, रसरी-अलक, तिल सुचरस दृग-बैल।
बारी-बैस सिंगार को, सींचत मनमथ-छैल ॥"

(रमणी के मुख पर लटकने वाली अलक को देख कर ऐसा जान पड़ता है मानो लेखक-प्रवीण कामदेव ने काँच पर काफ (उर्दू ک "क") लिख दिया हो।)

(ठोढ़ी कूप है, अलक रस्सी है, तिल चरस है, दो नेत्र बैल हैं, इनसे कामदेव रूपी युवक उस रमणी की युवावस्था रूपी वाटिका को सींचता है।)

पक्के प्रेमी हो गये । इनके सवैयों तथा कवित्तों में टीस तथा तन्मयता कूट-कूट कर भरी है :—

"जा थल कीने अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।

आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जे सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं ॥"

सवैये की अंतिम पंक्ति पर ध्यान देना चाहिए। इसी भाँति निम्नलिखित कवित्त के अंतिम दो चरणों में कितनी प्रवाहमयी टीस है, यह जोर से पढ़ने पर ही ज्ञात हो सकेगा :—

"कैंधौ मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैंधौ उत दादुर न बोलत है, ए दई।
कैंधौ पिक-चातक महीप काहू मारि डारे,
कैंधौ बगपाति उत अंतगति है गई ॥

आलम कहे हो आली ! अजहू न आये प्यारे,
कैंधौ उत रति विपरीत विधि ने ठई।

मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझ गये मेघ, कैंधौ बीजुरी सती भई ॥"

मुसलमान प्रेमी कवियों की चर्चा उस समय तक अधूरी ही रहेगी जब तक कि हम भक्त-सिरताज श्रीमती "ताज" का नाम न लें। वे मानों मीराबाई का ही अवतार थीं। कृष्ण के प्रेम में ये

भक्तिन ताज

इतनी तल्लीन थीं, कि वे हिन्दू धर्म को प्रेम करने लग गईं। उनका यह कवित्त (विशेषतः इसका अंतिम चरण) बड़ा प्रसिद्ध हो गया है:—

ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

परन्तु समय ने पलटा खाया। सर सैयद अहमदखाँ तथा इसी प्रकार के अन्य नेताओं के कारण भाषा में धार्मिक दलबंदी आती गई और मुसलमानों ने यह समझा कि हिंदी तो हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है, वे एक नई भाषा बनाकर चलने लगे। जिसका फल आगे चलकर देश-विभाजन हुआ वह दुःख भरी घटना फिर कभी कहने के लिये है। नौकरी को खोजने वाले हिन्दू भी उसी हाँ-में हाँ मिलाते गये।

आधुनिक युग में हिन्दी-सेवी मुसलमानों का क्यों अभाव है ?

परन्तु आज समय बदला हुआ है; आज देश स्वतन्त्र है और मनुष्य को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सोचने का अवसर मिलता है। विधान-परिषद् ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा घोषित कर दिया है। आशा है कि भारतीय मुसलमानों को अपनी भूल ज्ञात होगी और वे दिनभर भटककर संध्याकाल में फिर अपने स्थान पर आजावेगें। भाषा-विषयक स्वतन्त्रता का वह प्रथम दिन होगा जब सभी भारतीय एक ही भाषा का व्यवहार करेंगे।

दोषों—रस, अलंकार, गुण, दोष आदि—का साधारण विवेचन। हिन्दी के कुछ कवियों ने भी इस शैली को अपनाया था, किन्तु यहाँ उद्देश्य अलोचना न होकर व्यक्तिगत संबन्ध था—अपने मित्रों की प्रशंसा और विपत्तियों की (उनके काव्य में दोष दिखाते हुए) निंदा। (दे० शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५२५ का फुटनोट)

इसके अतिरिक्त संस्कृत में समालोचना की दूसरी प्रणाली भी

दूसरी प्रणाली

थी, किन्तु यह केवल सहृदयों का विषय था (ऊपर वाली प्रणाली के अनुसार आचार्यों का नहीं) किसी कवि की रचनाओं का बार-बार पाठ करने पर जब उसकी कोई विशेषता —गुण या दोष बार-बार सामने आती हैं, तो सहृदय पाठक उस विशेषता को उस कवि की स्थायी विभूति समझ लेता है। यह बात या तो छोटी-छोटी उक्तियों द्वारा कही जाती थी, या पूरे श्लोक द्वारा। संस्कृत में बड़े बड़े सभी कवियों के विषय में ऐसी समालोचना पाई जाती है:—

(१) "निर्गतासु न वा कस्य कालिदास सुक्तिसु।
प्रीतिः माधुरसान्द्रासु मञ्जरीश्विव जायते॥"।

(२) धन्यो मघकवि र्वयं तु सुकृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात्।"

कभी-कभी एक ही श्लोक में कई कवियों की विशेषताओं का भी उल्लेख किया जाता था:—

(१) उपमा कालिदास्य, भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

और कभी-कभी तो दो कवियों की तुलना भी आलोचक दो शब्दों में कह बैठते थे:—

कभी का अनुभव करते हुए, उसे अश्रद्धा का नाम दिया है और उसे निकाल कर "श्रद्धा" रखने की सम्मति दी है।❀

हिन्दी में दूसरी प्रणाली का अनुकरण

हिन्दी में भी प्रणाली का खूब अनुकरण हुआ और एक-एक सूक्ति की आलोचना अबतक प्रचलित है। गद्यकाल से पूर्व तो इसी प्रणाली का बोलबाला था ही--भक्तिकाल और रीति-काल के सभी कवियों की आलोचना इसी रूप में मिलती है :—

(१) आनंदकानने ह्यस्मिन्, जंगमस्तुलसी तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य, रामभ्रमरभूषिता॥

(इस आनंदकानन में तुलसी ही एक जीवित वृक्ष है जिसकी कवितारूपी मञ्जरी रामरूपी भ्रमर से सदा सुशोभित रहती है!

(२) किधौं सूर को सर लगौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लगो, बेध्यौ सकल शरीर॥

(यह क्या किसी शूर-वीर का बाण लग गया, या किसी सूर (अन्धे वा काँटे) की करुणाभरी व्यथा चुभ गई, या सूरदास के पद ने हृदय पर प्रभाव डाला, जिससे हमारा सारा शरीर विंध गया)।

(३) सतसैया के दोहरा, और नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

❀ दे० "स्टीफन ज्विग: एक अपरिचित स्त्री का पत्र" (Letter from an unknown woman) के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का उद्धरण (पृ०,.,१४)

इसी प्रकार सहृदय ब्रजभाषा के संपूर्ण साहित्य का मन्थन कर अपना आलोचनात्मक मत इस प्रकार बतलाते हैं :—

ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विसाल।
सबकी भूषन सतसई, रची विहारीलाल ॥

वस्तुतः इस प्रकार की आलोचना का बोलबाला तो हिन्दी-साहित्य में बहुत दिनों तक चलता रहा।

इन दो प्रकार की संस्कृत-साहित्य की आलोचना प्रणालियों का

आलोचना साहित्य

हिन्दी में अनुकरण हुआ, किन्तु ये प्रणालियाँ गद्यकाल के अनुकूल न थीं, क्योंकि इनसे "आलोचना-साहित्य" की नींव नहीं जमती। जिस प्रकार साहित्य के अनेक अंग कहानी, उपन्यास, काव्य, नाटक आदि हैं उसी प्रकार "आलोचना" भी एक अंग हैं, यह हमारे यहाँ शायद सोचा ही न गया, इसलिए इस विषय का साहित्य विकसित न हुआ। न तो पुस्तकें लिखी गईं, न प्रबन्ध या निबंध। एक-एक कवि या एक-एक पुस्तक या साहित्य के किसी एक अंग पर अलग पुस्तक या निबन्ध लिखने की प्रणाली पाश्चात्य ही है; हमारे देश की नहीं। इसलिए इसका प्रारंभ गद्यकाल में होता है और वह भी उस समय जब कि हिन्दी गद्य पूर्ण विकास पर पहुँच चुकी थी, अर्थात् दूसरे उत्थान (सं० १९५०) के प्रारंभ से। ऐसी आलोचना स्थायी साहित्य के स्थान पर एक नये मार्ग को पुष्ट बनाती है।

अपने-अपने भिन्न उद्देश्यों के अनुसार आलोचना के कई मार्ग

आलोचना के मुख्य-मुख्य मार्ग

हो सकते हैं। निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि आलोचनाओं की अपनी-अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। निर्णयात्मक आलो-

द्वितीय उत्थान (१९५०-७५) की आलोचना-पद्धति पर विचार करना चाहिए।

हिन्दी में निबंधाकार आलोचना

यह हम दिखा चुके हैं कि हिन्दी में किस प्रकार संस्कृत की पुरानी शैलियों को अपनाया गया, और गुण-दोष प्रदर्शन की प्रणाली बहुत समय तक काम करती रही। भारतेन्दु के समय में ही आलोचनात्मक निबन्धों का लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था। पंडित बदरीनारायण चौधरी ने अपनी "आनन्द कादंबिनी" में आलोचनात्मक निबन्ध निकालना प्रारम्भ किया। ला० श्रीनिवास दास के एक नाटक "संयोगिता-स्वयम्वर" की ऐसी ही आलोचना इस पत्रिका में निकली। यह आलोचना अपने समय का आदर्श कही जा सकती है, इसमें दोषों का बड़ा सूक्ष्म उद्‌घाटन किया गया है।

द्विवेदी काल

द्विवेदी काल में आलोचना का दूसरा रूप आता है। निबन्धों के स्थान पर पुस्तकें निकलने लगीं। स्वयं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पहिली पुस्तक "हिन्दी कालिदास की आलोचना" लिखी, इसमें भी दोषों भाषा सम्बन्धी तथा भाव-सम्बन्धी का ही विवेचन है। जिन पुस्तकों को लिया गया है वे ला० सीताराम द्वारा अनूदित संस्कृत के नाटक हैं, मौलिक रचना नहीं। इसमें इसीलिए भाषा की ही भूलें दिखलाई जा सकती थीं।

द्विवेदीजी की ३ पुस्तकें

द्विवेदीजी ने मूल पुस्तकों की आलोचना भी की, किन्तु केवल संस्कृत साहित्य तक ही अपने को सीमित रखा। इन पुस्तकों को हम आलोचनात्मक नहीं कहते, क्योंकि लेखक ने इनको "परिचयात्मक" ही बनाया है। जान पड़ता है

है कि मिश्रबन्धुओं का काम बड़ा ही प्रशंसनीय था। शुक्लजी ने अपने साहित्य के इतिहास में उनकी कड़ी आलोचना की है (दे० पृ० ५२६) और पुस्तक को "वे सिर की बातों से" भरा हुआ बतलाया है, किन्तु अनेक दोषों के होते हुये भी, इस प्रश्न को हम व्यर्थ नहीं कह सकते।

इसके अनंतर पंडित पद्मसिंह शर्मा आलोचना क्षेत्र में आये। आपका बिहारी-सतसई का भाष्य बहुत सुन्दर है। इसमें सतसई-साहित्य की परंपरा तथा "आर्य्या-सप्तशती" और "गाथा-सप्तशती" के उन छंदों का वर्णन है जिनके समान भाव बिहारी ने अपने दोहों में रखे हैं। आपने हिन्दी के अन्य कवियों के बिहारी से मिलने वाले भावों को भी दिखलाया और मिश्रबन्धुओं के देव को सबसे बड़ा मानने के पक्षपात को चुनौती दी। उनकी भाषा में आलोचना का वह चलतापन और चटपटापन है जिसको आर्यसमाजी लोग अपने धार्मिक शास्त्रार्थों और व्याख्यानों की भाषा में लाया करते थे। शर्माजी "तुलनात्मनक समालोचना" के जन्मदाता माने जाते हैं। इनकी आलोचनाओं ने हिन्दी में एक नया झगड़ा खड़ा कर दिया कि देव बड़े या हैं बिहारी।

दूसरा उत्थान

तुलनात्मक समालोचना को हिन्दी वालों ने खूब अपनाया और प्रायः "तुलना" ही रह गई "समालोचना" का कोई ध्यान न रहा। हिन्दी के ही नहीं, अन्य भाषाओं के कवियों और लेखकों के भावों की तुलना और उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता आज तक के समालोचकों में मिलती हैं।

देव बनाम बिहारी का झगड़ा बढ़ते बढ़ते इतना हो गया कि स्वतंत्र पुस्तकें भी निकलीं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी

पुस्तक "देव और विहारी" में शर्माजी के बिहारी के प्रति पक्षपात को अनुचित मान कर, मिश्र बंधुओं के मत का समर्थन करते हुए, देव को श्रेष्ठतर बतलाया। उत्तर में ला० भगवानदीन ने "बिहारी और देव" लिखकर उसके आक्षेपों का उचित उत्तर दिया।

अब आलोचना-साहित्य का तीसरा उत्थान आरंभ होता है

तृतीय उत्थान

जिसके प्राण पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। द्वितीय उत्थान में आलोचना का कोई एक स्थिर आदर्श न था, केवल अंत तक आते-आते तुलनात्मक आलोचना ही परम साध्य समझी जाती थी; किन्तु इस नये युग में रूढ़िवाद को त्यागकर नवीनता की ओर भी कदम रखा गया। पाश्चात्य साहित्य के नवीनतम अध्ययन और प्रभाव से नया आदर्श सामने आया, केवल हिन्दी (और संस्कृतभी) जानने वाला कोई भी विद्वान अब निर्भय इस क्षेत्र में न आ सकता था। नवीन कवियों की परख तो यूरोप के आन्दोलनों और आदर्शों के सहारे होने ही लगी, प्राचीन कवियों की आलोचना में भी मनोविज्ञान, समाजवाद, रस सिद्धांत आदि के नये-नये वादों का प्रवेश होने लगा। अधिकतर आलोचक संस्कृत से अपरिचित होने के कारण प्राचीन शास्त्रीय कसौटियों के नाम से ही भौंह चढ़ाने लगे; इनको अलंकारों, शब्द शक्तियों आदि के नाम पर भी छींक आने लगीं।

इस युग के आलोचकों में सर्वप्रधान स्थान आचार्य शुक्लजी

इस युग के आलोचक

का है। आपने तुलसी, सूर और जायसी पर बड़ी विस्तृत आलोचनाएँ लिखीं। तुलसी पर आपकी आलोचना पहिले "तुलसी ग्रंथावली" के साथ थी, "गोस्वामी तुलसीदास" नाम से पुस्तकाकार छपी, सूर

पर आपकी आलोचना उस समय "भ्रमरगीत-सार" की भूमिका के रूप में थी, पीछे—उनकी मृत्यु के उपरान्त "सूरदास" नाम से अलग छपी; किन्तु जायसी पर आलोचना "जायसी-ग्रंथावली" की भूमिका के रूप में ही है। इन आलोचनाओं में कवियों की अंतः प्रवृति की चोखी छानबीन की गई है।

लाला भगवानदीन ने सूर, तुलसी और दीनदयाल की आलोचनाएँ अपनी संपादित पुस्तकों "सूर पंचरत्न", "दोहावली और दीनदयाल ग्रंथावली" में भूमिका रूप में दे दी है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपनी कबीर की समीक्षा "कबीर वचनावली" और "कबीर ग्रंथावली" की भूमिका में सन्निविष्ट कर दी हैं। प्राचीन कवियों में से केशव, पद्माकर और मीरा के ही विषय में लोगों का अधिक ध्यान गया।

शीघ्र ही आलोचकों का ध्यान नये कवियों पर भी गया और गद्य और पद्य के प्रसिद्ध महारथियों पर पुस्तकें निकलने लगीं। "गुप्तजी", "प्रेमचन्दजी" और "प्रसादजी" के अतिरिक्त "रत्नाकर" "महादेवी वर्मा" "सुमित्रानन्दन पंत" आदिकी भी समीक्षा होने लगी। आचार्य शुक्लजी ने:—

(१) प्रो० सत्येन्द्र की "गुप्तजी की कला"
(२) श्री० रामनाथलाल "सुमन" की "प्रसाद की काव्य साधना"
(३) पं० जर्नादनप्रसाद झा की "प्रेमचन्द की उपन्यास कला"
(४) पं० कृष्णशंकर शुक्ल की "कविवर रत्नाकर"
(५) प्रो० नगेन्द्र की "सुमित्रानंदन पंत"
(६) पं० गिरिजादत्त शुक्ल "गिरीश" की "गुप्तजी की काव्य धारा" का उल्लेख किया है। नवीनतम प्रकाशनों में प्रो० विश्वम्भर "मानव" की "महादेवी की रहस्य साधना" भी उल्लेखनीय हैं।

आलोचना की संग्रहात्मक पुस्तकें भी हिन्दी में आने लगीं। अनेक कवियों या लेखकों की संक्षिप्त समीक्षाएँ ऐसी पुस्तकों का आदर्श होता था। अधिकतर रचनाएँ परिक्षार्थियों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखी गईं। पं० रामकृष्ण शुक्ल की "सुकविसमीक्षा" में कबीर, सूर तुलसी आदि पुराने कवियों के साथ-साथ भारतेन्दु-बाबू, गुप्तजी और प्रसादजी तक पर समीक्षात्मक निबंध लिखेगये हैं। इसी प्रकार पं० शान्तिप्रिय द्विवेदीकी 'हमारे साहित्य निर्माता' में कई वर्त्तमान कवियों और लेखकोंकी विशेषताओंका उल्लेख है।

नवीनतम प्रगति

साहित्य के विभिन्न अंगों, काव्य की प्रवृत्तियों, सिद्धांतों आदि पर भी इस युग में विस्तारपूर्वक विचार हुआ। साहित्य के किसी अंग का विकास, किसी कवि या काल का अध्ययन भी आधुनिक विद्वानों और रिसर्च स्कॉलरों का विषय रहा है। "हिन्दी गद्यशैली का विकास", "काव्य में रहस्यवाद" "हिन्दी काव्य की निर्गुणधारा" "देव तथा रीतिकाल" "हिन्दी में प्रकृति चित्रण" आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं, जो साहित्य के किसी न किसी अंग पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। छायावाद, आदि विषयों पर लेख तो आये दिन पत्रिकाओं में निकलते ही रहते हैं। इसी श्रेणी में "साहित्यालोचन, "रूपक रहस्य" सिद्धान्त और अध्ययन" आदि पुस्तकों को भी ले लेना होगा क्योंकि उनमें भी आलोचना के आदर्श का अध्ययन किया गया है।

वर्त्तमान हिन्दी साहित्य में आलोचकों की बाढ़ सी आ गई है किन्तु केवल कुछ लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों को छोड़कर शेष में वह सचाई (Sincerity) नहीं जो आधुनिक युग के एक वास्तविक आलोचक में होनी चाहिए।

पाश्चात्य सभ्यता के गुण दोष

—:०:—

(१) पाश्चात्य सभ्यता की प्रथम विशेषता—भौतिकता
(२) उससे लाभ तथा हानियाँ
(३) दूसरी विशेषता—नास्तिकता.
(४) उससे लाभ तथा हानियाँ.
(५) तीसरी विशेषता—व्यक्तित्ववाद.
(६) उससे लाभ तथा हानियाँ.
(७) गृहस्थ जीवन तथा उसके गुण दोष.
(८) सामाजिक जीवन तथा उसके गुण दोष.
(९) राजनीतिक जीवन तथा उसके गुण दोष.
(१०) उपसंहार।

प्रस्तावना

वर्तमान युग में यूरोप संसार का सर्वाग्रणी देश माना जाता है, उसका प्रभुत्व संसार के सभी भागों में तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। आजकल हम जो कुछ करते या सोचते हैं वह पश्चिम की ही सूझ होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आजकल सभ्य कहे जाने वाले देश और जातियाँ पश्चिम की ही संस्कृति को मानती हैं पश्चिमी संस्कृति केवल यूरोप या अमरीका में ही नहीं प्रत्युत सारे संसार में फैली हुई है। अस्तु, प्रस्तुत लेख में हम उसके स्वरूप को समझकर उसके गुण-दोषों पर विचार करते हैं।

पश्चिमी सभ्यता की सर्वप्रथम विशेषता भौतिकता (Materialism) है। जितनी जातियाँ इस सभ्यता को अपना चुकी हैं

पाश्चात्य सभ्यता की प्रथम विशेषता—भौतिकता

उनका मानसिक विकास उस श्रेणी का नहीं है जिसके द्वारा वे अप्रत्यक्ष सत्ता वाली आत्मा के अस्तित्व को समझ सकें भारत में जहाँ जगदीशचन्द्र वसु वनस्पति जगत् में भी मानवीय चेतनता का अस्तित्व मानते हैं, वहाँ यूरोप का दार्शनिक डेकार्ट (Descartes) यह समझता था कि पशुओं में जीवन नहीं होता, केवल निम्न श्रेणी की चेतनता (Consciousness) होती है, वे मशीन के समान अपना काम करते हैं इसलिये प्रायः वह एक कुत्ते को पकड़ कर उसमें एक डंडा मारकर कहता था कि "मैं मशीन को गतिशील बनाता हूँ" और जब कुत्ता भौंकता था तो कहता था कि "देखो मशीन शव्द कर रही है।' शरीर को ही सब कुछ समझने वाले दार्शनिक भारत में भी (चार्वाक आदि) हुए हैं और यूनान में भी वे भी शारीरिक सुखों को जीवन का परम ध्येय मानते थे, परन्तु ऐसे विचारकों की संख्या नहीं के बराबर रही है। यूरोप में अर्धसभ्य जीवन व्यतीत करने वाले लोग इस जीवन को पशु, पक्षी या वनस्पति के जीवन के समान ही समझते हैं। उसके अनुसार शरीर के अतिरिक्त जीवन में और कोई सत्य नहीं है, अस्तु जब शरीर नष्ट हो जाता है तव पमारे जीवन की भी इतिश्री हो जाती है। वे पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। उनके लिये शारीरिक सुख के अतिरिक्त और कोई सुख नहीं, इसलिये इसका बनाव, शृंगार, सौन्दर्य आदि ही परम ध्येय है वे इन्द्रियों के दास हैं, सभी कामनाओं की सन्तुष्टि चाहते हैं। एक दार्शनिक

फ्रायड (frued) का तो मत है कि संसार की सारी क्रियाएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यौन-सम्बन्ध (Sexual relations) पर ही आश्रित होती हैं, या तो उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप हैं या उनकी प्रतिनिधि स्वरूप। वे यह मानते हैं कि पिता स्वभावत: पुत्री को अधिक प्यार करता है और माता पुत्र को अधिक प्यार करती है क्यों कि उन दोनों में लिंग भेद (Difference of Sex) है। यूरोपीय मनोविज्ञान मानव को पशु मानकर उसको प्राकृतिक रूप देना चाहता है, वह सच्चरित्रता को अस्वाभाविक* मानता है और पत्नी तथा वेश्या में कोई अन्तर नहीं मानता— दोनों ही पैसे के लिए अपने को बेचती हैं, एक केवल एक व्यक्ति को सदा के लिए, दूसरी अनेक व्यक्तियों को नियमित समय के लिए‡। यह है यूरोपीय संस्कृति की भौतिकता जिसने समाज में नग्न-विलास और घोर अनाचार फैला रखा है।

उससे लाभ तथा हानियाँ

जैसा कि स्पष्ट होगया होगा मानव-सृष्टि को पशु-सृष्टि के समक्ष रख देना कोई बड़ा प्राकृतिक असत्य नहीं है, क्योंकि भारत में भी आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन इन चार बातों की दृष्टि से मनुष्य तथा पशु को

---

* Man is made moral by law; he is not moral by nature.

‡—"Her body being her only saleable asset, she could employ it in either of the two ways. She could sell the use of it to one ma for an indefinite period, or she could lease it to

समान ही माना गया है‡, परन्तु साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि मनुष्य में धर्म की प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि वह 'मनुष्य' कहा जाता है। पश्चिमी सभ्यता मनुष्य को केवल पशु मानती है यही उसका सबसे बड़ा दोष है। यदि मनुष्य अपने को पशुवत् समझ कर ही समाज में व्यवहार करे, अपनी बुद्धि से काम न ले प्राकृतिक प्रवृत्तियों (Natural Instincts) से ही अपना मार्ग खोजे तो समाज में व्यवस्था कैसे रह सकती है। जहाँ प्राकृतिक प्रवृत्तियों की पूछ होती है वहाँ बुद्धि को कष्ट नहीं दिया जाता। पेट भर भोजन कीजिये पैर पसार कर सोइए, शक्ति की जय होने दीजिए और नग्न विलास की क्रीड़ायें कीजिए—क्या यही जीवन है ? "मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है चाहे मैं स्वयं न जान सका हूं*।" यदि विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त को माना भी जावे तो हमारी मानवीय संस्कृति पाशव संस्कृति का अति संस्कृत रूप है फिर क्यों न उसे अधिक उच्च बनाया जावे। हम सामाजिक प्राणी हैं हमारा जीवन पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है, हम अपने अन्य कार्यों पर भी सभ्यता का ऐसा आवरण डालें कि हमारे और काम भी

---

a number of men for short and strictly regulated periods. The first method is called marriage, the second as prostitution."

—*C. E. M. Joad : the future of Morals.*

‡ आहार–निद्रा–भय मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेणहीना पशुभिः समानाः।

* प्रसादः स्कन्दगुप्त।

धर्म ही बन जावें१, अन्यथा 'पर्दे के भीतर तो सभी नंगे हैं", हम साक्षात् पशु ही हो जावेंगे हमको यही तो निश्चय करना है कि हमको पशु बनना है या ब्रह्म। उपनिषद् की पुकार है कि "तू ही ब्रह्म है२", अन्य दार्शनिक भी कहते हैं कि मानव जीवन तो केवल एक पुल है हमारा अन्तिम उद्देश्य नहीं३, स्वर्ग भी हमारी यात्रा में एक विश्रामस्थल है४। भौतिकता से पारस्परिक स्नेह का ह्रास होता है, स्वार्थपरता की वृद्धि होती है, जीवन में धर्म-निर्वाह न होने से बरबादी आ जाती है५। यह भौतिकता का ही फल है कि एक देश दूसरे देश को मिटा देना चाहता है, एक जाति दूसरी जाति को दास बना लेना चाहती है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को खा जाना चाहता है। वस्तुतः यह एक आश्चर्य की बात है कि "एक भावुक व्यक्ति इस सस्ते सुख से जिसमें कुछ भी हृदय तक नहीं पहुँचता, कैसे सन्तुष्ट रह सकता है६।

१—अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः। —रघुवंशम्।

२—तत्त्वमसि (वह तू ही है)।

३—Man is to be surpassed. He is a bridge and not the goal. —Nietzssche.

४—स्वर्ग भी है एक विश्राम हमारी यात्रा में।
—मैथिलीशरण गुप्त : नहुष।

५—अपना-अपना धर्म निबाहें यदि दम्पति तो शादी है।
या फिर हृदय-हीन सौदे में दोनों की बरबादी है॥
—नूरजहाँ।

६—"Indeed I haveoften beensurprisedhow a man of sentiment could ever admire those

पश्चिमी सभ्यता की दूसरी विशेषता है नास्तिकता। जब शरीर तथा इन्द्रियजन्य सुख ही जीवन का सर्वस्व है तो न आत्मा का कोई स्थान रहा न ब्रह्म का, न पुनर्जन्म है, न सब संसार का संचालक कोई परमात्मा। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप का प्रधान धर्म ईसाई धर्म ईश्वर को मानता है, हाँ अन्य पैगम्बरी मतों के समान इसमें भी ईश्वर का एक प्रतिनिधि (वाइसराय) संसार में आया था जो लोग उसके प्यारे हैं वे उसकी सिफ़ारिश से स्वर्ग पहुँचते हैं शेष सब नर्क में डाल दिये जाते हैं। परन्तु आजकल की सभ्यता में ईसाई-धर्म का उतना ही हाथ है जितना कि आजकल के भारतीय समाज में सनातन वैदिक-धर्म का हाथ; दोनों का नाम ही है काम नहीं। दूसरी ओर यूरोप का एक बहुत बड़ा भाग साम्यवादी होकर पूर्ण नास्तिक होता चला जा रहा है। श्रद्धा और विश्वास, भाग्य तथा संस्कार, पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्म केवल एक कहानी ही रह गई। प्रकृति स्वयं एक मशीन है, विज्ञान इसको बतलाता है, हम बड़े शक्तिशाली हैं हमने अपनी बुद्धि द्वारा प्रकृति को भी जीत लिया है। ईश्वर जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, फिर भय या आशा किस बात की? "हम मूर्ख मनुष्यों ने आप की—शरण की—आशा से ईश्वर पर पूर्वकाल में विश्वास किया था, परस्पर के विश्वास और सद्भाव को ठुकरा कर। मनुष्य मनुष्य का विश्वास नहीं कर सका; इसीलिए तो एक सुखी

दूसरी विशेषता—नास्तिकता

---

light airy pleasures where nothing reaches the heart."

—(Goldsmith : She Stoops to Conquer)

दूसरे दुखी की ओर घृणा से देखता था। दुखी ने ईश्वर का अवलम्बन लिया, तो भी भगवान् ने संसार के दुःखों की सृष्टि बन्द कर दी क्या ?"१

ईश्वर को न मानने वाले और ईश्वर को मानने वाले दोनों में कोई अन्तर यदि है तो केवल भावना का। नास्तिक कहता है कि प्रकृति स्वयं अपने कामों को मिला कर ठीक कर लेती है, आस्तिक कहता है कि विष्णु की माया बलवती है उसने संसार को मोह लिया है; पापी को स्वतः दण्ड मिल जाता है, और धर्मात्मा की अन्त में विजय होती है। यदि ईश्वर का अस्तित्व न माना जावे तो हम इस लोक के सुख-दुःख से ही पाप-पुण्य का अनुमान कर वस्तुओं का मूल्य आँकने में भूल करेंगे। हम पाप और पुण्य को केवल समाज के व्यवहार पर छोड़ देंगे२, हमारे यहाँ धर्म पर विजय निर्भर न रहेगी३ प्रत्युत अपनी कमियों को ही गुण समझ लेंगे४ विजयी को हम देशभक्त तथा पराजित को विद्रोही समझने लगेंगे५।

उससे लाभ तथा हानियाँ

१—प्रसाद : आँधी।

२—"पाप और पुण्य कुछ नहीं है यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बड़ा भाग यदि उसे व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है। —प्रसाद : कंकाल

३—यतो धर्मस्ततो जयः।

४—We make a virtue of our deficiencies.

५—"The rebel is the patriot who fails, the Patriot is the rebel who prevails.
—C. E. M. Joad : The future of Morals.

वस्तुतः ईश्वर को न मानने से जीवन अत्यन्त संकुचित हो जाता है और हम निकट स्वार्थ को ही सब कुछ समझकर दृश्यमान संसार-सुखों के भोक्ताओं का अनुकरण करते हुए पापों में ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। किसी भी कार्य की सफलता में अपने को ही सब कुछ समझते हुए हम असफल होकर उद्विग्न जीवन व्यतीत करते हैं। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संसार में ईश्वर का अस्तित्व है, परन्तु इस अस्तित्व के बिना काम नहीं चल सकता, हमको न्यायकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी एक ईश्वर की आवश्यकता होती है; यही प्रसिद्ध दार्शनिक कॉट का मत है।

पश्चिमी संस्कृति का तीसरा महान् दोष व्यक्तित्ववाद (Individualism) है। घर पर, समाज में, राजनीति में सर्वत्र ही व्यक्ति का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। समाजशास्त्र (sociology) स्वयं बतलाता है कि आजकल के युग की एक यह विशेषता है कि स्थिति की अपेक्षा व्यक्ति (From status to contract) का महत्त्व बढ़ रहा है। हम दूसरों के पुराने सिद्धान्तों को नहीं अपनाते प्रत्युत अपने नये-नये प्रयोग कर जीवन की परीक्षा करते हैं 'हमारा आधे से अधिक जीवन इन प्रयोगों में ही बीत जाता है[१], और हम प्रायः निराश होकर नष्ट हो जाते हैं[२],

> तीसरी विशेषता—व्यक्तिवाद तथा इसके गुण-दोष

१—have been but an observer upon life, madam while others were enjoying it.
Goldsmith : She Stoops to Conquer.

२—Shall I, wasting in despair,
Die because a woman's fair.
—True Story Magazine.

परन्तु जो लोग दूसरे के अनुभव को सत्य मानकर चलते हैं उन को शान्ति मिलती है, उनको यह नहीं कहना पड़ता कि मैं अपने जीवन का अन्त करलूँ१ प्रत्युत वे लोग इस क्षणिक जीवन२, को सुखी बनाने के लिए ही प्रत्येक सुख को ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं३,। इस छोटे से जीवन में इतना अवकाश कहाँ है कि हम स्वयं सारे संसार की परीक्षा कर निस्संदिग्ध वस्तु से लाभ उठावें, "भगवान् की विराट विभूति में से हम निस्संदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्रा को समझ लेना ही हमारा पुरुषार्थ साधारण है४ "। व्यक्तित्ववाद से हममें स्वार्थ की मात्रा अधिक आती है और हम अत्यधिक स्वपरक (Egoistic) हो जाते हैं ; प्रायः हम इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि "पुरुष और स्त्री को विवाह करना ही चाहिए। एक-दूसरे के सुख-दुख और अभाव आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिए सदैव प्रयत्न करता रहे५"। आजकल के जीवन में जो इतना उद्विग्नता तथा

1—No one loves me and I have no one to love Is suicide a crime in one who is useless to others and unsupportable to herself.

—Aerial.

२—मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नहीं किया परन्तु भिक्षु भी न बन सका। (प्रसाद : चन्द्रगुप्त)

३—......aud life is so short and insecure that I would not hurry away from any pleasure.

—Represeniative Stories.

४—प्रसाद : इरावती। ५—प्रसाद : तितली।

इतना असन्तोष है उसका बहुत कुछ कारण यही व्यक्तित्ववाद है, हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) तथा श्रेष्ठता ग्रन्थि (Superiority Complex) भी इसी दोष की उपज है।

गृहस्थ जीवन तथा उसके गुण-दोष

पश्चिम की इस संस्कृति का बुरा प्रभाव सब से पहिले गृहस्थ जीवन पर पड़ता है। यूरोप का गृहस्थ-जीवन भारतीय गृहस्थ-जीवन के समान प्रेम, कर्त्तव्य तथा त्याग पर निर्भर नहीं है, प्रत्युत उसमें व्यक्तित्व, स्वार्थ तथा पारस्परिक स्वच्छन्दता की प्रधानता है। उसका विवाह किसी स्वाभाविक सम्बन्ध पर निर्भर नहीं, केवल थोड़ी बाहरी टीमटाम तथा बाहरी सौन्दर्य से ही सौदा हो जाता है। "जब एक लड़की अपने किसी साथी की बाहरी बातों को अपनी रुचि के अनुकूल पाती है तब वह उसकी शेष वस्तुओं को देखने लगती है। उसके लिए सुन्दर आनन सुविचारों का द्योतक है और सुन्दर रूप प्रत्येक गुण का स्थान है१। उसमें विवाह भी किसी अन्य से प्रेम करने में बाधक नहीं है२, क्योंकि "प्रेम तो आत्मा की घनिष्ठता है वह घनिष्ठता कोई बड़े महत्त्व की वस्तु नहीं होती३,,।

1—When a girl finds a fellow's outside to her taste. She then sets about guessing the rest of his furniture. With her, a smooth face stands for good sense, and a genteel figure for every virtue.

—Goldsmith : She Stoops to Conquer.

2—Being married is no guarantee against falling in love.

३—भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा।

इसीलिए यूरोप में जितना अधिक प्रचार विवाह का है उतना ही विवाह-विच्छेद (Divorce) का भी। विवाह के विषय में भी अनेक प्रकार के प्रयोग हो चुके हैं। आजकल रूस में एक नवीन प्रकार का विवाह प्रयोग-विवाह (Trial Marriage) प्रारम्भ हो गया है, कुछ दिन के लिये यह देखने के लिये विवाह किया जाता है कि दोनों का जीवन सुखी होता है या नहीं। प्रायः कोई विवाह स्थायी नहीं होता। रूस में संतान सरकारी सम्पत्ति हो जाती है, माता-पिता को उनसे कोई प्रेम नहीं होता यूरोप की नारी न माता बनना चाहती है, न बहिन या पत्नी बनना वह केवल रमणी ही बनी रहना चाहती है, उसका यौवन उसका जीवन है। वात्सल्य, कोमलता तथा करुणा का उसके हृदय में कोई स्थान नहीं, वह पति की सेवा नहीं कर सकती। पुरुष भी केवल युवक के ही रूप में दीख पड़ता है, वह अपना पत्नी के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं समझता, केवल उन कामों को करता है जिनके न करने से उसको राजकीय दण्ड भोगना पड़ेगा। यूरोप के कुटुम्ब में वृद्ध माता-पिता या बहिनों को कोई स्थान नहीं। इस भाँति हम देखते हैं कि पश्चिम का गृहस्थ-जीवन पशु-जीवन के इतने अधिक निकट है कि उसमें आत्म-विकास को कोई स्थान नहीं। ऐसे गृहस्थ-जीवन से तो बनवास ही अच्छा*।

सामाजिक जीवन और उसके गुण दोष

पाश्चात्य संस्कृति ने सामाजिक जीवन भी दूषित कर रखा है। जब स्वकीयत्व की अत्यधिक प्रधानता आ जाती है तो गृहस्थ-जीवन में जो जो दोष आ जाते हैं उनको हम ऊपर दिखला चुके हैं। गृहस्थ-जीवन

* माता यस्य गृहे नास्ति, भार्या चाप्रियवादिनी।
वनं तेन प्रविष्टव्यं यथा गृहं तथा वनम्॥

नागरिक जीवन का प्रथम सोपान है, अपने अधिकार तथा कर्तव्यों का जैसा अनुभव तथा उपभोग हम वहाँ सीखते हैं वैसा ही आगे चलकर सामाजिक तथा नागरिक जीवन में भी करते हैं। जब गृहस्थ-जीवन ही स्वार्थपरक होगा तो निश्चय ही सामाजिक जीवन अधिक स्वार्थमय हो जावेगा। क्योंकि गृहस्थ-जीवन में स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Natural Instincts) के कारण हम त्याग तथा उदारता दिखलाते हैं, परन्तु सामाजिक जीवन में इन प्रवृत्तियों का कृत्रिम अनुकरण भर होता है। फलतः हमारा सारा जीवन दिखावटी होता है। यूरोप की मित्रता, मित्रता नहीं केवल जान-पहिचान भर है; एक मित्र दूसरे मित्र से चालबाजी की बात करता है हृदय की नहीं; सुख-दुःख में साथ देने वाले मित्र यूरोप में नहीं मिल सकते; एक मित्र को अपना रहस्य बतला देना अपने ऊपर एक आपत्ति मोल लेना है। सामाजिक प्राणी कहलाकर भी यूरोप का मनुष्य दूसरे साथी से बिना मतलब बात न करेगा। एक ही पड़ौस में रहते-रहते अनेक वर्ष व्यतीत हो गये पर एक दूसरे से कोई घनिष्ठता नहीं। हम जब थर्ड क्लास की गाड़ी में बैठकर कहीं जाते हैं तो लगभग सभी यात्रियों से हमारी जान-पहिचान हो जाती है, बहुत से पता भी लिख लेते हैं किन्तु यूरोप में ऐसा नहीं, वहाँ पूर्व परिचय के बिना बात करना भी पाप है। एक व्यक्ति दूसरे को कोई सहायता नहीं दे सकता। यह सामाजिक दोष प्रधानतः भौतिकता के ही कारण है। सब लोग धन बटोरने में इतने व्यस्त हैं कि उनको दूसरे के दुःख-सुख जानने का समय ही नहीं। वहाँ "आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है*, मनुष्यता कोई वस्तु नहीं।

* प्रसाद : स्कंदगुप्त।

इस व्यवहार को देखकर "कभी-कभी तो मुझे यह चिन्ता होती है कि ऐसे कोमल हृदय पर हाड़-मांस का यह आवरण क्यों है, जो दिन-रात गर्व से फूला रहता है और हृदय को हृदय से मिलने नहीं देता*" दुःख इस बात का नहीं कि पारस्परिक प्रेम क्यों नष्ट हो रहा है परन्तु इस बात का दुःख अवश्य है कि छोटी-छोटी (सांसारिक) बातों पर इस प्रकार प्रेम की इतिश्री हो जाती है¶।

राजनीतिक जीवन

इस भाँति इस संस्कृति का प्रभाव आगे चलकर राजनीतिक क्षेत्र में पड़ता है। एक देश दूसरे देश का परम मित्र होने पर भी कट्टर शत्रु है। न जाने कब दोनों देशों में खटक जायगी। जब तक काम निकल रहा है, मित्रता चल रही है। राजनीति में कोई आदर्श नहीं होता। यों तो प्रेम तथा युद्ध में कोई आदर्श होता ही नहीं‡, आजकल शान्ति में भी कोई आदर्श नहीं। अपना अपना राज्य, अपने-अपने उपनिवेश, अपना व्यापार बढ़कर कुछ देशों, जातियों तथा मनुष्यों को अपना दास बनाकर अपने पाशविक आदर्शों की पूर्ति इस सभ्यता का राजनीतिक प्रभाव है। अभी तीस वर्ष में दो महायुद्ध हो गये, तीसरे की तैयारी है। संसार की स्थिति बिगड़ती जारही है। समय छल-कपट का ही है। कुशल वही समझा जाता है जो दो को भिड़ाकर

---

* प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ।

¶ 'tis not love's going hurts my days.
But that it went in little ways.
Quoted by "Dale Carnegie".

‡ Every thing is fair in love and war.

स्वच्छ पच बन जावे। आज सारा संसार राजनीतिक बेचैनी में पड़कर मृत्यु के दिन गिन रहा है।

उपसंहार

संसार इस संस्कृति से तंग आ चुका है और उसकी इच्छा है कि अब कोई शान्तिपूर्ण समझौता होना चाहिए। पूर्व का छिपा हुआ सूर्य फिर चमकने लगा है और सभी लोग आशा लगाये बैठे हैं कि यह शीघ्र ही विश्व को आलोकित करेगा। सत्य अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य की वह पुरानी वाणी आज फिर भारत से गूंजकर यूरोप वालों को चेतावनी दे रही है, यदि वे जाग उठे तो संसार का कल्याण होगा अन्यथा एक अपूर्व नाश ही इस संस्कृति का चरम विकास है।

हमारी भावी योजनाएँ

(क) स्वतन्त्र भारत की परिस्थिति ।
(ख) आर्थिक योजनायें—कृषि ।
(ग) व्यापार तथा व्यवसाय ।
(घ) सामाजिक—नवीन समाज ।
(ङ) शिक्षा-सम्बन्धी ।
(च) अन्य विषय ।
(छ) उपसंहार ।

स्वतन्त्र भारत की परिस्थिति

अनेक वर्षों के स्वतन्त्रता-संग्राम के अनन्तर भारत से विदेशी शासन का उठ जाना एक युगान्तकारी घटना है। न जाने कितने वीरों ने अपने प्राण निछावर कर दिये, न जाने कितनों का तन, मन, और धन इस परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने में लग गया। तब कहीं आज का यह दृश्य देखने को मिला है। अभी तक स्वराज्य का केवल इतना ही अर्थ जनता की समझ में आया है कि अंग्रेज देश से चले गये। निश्चय ही कुछ बड़े-बड़े लोग आज देश के भाग्य का निर्माण कर रहे हैं परन्तु साधारण जनता को इससे कोई लाभ नहीं। क्यों कि ये लोग स्वराज्य का कोई प्रत्यक्ष रूप अपनी आँखों के सामने नहीं देख रहे। अस्तु, अब आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही देश में एक लहर आर्थिक स्वतन्त्रता तथा फिर सामाजिक स्वतन्त्रता की भी आनी चाहिए। जब कोई शासक और शासित नहीं तो कोई

धनी-निर्धन या ऊँच-नीच भी न होना चाहिए। स्वतन्त्रता का प्रत्यक्ष अर्थ भारत की जनता स्वयं अपनी आँखों से देख सके, यह सभी बुद्धिमान् लोगों की कामना है। इधर संसार तथा देश की परिस्थितियाँ भी इस कार्य के लिए तैयार हैं।

इस योजना में सर्व प्रथम स्थान धन-संपत्ति का है। हमारे

आर्थिक योजनायें—कृषि

देश के रहने का दर्जा इतना गिरा हुआ है कि हम जितने दीन हैं इससे अधिक दिखाई पड़ते हैं। हमारे देश में कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं जिनको भर पेट भोजन पर्याप्त वस्त्र तथा आवश्यक शिक्षा एवं औषधि प्राप्त नहीं होती। वे मनुष्य जैसा शरीर तथा व्यवहार रखने पर भी पशु जैसे बने रहते हैं। कभी-कभी तो उनकी दशा को देख करके यह सोचना पड़ता है कि वस्तुतः "संसार ज्वालामुखी है।" जब तक इन किसान-मजदूरों की दशा में कोई परिवर्तन नहीं होगा तब तक देश की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होता। अस्तु, पहिला काम यह है कि हमारे ग्राम अधिक अच्छे बनाये जावें। किसानों को अच्छा बनाया जावे। पुराने ढंग के औजारों से खेती करने वाले हमारे किसान अमेरिका के वैज्ञानिक कृषकों से नहीं जीत सकते। उनके साधन नवीनतम ढंग के बनाने पड़ेंगे। अस्तु सबसे पहले तथा आवश्यक आर्थिक सुधार यही हुआ कि किसानों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए खेती में नवीनतम साधनों का प्रयोग किया जावे। प्रत्येक ग्राम में एक बिजली का कुआँ होना चाहिए जिससे किसानों को आवश्यकतानुसार सिंचाई के लिए जल प्राप्त हो सके खेती या तो सामूहिक रूप से हो या सहकारी रूप से, छोटे-छोटे टुकड़े होने से भूमि का प्रबन्ध ठीक नहीं हो पाता। बीज आदि

के लिए सरकारी गोदाम हों, जिनसे अच्छे से अच्छा बीज सस्ते दामों पर प्रति किसान को उपलब्ध हो जाया करे। किसानों के पारस्परिक काम के लिए सहयोगी संस्थाओं (Co-operative Societies) का होना भी आवश्यक है। यदि हल के स्थान पर मशीन के हल चलाये जावें तो थोड़े ही समय में अधिक तथा अच्छी खेती जोती जा सकती है। कृषि की उन्नति भारत की अपनी उन्नति है, फिर आज तो रोटी की समस्या है। यह अधिक दिन तक ठीक नहीं कि हम अमरीका से ही गल्ला मँगवाकर अपने लोगों को भरपेट भोजन करावें। किसानों के जीवन को अधिक सुखी और स्वतन्त्र बनाना स्वतन्त्रता का पहिला चिह्न होगा।

व्यापार तथा व्यवसाय

यद्यपि कृषि ही हमारे देश का प्रथम व्यवसाय है फिर भी आजकल के युग में केवल खेती से ही काम नहीं चलता, हमको अन्य व्यवसाय तथा व्यापारों को भी सुधारना चाहिए। आजकल देश में बाहर से बहुत सारी वस्तुएँ आती हैं, जिनके बदले में हमारा स्वर्ण बाहर चला जाता है। यदि हम इन वस्तुओं को स्वयं तैय्यार कर लें तो बहुत-सा धन देश का देश में ही रह जावेगा। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे यहाँ अनेक व्यवसाय चलाये जावें। सभी मशीनों को बनाकर प्रयोग में लाना देश की सम्पत्ति का वर्धक होगा। साथ ही साथ ग्रामीण व्यवसाय को भी बढ़ाना चाहिए, जब तक देश में घरेलू उद्योग-धंधे प्रारम्भ न किये जावेंगे तब तक समृद्धि की कोई आशा नहीं। आजकल जो तेजी का इतना बड़ा भूत सारे देश को व्याकुल कर रहा है, उसका निदान श्रीविश्वेश्वरैया के मत में यही है कि प्रत्येक ग्राम या कुछ ग्राम मिलकर अपने को स्वतः पूर्ण

(S lf Sufficient) बनावें, ग्राम-ग्राम में घरेलू उद्योग-धंधे (Cott ge Industrie-) फिर से प्रारम्भ किये जावें तथा उत्पत्ति (Production) के साथ-साथ वितरण (Distribution) में भी नवीनतम सुधार हो। हमारी छोटी-छोटी आवश्यकताओं से लेकर विलासोपकरणों (Luxuries) तक में अपने देश की मुहर होनी चाहिए। जो रुपया हम कौड़ी-कौड़ी करके इकट्ठा करते हैं वह एक साथ किसी भी वस्तु के क्रय में बाहर चला जाता है।

इन आर्थिक योजनाओं का यह फल होगा कि देश में

पूँजीवाद या समाजवाद

सम्पन्नता एवं समृद्धि आ जावेगी, किन्तु समस्या एक दूसरी भी है। देश की आर्थिक नीति दो प्रकार की हो सकती है—एक पूँजी मूलक (Capitalistic Economy) दूसरी समाजमूलक (Socialistic Economy)। हमारे देश की स्थिति बड़ी डाँवाडोल है, यद्यपि स्वयं प्रधान-मन्त्री के विचार समाजवाद से मेल खाया करते थे परन्तु आजकल देश पूँजीवाद की ओर जा रहा है; जो कुछ समाजवाद की आशा भी थी वह भी उत्तरदायी व्यक्तियों के भाषणों से स्पष्ट हो गई कि भारत में समाजवाद की जड़ न जमने दी जावेगी। यह निश्चय है कि जो पूँजीवाद के दुर्गुण और देशों में हैं वे दूसरे देशों से भारत में भी आवेंगे और हमारी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ न रहेगा। समाजवाद में (या आगे बढ़ कर साम्यवाद में) जनता को सब कुछ समझ कर स्वयं ईश्वर का भी कोई महत्त्व नहीं माना जाता, परन्तु पूंजीवाद में रुपये को ही सब कुछ समझ स्वयं मनुष्य और ईश्वर को भी उसके चरणों पर निछावर कर दिया जाता है। इस भाँति समाज-

वाद पूँजीवाद से अच्छा है। यदि हमारे देश का व्यापार तथा व्यवसाय स्थायी रूप से अच्छा बनना चाहता है तो हमको समाजवाद के सिद्धान्तों को अपनाना पड़ेगा।

समाजवाद के अनन्तर जब हम धनी एवं निर्धन का भेद मिटा देंगे तो वह समस्या जो आज के समाज को बड़ा व्याकुल कर रही है, शीघ्र ही सुधर जायगी। आज हिन्दू समाज में जो ऊँच-नीच का भेद है उसका आर्थिक कारण है। यदि एक हरिजन एक बड़ा सेठ या एक बड़ा पदाधिकारी बन जाता है तो सभी लोग उससे मित्रता करना चाहते हैं, उसके पास बैठे रहना चाहते हैं, उसमें छुआछूत नहीं रहती। परन्तु एक निर्धन व्यक्ति न तो सभ्य होता है, न पढ़ सकता है, न धनी बन सकता है तब निश्चय ही उसकी छाया पाप है। सरकार का यह प्रयत्न है कि अच्छी-अच्छी नौकरियों पर हरिजनों की अनिवार्य नियुक्ति कर उनको प्रोत्साहन दिया जावे, यह नीति गलत है। जो हरिजन "सेठ" है, पहिले से ही स्वयं धनी है, उसी की संतान को ऐसे अवसर मिल पाते हैं; जो बेचारे ग्रामीण हैं, गरीब हैं उनको कभी भी कोई अवसर नहीं मिल सकता। निकट भविष्य में स्वयं हरिजनों में ही दो वर्ग हो जावेंगे, एक मंत्रियों, नेताओं सेठों, पदाधिकारियों, पढ़े-लिखों का, दूसरा ग्रामीण अपढ़, निर्धन अछूत हरिजनों का। जब तक देश में समाजवादी सिद्धान्तों को लेकर समानता स्थापित न की जावेगी तब तक किसी भी सामाजिक सुधार की सम्भावना नहीं। महात्मा गांधी का स्वप्न था—एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें जाति धर्म आदि का भी भेद न होगा और न ऊँच-नीच, धनी-निर्धन का भेद होगा।

सामाजिक योजना

आशा है राष्ट्रपिता की इच्छा को फलवती देखने के इच्छुक विद्वद्गण इस समाज-सुधार के लिए समाजवाद को अपनावेंगे।

देश को कुछ अन्य योजनाओं की भी आवश्यकता है। अभी तक हमारी शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की नहीं है कि हमको अधिक अच्छे देश-सेवक, देश-शासक, विद्वान्, साहित्यज्ञ तथा वैज्ञानिक आदि दे सके, अधिकतर लोग नौकरी के लिये ही पढ़ते हैं और नौकरी का ही प्रयत्न करते हैं, स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं कर सकते। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना एक दूसरा दुर्भाग्य है, जितनी शक्ति विदेशी भाषा के पढ़ने में नष्ट होती है उतनी से मस्तिष्क अधिक-प्रकृष्ट बनाया जा सकता है। स्वतन्त्र देश के लिये औद्योगिक शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि उद्योग-धन्धों के बिना कोई भी देश सम्पन्न नहीं हो सकता। भारत की रक्षा के लिये हमारे पास एक सशक्त सेना होनी चाहिए, यदि नवयुवकों को सामान्य शिक्षा के साथ सैनिक शिक्षा भी दी जावे तो एक तो इनका स्वास्थ्य तथा मस्तिष्क अधिक अच्छा बनेगा दूसरे वे उत्तरदायित्व का अनुभव कर सर्वदा देश की सेवा करने को तैयार रहेंगे। वर्त्तमान शिक्षा से हमारा चारित्रिक विकास नहीं होता, हमारी भारतीय शिक्षा ही हमारे चरित्र को ऊँचा उठाकर हमको कर्त्तव्य-परायण बना सकती है। देश में सामान्य शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होनी चाहिए, ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर में बालक बालिकाएँ सभी के लिये साक्षरता आवश्यक हो। हमारी भावी उन्नति का अधिकतर भार शिक्षा पर ही पड़ता है। यदि हम वस्तुतः उन्नति चाहते हैं तो एकदम इसमें परिवर्तन कर इसका कलेवर सुधार दें।

शिक्षा सम्बन्धी योजना

इन बड़े २ सुधारों के अतिरिक्त कुछ अन्य किन्तु अधिक महत्व पूर्ण सुधारों की भी आवश्यकता देश को है जिसप्रकार किसानों के

अन्य आवश्यक विषय

भले के लिये जमींदारी प्रथा को समाप्त किया जा रहा है, या हिन्दू धर्म में सुधार करने के लिये हिन्दू-धर्मावलम्बी का संग्रह (Codification of the Hindu Law) किया जा रहा है, उसी प्रकार और भी कई योजनाएँ हैं। ग्राम को शासन की एक इकाई मान कर सफलता पूर्वक सुधार करने के लिए पंचायत की जो संशोधित प्रथा संयुक्तप्रान्त में चली थी, उसका अनुकरण दूसरे प्रान्त भी कर रहे हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि प्रजातन्त्रवाद की मूल होने के कारण पंचायत प्रथा उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि ग्रामों में इतनी शिक्षा न हो कि सभी निवासी अपने कर्तव्य एवं अधिकारों को समझ सकें। इस कथन में सत्य है परन्तु यदि पंचायतों को धीरे धीरे अधिकार दिये जायँ तो वे शीघ्र ही सफलता भी दे सकती हैं। ग्राम-निर्माण एक प्रधान समस्या है। प्राचीन वैदिक युग में जिस प्रकार एक प्रदेश का शासन ग्राम से ही प्रारम्भ होता था, उसी प्रकार आज कल भी होना चाहिए। प्रत्येक ग्राम में बिजली हो जिस से पानी, प्रकाश तथा रेडियो का प्रबन्ध हो सके। प्रत्येक ग्राम में सड़कें तथा कुछ ग्रामों के बीच रेलवे लाइन हो, जिससे किसान तथा अन्य उद्योग वालों को अपना सामान भेजने में सुविधा हो सके। प्रत्येक ग्राम में एक चिकित्सालय एवं औषधालय, एक मिडिल स्कूल, एक पुस्तकालय, एक वाचनालय, तथा एक सभा भवन हो। यदि नीचे से शासन की नींव दृढ़ होती चली जावेगी तो ऊपर भी दृढता आवेगी, आज के शासन का एक प्रधान

दोष यह है कि उस में काम ऊपरसे लादा जाता है, नीचे से नहीं उठाया जाता। जब तक प्रत्येक ग्राम एक कस्बा न बन जायेगा तब तक यह स्वयम् स्वतः पूर्ण (Self Sufficient) नहीं हो सकता और जब तक ग्रामों की समस्या न सुलझाई जावेगी, तब तक देश का शासन सफल नहीं हो सकता। भावी भारत का भव्य भवन ग्रामों की भित्ति के भरोसे पर रह सकता है, अन्यथा नहीं।

समय के साथ साथ हमारे देश में भी परिवर्तन हो रहा है।

उपसंहार

अब तक तो केवल दोष निकालने का ही अवसर था और हम विदेशी शासन की भूलों की कटु-आलोचना किया करते थे परन्तु अब सारा भार हमारे ऊपर आ गया है, हम केवल दूसरे की आलोचना करके ही सुखी नहीं रह सकते। धीरे धीरे नेता लोग महात्मा गांधी के आदर्शों को यथार्थ रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। "लोक-सेवक-संघ" तथा "सर्वोदय समाज" के द्वारा कांग्रेसी-जन भी जनता की सेवा को प्रस्तुत हैं और समाजवादी पार्टी तथा साम्यवादी पार्टी द्वारा अन्य वर्ग भी जनता के अधिक समीप आने लगे हैं। इधर अब नेता-गारी केवल बातों तथा हथकण्डों की ही न बनकर रचनात्मक कार्य तथा विद्या-बुद्धि की ही बनती जा रही है। आशा है शीघ्र ही भारत का अभ्युदय होगा, और एक बार फिर संसार में आर्य संस्कृति का प्रकाश फैलेगा।

"गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओंके लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े! एक बार वह उद्बोधन गीत गादो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ। —प्रसाद : स्कन्दगुप्त।

सर्वं परवशं दुःखम्

(क) सुख के जीवन में महत्त्व ।
(ख) सुख के आवश्यक साधन ।
(ग) पराधीनता-किस प्रकार की ।
(घ) मानसिक पराधीनता ।
(ङ) पराधीनता तथा उत्तरदायित्व ।
(च) उपसंहार ।

जीवन में सुख का महत्त्व

कुछ विचारकों का मत है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य (Summum Bonum) धर्म (Virtue) है दूसरे यह कहते हैं कि जीवन में सुख (Pleasure) प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए । दार्शनिकों में वाद-विवाद तो चलता रहता है, परन्तु सामान्य जन को इस झगड़े में न पड़कर दोनों के साधनों का प्रयत्न करना चाहिए÷ । क्योंकि यद्यपि सन्तुष्ट सूअर के जीवन से असन्तुष्ट मनुष्य रहना अधिक उत्तम है,× फिर भी जीवन इतना क्षणिक तथा अस्थिर है कि

÷Whether philosophers are debating whether virtue or pleasure be the ultimate good, do you provide yourself with the instruments of both.
—Bacon : Riches.

×It is better to be human being dissatisfied than a pig satisfied. —J. S. Mill.

कोई भी किसी को सुख से भागना उचित नहीं समझताx। वस्तुतः सभी देशों के विचारकों ने सभी कालों में सुख का ही महत्त्व सबसे बड़ा बतलाया है, यह दूसरी बात है कि उनके साधन एक दूसरे के कथित साधनों से सदा भिन्न रहे हैं। कुछ लोग सुख का अर्थ सांसारिक सुख (Pleasure), कुछ आनन्द (Happiness) तथा कुछ निवृत्ति (Bliss) किया करते हैं; और उसी अर्थ के अनुसार उनकी परिभाषा और उनके सुख के साधन भी भिन्न ही रहते हैं। पहिले कुछ विद्वानों के मत की परीक्षा कर, उनके साधनों की जाँच करनी चाहिए।

सुख के आवश्यक साधन

सम्पन्नता (Prosperity) को सुख (Pleasure) का साधन समझ कर कुछ विद्वान यह मानते हैं कि न तो सदा किसी को सुख ही मिलता है और न सदा किसी को दुःख ही, पहिए की धुरी के समान सुख और दुःख दोनों घूमते हुए रहते हैं१। इस लिए व्यक्ति को सदा अपने कार्य में यथाशक्ति लगे रहना चाहिए, जो ऐसा करेगा उसको लाभ होगा और सुख मिलेगा२। इसलिए जो कोई

x"......and life is so short and insecure that I would not hurry away from any pleasure."

—Representative Stories

१—कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

—कालिदासः मेघदूतम्

२—अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ विदुर नीति ।

काम किया जावे उसे भरसक प्रयत्न से करना चाहिए तब अन्त में उससे सम्पन्नता प्राप्त होगी३ और सुख मिलेगा४। जो लोग निराशावादी हैं वे संसार की सभी कामनाओं को असंभव मानते हुए५ यह कहते हैं कि जीवन में सुख यही है कि थोड़े दिन के लिये आये और फिर चल दिये६। सुख यदि मिल सकता है तो मानसिक ही; मनुष्य को अपनी परिस्थितियों पर ही सन्तुष्ट रहना चाहिए क्योंकि उसके भाग्य में कभी परिवर्त्तन नहीं हो सकता७। क्योंकि मनुष्य अपने वर्त्तमान से उत्तम भाग्य का अधिकार नहीं है८। वस्तुतः जिन लोगों ने जीवन भर सुख प्राप्ति का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सके, उनके ऊपर कितनी दया आती है उनसे तो अच्छा है वही व्यक्ति जो कम से कम मन को समझा

३—"In every work that he began.......he did it with all his heart, and prospered."

—Bible,

४—Know what thou canst work at and work at it like a Hercules. —Carlyle.

५—मनोरथानामगतिर्न विद्यते। —कालिदासः कुमारसम्भवम्

६—जीवन में बहुत न रुकना, रुकने में दुख ही दुख है।
आये चल दिये चमक कर, बन धूम्रकेतु यह सुख है॥

—नूरजहाँ

७—Content yourself with what you are. for you will never change. —Representative —stories,

८— "And thou art worthy that thou shouldst not know more happiness than this thy present lot." —Milton : Comus,

कर-इतना तो कह सके कि—"मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ। और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नहीं किया; परन्तु भिक्षु भी न बन सका" (प्रसाद: चन्द्रगुप्त)। यह सत्य है कि सम्पन्नता अनेक पापों की जड़ है किन्तु आपत्तिल सन्तोष भी जीवन को नष्ट कर देता है—जिन लोगों की इच्छाएं मिटती हैं वे स्वयं भी मिट जाते हैं।

मानसिक सुख और उसका साधन

जिन लोगों की कामनाएँ मिट चुकी वे मौन होकर संसार को देखते रहते हैं उसको भोग नहीं सकते[1] उनमें सोचने की मात्रा अधिक आ जाती है-इसलिये वे प्राय: अच्छे नहीं होते[2], ऐसे लोग भले ही कुछ भी सोचते हों पर अपने साथ दूसरे के भाग्य को न नष्ट करें[3] इसी में भलाई है। यद्यपि ऐसे लोग यह सोचते हैं कि सुख कल्पना में ही है-क्योंकि दिन रात परिश्रम करते-करते घिस जाने वाला व्यक्ति यों ही मरता रहता है और काल्पनिक सुख लेना वाला सदा उस सुख को भोगता रहता है[4], फिर भी यह एक कटु सत्य

१—I have been but an observer upon life, madam, "while others were enjoying it"

—Goldsmith : She Stoops to Conquer.

२—"He thinks too, much, such men are dangerous." —Shakespeare : Julius Caesar.

३—"I do not care in the least what you think, but don't ask me to unite my lot with you." —Aerial.

४—For the dreamer lives for ever,
And the toiler dies in a day.

—True story Magazine.

है कि जो अधिक भावुक होता है उसका जीवन दुःखी ही रहेगा और जो अधिक विचारशील होगा उसका अधिक सुखी रहेगा÷। अनुत्साह जीवन के सुख का हरण करता है×, परन्तु जीवन का सुख इसीमें है कि हम जीवन को अधिकसे अधिक अच्छा बनावें‡। यदि कोई पूर्णता को सुख का साधन मानता है तो यह उसकी भूल है, संसार में पूर्ण कोई न है ही, न हो ही सकता है। इस भाँति यह निश्चय हुआ कि सुख सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा नहीं रखता, वह आन्तरिक वस्तु है और अपने भीतर ही रहने के कारण वह शुद्ध मानसिक है; जो सुख चाहता है उसे बाह्य पदार्थों का नियमन करते हुए मानसिक आनन्द की प्राप्ति का प्रयत्न भी करना चाहिए, जब तक उसका उद्वेग नहीं मिटता तब तक वह सुख का अधिकारी नहीं हो सकता।

पराधीनता किस प्रकार की

विदेशी शासन को पलटकर भारत में स्वतन्त्र शासन स्थापित करते हुये नेता लोग शायद कभी कभी यह सोच लेते होंगे कि जब देश स्वतन्त्र हो जावेगा तो धन-धान्य की समृद्धि होगी, सबको शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य लाभ होगा, लोग

÷ "Life is a comedy to him who thinks, a tragedy to him who feels." —Walpole.

× Discouragement is the common denominator or of all unhappiness.

‡ Happiness is the interest that is paid to man by nature for investments in the good of life. It is not the reward of perfection.

सौ वर्ष तक जीवेंगे, न भय होगा न कष्ट[१]। इस राम-राज्य की कल्पना जिसमें सब लोग दैविक; दैहिक और भौतिक तापों से मुक्त होकर[२] परमार्थ प्राप्ति का प्रयत्न करेंगे स्वयं महात्मा गांधी को भी मान्य थी। परन्तु आज जब हम यह देखते हैं कि दशा में अन्तर नहीं पड़ा तो कभी-कभी बड़ी निराशा होती है; और न भी हो तो कैसे जब केवल राजनीतिक स्वतन्त्रा का अर्थ हम आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता भी समझ लेते हैं। अस्तु भले ही हम सभी वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण (Nationalize) कर दें, हमारा वाह्य जीवन भले ही मधुर बन जावे हमको "सुख" की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सुख तो मानसिक वस्तु है। सांसारिक समृद्धि तो उस समय तक ही मान्य है जब तक कि उसकी प्राप्ति नहीं होती, एक बार विरक्ति हो जाने पर मन इसमें नहीं रमता[३]. फिर आदमी सर्वत्र उस स्थायी सुख की खोज करना चाहता है जिसकी प्राप्ति साधारण बात नहीं[४]। अस्तु राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि इससे हमको केवल सांसारिक सुख (Material pleasure) ही मिल सकता है, जो नगण्य है, वास्तविक आनन्द तो वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। "किसी कर्म को करने के पहले उसमें सुख की

१—पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्काः निरीतयः। —रघुवंशम्

२—दैविक, दैहिक, भौतिक तापा।
राम-राज्य काहू नहिं व्यापा॥ —तुलसी

३—मेरे मन में पड़ गई ऐसी एक दरार।
फाटा फटकि पसाण ज्यों मिला न दूजी बार॥ —कबीर

४—परबत-परबत मैं फिरा नयन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं जाथैं जीवन होइ॥ —कबीर

खोज करना क्या अत्यन्त आवश्यक है ? सुख तो धर्म्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुःखमय है ही। संसार के कर्मों को धार्मिकता के साथ करने में सुख की ही संभावना है ÷।

मानसिक पराधीनता से विमुक्त होकर मनुष्य सम्पूर्ण चिन्ताओं से छूट जाता है। मानसिक दासता से दुःखी होकर जब वह भगवान् से प्रार्थना करता है :--

"मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
या के लिए सुनहु करुणानिधि मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयौ।"
—तुलसी।

तो कभी स्वयं भी क्रन्दन करता है :—

मानसिक स्वतन्त्रता और मन पर विजय प्राप्त करना

"मैं मन बहुत भाँति समझायौ।
कहा कहौं दरसन रस अटक्यौ
बहुरि नहीं घट आयौ।
× × ×
अति विपरीत भई सुनि सजनी।
मुरझ्यौ मदन जगायौ ॥
—सूरदास।

कभी वह अपने मन को ही रोकता है :—

१—"मैं भँवरा तोइ बरजिया, बन-बन बास न लेइ,।
अटकैगा कहुँ बेल से, तड़पि-तड़पि जिय देइ ॥,, —कबीर

२—देखो कँकरीला पथ है, घे सुध फिसल न जाना।
मैंने अपने को रोका, पर मन ने तनिक न माना ॥ —अतीत।

मनमें आशा और तृष्णा का रहना ही सभी दुःखों का कारण है।

÷ प्रसाद : आँधी।

क्या हुआ कि आपने संन्यास ले लिया और मोक्ष के लिये आप लार टपकाने लगे जब तक सम्पूर्णकासनाओं की आहुति न होगी तब तक मानसिक सुख या आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता :—

"जो देखा सो दुखिया देखा।
तन धर सुखिया कोई न देखा।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आसा तृस्ना सब घर व्यापै, कोई महल नहीं सूना ॥ —कबीर।

जितनी इच्छाएँ हैं वे मन के विषय हैं, इस मन के ही कारण दुःख और सुख दोनों होते हैं (मन एव मनुष्याणां कारणं सुख दुःखयोः) ! यदि मन को जीत लिया जावे तो न सुख होगा न दुःख। जो मन को मार लेता है वही सच्चा विजयी है; "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत" कथन यथार्थ है। अस्तु, मानसिक स्वतन्त्रता वास्तविक सुख को देने वाली है।

यहाँ पराधीनता तथा उत्तरदातित्व का भेद भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। सामाजिक जीवन बिताने वाले प्रत्येक प्राणी के कुछ अधिकार होते हैं और उनसे सम्बन्धित कुछ कर्त्तव्य भी। यदि हम यह आशा रखते हैं कि कोई हमारा काम करते हुये हमको सहायता दे, तो हमको भी समय पर सहायता करने के लिये तैयार रहना चाहिए। कर्त्तव्य-पालन भी एक मानसिक बंधन है, उसको किये बिना हम सुख की नींद नहीं सो सकते। विद्यार्थी का कर्त्तव्य अध्ययन करना है, उसकी उसको सदा चिन्ता रहेगी और कभी-कभी तो नींद भी न आवेगी, इसीलिये विद्वानों का मत है कि विद्यार्थी को सुख से उदासीन हो जाना चाहिए क्योंकि सुख और

पराधीनता उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य-पालन

विद्या दोनों साथ-साथ प्राप्त नहीं हो सकते[१]। वस्तुतः किसी भी महान् कार्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति सुख और दुःख दोनों को समान समझकर ही सफल होता है[२]। इतना ही नहीं परमार्थ की प्राप्ति में भी दुःख को हितकारक माना गया है, जिस पर आपत्ति नहीं आई वह भी क्या सम्पत्ति का मूल्य समझेगा, जिसने कष्ट नहीं सहे वह भी क्या ईश्वर प्राप्ति का स्वप्न देख सकता है :—

हँस-हँस कन्त न पाइया जिन पाया तिन रोइ।
हाँसी खेलैं पिउ मिलैं, कौन दुहागिन होइ॥ —कबीर

इसलिए यह कहा गया है कि "बिना मरे स्वर्ग नहीं मिलता[३]"। कष्टों का जीवन में बड़ा महत्त्व है, "कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है।······सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसीलिये सुख करना ही न चाहिए[४]।" जो सांसारिक जीवन व्यतीत करेगा उसे अपने उत्तरदायित्व और अपने कर्तव्य का भी ध्यान रखना पड़ेगा, यह पराधीनता है इसलिये इससे मानसिक सुख नहीं मिल सकता। कर्त्तव्य की पराधीनता संसार की अन्य पराधीनताओं से अच्छी है परन्तु इससे भी उदासीन होना परम शान्ति का द्वार है।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदासजी का यह कथन कि पराधीनता

१—सुखार्थिनः कुतो विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेत विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्॥
२—मनस्वी कार्यार्थी न गणपति दुःखं न च सुखम्॥
३—Crosses are the ladders that lead to heaven.
४—प्रासद : स्कन्दगुप्त।

उपसंहार

में सुख अत्यन्त[1] दुर्लभ है अक्षरशः सत्य है हाँ यहाँ 'पराधीनता' का अर्थ "मन की दासता" तथा "सुख" का अर्थ "आनन्द' लिया जावे तो इस कथन में और भी विचित्रता आ जाती है, क्योंकि यदि स्वामी कृपालु है तो सुप्रबन्ध कर दास को सांसारिक सुख के साधन जुटा सकते हैं और उसे सांसारिक सुख मिल सकता है। परन्तु परमानन्द की प्राप्ति के लिए मन की दासता सर्वदा विघ्नवती होगी, जो मन को नहीं जीत सकता वह सुखी नहीं हो सकता। जो अपने व्यक्तिगत दुःख को दर्शनशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तोंमें मिलाकर देख सकता है उसके प्रति सहानभूति या दुःख-प्रस्ताव अनुचित है।[2] जो ज्ञानी हैं उनको दुख हो ही नहीं सकता:—

"देह धरे का दण्ड है, सब काहू पै होइ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोइ॥" —कबीर

१—पराधीन सुख सपनेहु नाहीं।

२—"Condolence or sympathy would be an impertinence to one who could so easily merge his private grief in broad question of abstract philosophy—

Representative Stories.

वर्त्तमान हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ

(१) प्रस्तावना—गद्य के युग में भी सफल काव्य-रचना
(२) वर्गीकरण तथा प्रवृत्ति-निरूपण में अन्तर
(३) कुछ स्थायी प्रवृत्तियाँ :—
अनुभूति सम्बन्धिनी :—
(क) दुःखवाद
(ख) राष्ट्रीयता
(ग) अनात्मवाद
(४) कुछ स्थायी प्रवृत्तियाँ :—
अभिव्यक्ति सम्बन्धिनी:—
(क) मुक्तक
(ख) छंद-बंधन
(ग) अलंकारहीनता
(५) स्थायी काव्य और उसके भविष्य पर प्रभाव

वर्त्तमान युग विज्ञान का है, इसलिये विद्वान यह मानते हैं कि इस युग में उतनी उत्तम कविता नहीं हो सकती जितनी कि

गद्य के युग में भी सफल काव्य-रचना

पहिले हो चुकी। हिन्दी साहित्य के साथ एक दूसरी भी बात है कि इस युग से पूर्व उसमें गद्य का बहुत ही कम प्रचार था, अस्तु वर्त्तमान युग गद्य प्रधान होने के कारण "गद्य-युग" कहलाता है। फिर भी यह

एक आश्चर्य की बात है कि इस युग में भी सफल काव्य-रचना की कमी नहीं है। न जाने कितने कवि आजकल हिन्दी के कलेवर को अलंकृत करते रहते हैं! वस्तुतः कहानियों और कविताओं की इतनी बाढ़ पहिले कभी न आई थी। यद्यपि कवियों की रुचि अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं, फिर भी हम इस लेख में यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसी कौन-कौनसी सामान्य भावनाएँ हैं जो प्रत्येक या लगभग अधिकतर कवियों के काव्य में पाई जाती हैं। स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार की भावनाओं या प्रवृत्तियों के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालों का नामकरण किया है—वीरगाथा काल, भक्ति-काल, रीतिकाल आदि इसी प्रवृत्ति-प्रधानता के द्योतक हैं।

ध्यान केवल एक बात का रखना होगा कि वर्गीकरण तथा प्रवृत्ति-निरूपण दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। वर्गीकरण में हम किसी भी सामान्य आधार को लेकर फैली हुई वस्तुओं की समुचित व्यवस्था कर देते हैं। जैसे यदि वर्त्तमान हिन्दीकाव्य का वर्गीकरण किया जावे तो भाषा के आधार पर "व्रजभाषा काव्य" "अवधी काव्य" तथा "खड़ीबोली काव्य" होगा, यदि छन्द-शैली के आधार पर हो तो "नवीन छन्दों वाले काव्य" "पुराने छन्दों वाले काव्य" तथा "छन्दरहित काव्य" में होगा, इसी प्रकार "महाकाव्य", "खंडकाव्य" "प्रबन्ध काव्य" "मुक्तक काव्य" आदि अन्य वर्गीकरण हैं। इनमें हमको यह ज्ञात नहीं होता कि उस काल में जनता की सामान्य चित्त-वृत्ति क्या थी; वे लोग किस प्रकार की बातें सोचते थे, उनके क्य आदर्श थे, उनका कैसा जीवन था? इसीलिये हम वर्गीकरण को

वर्गीकरण तथा प्रवृत्ति-निरूपण में अंतर

महत्त्वपूर्ण नहीं समझते; प्रवृत्ति निरूपण को ही सारपूर्ण समझते हैं।

राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करके व्यर्थ समय नष्ट न कर हम सीधे अनुभूति-सम्बन्धिनी प्रवृत्तियों पर आजाते हैं। कुछ विद्वानों का यह मत भी हमको मान्य है कि हिन्दी-साहित्य का जन्म भी दुःखवाद में ही हुआ और इसका विकास भी दुःखवाद में ही हुआ है क्योंकि प्रारंभ से ही देश की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा शोचनीय रही है, परन्तु हम डा० श्यामसुन्दर दास की इस दलील को मानते हैं कि अन्य भारतीय साहित्य के समान ही हिन्दी-साहित्य में कोरा दुःख ही नहीं है प्रत्युत दुःख तथा सुख का समन्वय है—अन्त में आशा तथा सुख के दर्शन हो ही जाया करते हैं। हाँ, आजकल की दशा कुछ भिन्न है, पराधीनता-जन्य राजनीतिक दुःख तो रहा ही है। निर्धनता, सामाजिक-बंधन, तथा इनके सभी कुफल भी अपना बल दिखलाते आये हैं, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजकल का युग विश्वासाभाव तथा मानसिक अशांति का है, पुराने युग में विश्वास था इसलिए भौतिक दुःख में भी मानसिक शान्ति थी, परन्तु आज हम भारतीय भी ईश्वर तक में कम विश्वास करते हैं—कम से कम "कवियों" का यही हाल है—, फिर शान्ति कैसे मिलेगी। जो धनी है उसे प्रेम का रोग है। जो सुखी गृहस्थ है, वह निर्धन है। जो भावुक है उसे संसार ठगता है। सारांश यह कि दुःख के अनेक रूप—और सबके सब भौतिक ही—हमको आज की कविता में दिखलाई पड़ते हैं, एक ओर इस प्रवृत्ति ने छायावाद और रहस्य-

अनुभूति-संबंधिनी प्रथम प्रवृत्ति दुःखवाद

वाद को ही जन्म दे दिया है। कुछ आलोचक तो यह मानते हैं कि आज का कवि "उजड़ा हुआ" होता है, इसलिये स्वस्थ-काव्य हिन्दी में कम है। सामान्य दुःख का उदाहरण देखिए :—

वेदना विकल फिर आई,
मेरी चौदहों भुवन में।

सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में ?॥

मेरी आहों में जागो,
सुस्मित में सोने वाले।

अधरों से हँसते हँसते,
आँखों से रोने वाले॥ (प्रसाद : आँसू)

× × ×

इस दुःखवाद के प्रधानतः दो रूप मिलते हैं—या तो असफल प्रेम या असफल महत्वाकांक्षायें। असफल प्रेम के कुछ चित्र रीतिकाल में भी खींचे गये थे और कई प्रेमी कवियों ने हृदय-द्रावक शब्दों द्वारा अपने मानस की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। गोपियों का विरह भी इसी असफल प्रेम का एक दूसरा रूप था। पीछे तो कवि स्पष्ट ही कहने लगे थे:—

दुःखवाद के दो रूप असफल प्रेम तथा असफल महत्वाकांक्षायें

(१) "विष खाय मरे कि गिरे गिरितें,
दगादार तें यारी कभी न करे।"

(२) "सुख भोरो औ दुख घनौ,
पर नारी की प्रीति।"

आज कल के लगभग सभी कवि प्रेम की असफलता से ही गंभीर बनना सीखते हैं।

(१) मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया ?
(प्रसाद : लहर)

× × ×

(२) निशा को धो देता राकेश, चाँदनी से जब अलकें खोल ।
कली से कहता था मधुमास, बतादो मधु-मदिरा का मोल ॥
भटक जाता था कोमल वात, धूलि में तुहिनकणों के हार ।
सिखाने जीवन का संगीत, तभी तुम आये थे इस पार ॥
सजग लखती थी तेरी राह, सुला कर प्राणों में अवसाद ।
पलक प्यालों से पी पी देव ! मधुर आसव सी तेरी याद ॥
(महादेवी वर्मा : यामा)

(३) दावानल सा मलयानिल, मेरी कुटिया के तीरे ।
तेरी सब विरह कहानी, कह जाता धीरे धीरे ॥
मन में आँधी उठती थी, टूटा था हृदय हमारा ।
उड़ते थे प्राण पखेरू, आशा का गया सहारा ॥
(अतीत : पश्चात्ताप)

नये कवियों में प्रेम की यह प्रवृत्ति जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं और भी अधिक पाई जाती है । दुःखवाद का दूसरा रूप भी इतना ही व्यापक है और प्रायः यह अन्तर करना कठिन पड़ता है कि यहाँ पर जो निराशा आई है वह प्रेम की है या महत्वाकांक्षाओं की, क्योंकि प्रेमियों के लिये प्रेम भी एक महती आकांक्षा है उसकी असफलता में भी जीवन बरबाद हो जाया करता है । स्व० प्रसाद जी की इन पंक्तियों को देखिए :—

सुख मान लिया करता था,
जिसका दुख था जीवन में ।

जीवन में मृत्युवसी है,
जैसे बिजली हो घन में (आँसू)

प्रथम दो चरण प्रणय की ओर संकेत करते हैं परन्तु अंतिम दो सामान्य दुख की ओर इसी भाँति इन पंक्तियों में कवि ने अपने दुःख के साथ संसार के भी दुःख को देखा है :—

(१) चुन चुन लेरे कन कन से
जगती की सजग व्यथायें।
रह जायेंगी कहने को,
जनरंजन-करी कथायें ॥ (प्रसाद)

(२) बड़े-बड़े उत्साही योधा, बड़े-बड़े अभिमानी।
एकवार जा लौट न पाये, जैसे बहता पानी ॥
ऐसे ही कितने हृदयों की, चिर-संचित आशायें।
शेष रह गई क्रूर काल की,र करुणा भरी कथाएं ॥
(अतीत)

वर्त्तमान हिन्दी-काव्य की अनुभूति-सम्बन्धनी दूसरी प्रवृत्ति राष्ट्रीयता है। दुःखवाद के मूलकारणों में राजनीतिक पराधीनता को ही हम अब तक मुख्य मानते आये हैं, इसलिये आशावादी कवियों ने मातृभूमि के गौरव के बड़े मनोहर गीत गाये, और

दूसरी प्रवृत्ति—
राष्ट्रीयता

दीन-दुखियों की सेवा को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य माना है। श्री० मैथिलीशरण गुप्त तथा स्व० जयशंकर प्रसाद में तो यह भावना निरख उठी है। प्रसाद जी के नाटकों में राष्ट्रीयता के सुन्दर गीत हैं :—

"वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान ॥

जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥"

(स्कन्दगुप्त)

डा० मैथिलीशरण गुप्त ने गांधीवाद के प्रभाव के कारण, सभी काव्यों में इस भावना को भरा है, उनकी "भारत-भारती" स्वयं एक राष्ट्रीय ग्रन्थ है। अपनी मातृभूमि नामक कविता में वे लिखते हैं:—

"जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं।
घुटनों के बल खिसक-खिसक कर खड़े हुए हैं।
परम हंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये।
जिसके कारण धूलि भरे हीरे कहलाये ॥

× × × ×

जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही।
वह क्यों न हमारी पूज्य हो मातृभूमि मातामही ॥"

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की भी यही भावना फूल की अभिलाषा के रूप में प्रकट होती है:—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक ॥"

राष्ट्रीयता का ही एक दूसरा रूप सेवा-धर्म ग्राम-जीवन आदि के रूप में मिलता है। प्रायः सभी राष्ट्रीय-कवियों ने ग्रामीण जीवन तथा परिश्रम की भरपूर प्रशंसा की है:—

"एक मुहल्ले में ढोले का रंग जमा है युवकों में।
कहीं-कहीं आल्हा-ऊदल के चित्र घूमते पलकों में ॥
वृद्ध और गम्भीर लोग कुछ रामायण सुनते जाते।
दोहे-दोहे पर सब रुककर "जय जय" करते सुख पाते ॥

वृद्धा माताएँ चरखा ले कात-कातकर सूत नया।
सफल बनाती हैं जगती में जो कुछ जीवन शेष रहा॥"

(अतीत : ग्रीष्मार्त)

दुःखवाद का एक फल राष्ट्रीयता होता है तो दूसरा अनात्मवाद भी हो सकता है, क्योंकि निराशा तथा आपत्तियों में पली हुई जाति यदि ईश्वर और आत्मा को भूल भी जावे तो आश्चर्य ही क्या है। गुप्तजी, हरिऔधजी तथा इसी प्रकार के अन्य कवि

तीसरी प्रवृत्ति
अनात्मवाद

तो कट्टर ईश्वरवादी तथा सुधारवादी थे। परन्तु कुछ लोग उसको "पीड़ा में ढूँढकर" प्रियतम मान बैठे इसको छायावादी तथा रहस्यवादी कहा गया है; परन्तु एक ऐसी भी श्रेणी है जो समय-समय पर उसके अस्तित्व में भी सन्देह करने लगती है। प्रसादजी अपने "झरना" नामक संग्रह में लिखते हैं:—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति।

डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान॥ पृ० ६३

कम से कम मूर्तिपूजा में तो आजका अश्रद्धालु कवि विश्वास करना ही नहीं चाहता। वह दूसरे श्रद्धालुओं पर भी व्यंग से हँस देता है:—

"कलाकार का मर्म न जाना,
कर में लिए प्रसाद खड़े हैं।"

इसी प्रकार भाग्य में भी संदेह किया जाता है:—

"भाग्य ! अरे हम कैसे माने तेरा नियमित शासन ?
नहीं अरे ! क्या श्रान्त जगत का केवल तू आश्वासन ?
क्या न नई घटनाओं को हम तेरे सिर मढ़ देते ॥"

वस्तुत: अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, निराशावाद तथा दु:खवाद एक ही प्रवृत्ति को बतलाते हैं कि संसार पर से लेखक का विश्वास उठ गया है, वह प्रत्यक्ष जीवन से असफलता का प्रमाण-पत्र लेकर अपने शेष जीवन को पश्चात्तापों में ही काट रहा है। प्रगतिवादियों ने जो यथार्थवाद का क्रान्तिकारी चित्रण किया है उसकी मूल में प्रधानत: तो राष्ट्रीयता की भावना है ही, दु:खवाद का भी उसमें योग मिलता है। हम राजनीतिक दृष्टिकोण से कोई सम्बन्ध नहीं रखते केवल मनोवैज्ञानिक आधार को ही कसौटी मानते हैं, इसलिये इस लेख में "राष्ट्रीय" "रहस्यवादी" तथा "प्रगतिवादी" आदि वर्गीकरण नहीं किया गया। अतीत गौरव का स्मरण भी राष्ट्रीयता है, इसलिये श्री श्यामनारायण पाण्डेय की रचनाएँ तथा श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का सारा काव्य इसी क्षेत्र का है। श्री० निरालाजी तथा श्री० पंतजी किसी एक प्रवृत्ति के ही कवि नहीं, उन्होंने प्रसादजी तथा गुप्तजी के समान सभी सामान्य प्रवृत्तियों को काव्य का रूप दिया है, यह बात दूसरी है कि उनमें दु:खवाद अधिक है और राष्ट्रीयता अपेक्षाकृत कम। इस भाँति केवल पुरानी शैली की कविता जो कि इस युग की प्रतिनिधि नहीं प्रत्युत हिन्दी प्राचीन साहित्य के अध्ययन का फल है, को छोड़ कर शेष पर हमने अनुभूति की दृष्टि से विचार कर लिया। आगे अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ देखते हैं।

अभिव्यक्ति के लिये इस युग के कवियों ने प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य को अधिक अपनाया है, इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि इन कवियों में भावुकता अधिक है। वे किसी कथा विशेष या नायक विशेष को उद्देश्य मानकर कम चले हैं, अपने हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति ही इनको अभीष्ट थी। यद्यपि "कामायनी" "साकेत" "प्रियप्रवास" "कृष्णायन" प्रभृति महाकाव्य भी इसी काल की रचनायें हैं, फिर भी आज का सामान्य कवि मुक्तक गीत लिखकर ही अपनी प्रतिभा का परिचय देता है, फिर धीरे-धीरे उसमें गंभीरता तथा व्यवस्था आने लगती है और वह प्रबन्ध काव्य भी लिख सकता है। मुक्तक का एक दूसरा कारण अव्यवस्था तथा अश्रद्धा भी है—हमारा कवि आज ध्वंस में अधिक विश्वास रखता है, निर्माण में कम। विद्यापति, सूर तथा बिहारी का काव्य आज हमको प्राप्त न भी हो परन्तु जितने "संग्रह" आज दिखलाई पड़ते हैं उतने कदाचित् पहिले कभी न थे।

अभिव्यक्ति संबन्धिनी प्रवृत्तियाँ—मुक्तक

पुरानी कविता में जो पुराने छन्दों का व्यवहार चला आता था उसको तो द्विवेदीजी ने ही त्याज्य बतला दिया था और "प्रियप्रवास" जैसे काव्य की रचना संस्कृत छंदों में हो चुकी थी, परन्तु आगे चलकर इन छंदों को भी छोड़ दिया गया और कवि लोग "गीत" लिखने लगे, इनके लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि ये गाये जा सकें। वस्तुतः आजकल के कवि वास्तविक "श्रव्य" काव्य ही

छंद-बंधन-त्याग दूसरी प्रवृत्ति

लिखते हैं, "पाठ्य" काव्य नहीं, जिसका गला जितना मधुर वह उतना ही प्रसिद्ध कवि ! कभी-कभी तो कवि के हाव-भाव तथा लावण्य भी काम कर जाते हैं, फल यह है कि आज जितने "कवि" कवि सम्मेलनों में दिखलाई पड़ते हैं उनमें से एक भी स्थायी नहीं हैं। एक नया रंग ऐसे गीतों का आया है जिसको "केंचुवा" छंद या "रबड़ छंद" कह सकते हैं; कोई चरण छोटा, कोई बड़ा, कहीं तुक नहीं, चाहे जितनी पंक्तियाँ, न गद्य न पद्य, यह हिन्दी की नवीनतम छंद शैली है :—

कहना सुनना सब व्यर्थ
व्यर्थ है अब उलाहनों का देना
पर इतना रखना याद
तुम्हें
माया ने जितना प्यार किया
जीवन भर भी
उसका आधा
कोई न करेगी प्यार तुम्हें !

× × × ×

मेरे यौवन को पता नहीं,
वह कब आया ?
कब चला गया ?
मेरी सुहाग की साड़ी पर
उफ् !
पड़ी नहीं सलवट तक भी !
तुम बैठे हो
लेकर गंदा आदर्शवाद ! (मानव : निराधार)

प्रायः कवियों ने उन पुराने अलंकारों का कम प्रयोग किया है, जो संस्कृत से सीधे लिये गये थे, विशेषतः मुक्तकों में तो ऐसा ही झुकाव दिखलाई पड़ता है। कवि को एक बात कहनी है, उसी को सीधे-साधे शब्द से भी तीव्रता से कह सकता है :—

अलंकार-हीनता

(१) "साँझ होते ही अरे
क्यों छागई ऐसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई
ओ विरह-व्याकुल प्रवासी ?"
(नरेन्द्र : प्रवासी के गीत)

(२) सब खेल खतम हो जावेगा है कुछ ही दिन की बात और।
कहने को तो मैंने उसको चाहा था प्राणों से बढ़कर।
था झूठ किन्तु हम मर न सके जब एक दूसरे से छुटकर।
शायद अब आशा पूरी हो, है कुछ ही दिन की बात और॥

(३) अरे ! कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को।
मेरी आँखों में आकर फिर, आँसू बन ढरने वाले को ?
(प्रसाद : लहर)

हाँ ऐसे अलंकारों का प्रयोग अवश्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो किसी प्रतीक पर निर्भर हों, इसीलिये रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति तथा अन्योक्ति इस काल में जी भरकर अपनाये गये। प्रायः सारा प्रकृति-वर्णन इन अलंकारों से भरा पड़ा है :—

* (१) "पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में।

---

* (१) पतझड़=दुःख। कुसुम=सुख। क्यारी=हृदय।

किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में ।।"

‡ (२) बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से ?
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ, हीरों से ?"

(प्रसाद : आँसू)

(३) संकोच भरे सौरभ ने
कैसे अनुराग छिपाया ?
अपनी भुज-वल्लरियों में
क्यों पिक को जकड़ न पाया ?"

(अतीत : पश्चाताप)

इस भाँति हम देखते हैं कि वर्त्तमान काल में एक ओर तो गद्य-साहित्य का पूर्ण प्रसार उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में हो रहा है, दूसरी ओर काव्य की भी धारा बहुमुखी बह रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इन धाराओं में से कुछ अवश्य ही सिंचाई के काम की नहीं, परन्तु जिसमें स्थायित्व की शक्ति है वह अवश्य ही लाभदायक है। भारतीय संस्कृति

---

‡ (२) विधु=नायिका का मुख। जंजीरों=केश। फणियों=सर्पों=लटें। हीरों=माँग के मोती।

(३) सौरभ=वसन्त=नायक। पिक=कोकिल=नायिका।।

स्थायी काव्य और उसका भविष्य पर प्रभाव

आशावाद, आत्मवाद तथा उदारता के सदा पक्ष में रही है, इसलिये जिस काव्य में इन स्थायी प्रवृत्तियों का पर्याप्त परिमाण प्राप्य है, उसके स्थायित्व में कोई सन्देह नहीं। व्यक्तिगत समस्याओं वाले काव्य के केवल तत्कालीन मनोरंजन के ही लिये होते हैं। आशा है स्थायी प्रवृत्तियों वाले काव्यों की अब स्वतन्त्र भारत में और भी अधिक रचना होगी, और हमारे कवि पाठकों को एक ठोस विचारधारा की ओर लेजाकर जीवन को सुन्दरतम बनाने में सहायता देंगे।

विश्व-विद्यालयों में शिक्षा-प्रणाली

१—प्रस्तावना—विश्व-विद्यालयीय शिक्षा का महत्त्व ।

२—शिक्षा का उद्देश्य और उसकी पूर्त्ति ।

(क) शारीरिक विकास

(ख) आवश्यक सुधार

(ग) मानसिक विकास

(घ) आत्मिक विकास

३—कुछ अन्य कमियाँ :—

(क) अर्थकारी विद्या

(ख) विदेशी भाषा

(ग) नौकरी की भावना

(घ) संस्कृति पर अश्रद्धा

४—सबसे बड़ा दोष—जीवन का उद्देश्य क्या है ?

५—उपसंहार ।

विश्व-विद्यालयीय शिक्षा का महत्त्व

देश की स्वतन्त्रता के साथ-साथ जहाँ हमको कुछ अधिकार मिल गये हैं वहाँ हमारे कर्त्तव्यों में भी वृद्धि हो गई है; किन्तु हमारे नवयुवक उन कर्त्तव्यों का भार वहन करने को आज तैयार नहीं दिखाई पड़ते । यह सत्य है कि जहाँ अँग्रेजी राज्य ने हमारा सर्वस्व बिगाड़ने का प्रयत्न किया था वहाँ शिक्षा को तो यथाशक्ति निकृष्ट बना दिया;

फलतः आज की शिक्षा नवयुवकों को किसी योग्य नहीं बना पाती। आवश्यकता इस बात की है कि नीचे से ऊपर तक शिक्षा में सुधार किया जावे और भविष्य में उत्तरदायित्व वहन करने योग्य विद्वान् उत्पन्न किये जावें, परन्तु विश्व विद्यालयों की समस्या और भी शीघ्र उठानी है; क्योंकि प्रारम्भिक कक्षाओं में तो हम जड़ से ही ऐसा सुधार करेंगे जो दूर भविष्य में देश के लिये परम लाभदायक सिद्ध होगा, इधर विश्व-विद्यालयों का काम दो प्रकार का है—पुरानी प्रवृत्तियों का भुलाना और नवीन प्रवृत्तियों का विकास। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारे कल के नेता शासक, पंडित, व्यापारी, सैनिक, किसान और मजदूर हमसे कहीं अधिक योग्य और समर्थ होंगे; देश की उत्तरोत्तर उन्नति होगी और समाज का कल्याण होगा।

शिक्षा का उद्देश्य और उसकी पूर्ति

शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है उन्नति या विकास एकांगी नहीं प्रत्युत शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक। जो शिक्षा इससे नीचे ही संतोष कर लेती है वह अधूरी ही नहीं प्रत्युत हानिकारक भी है। अस्तु, इसी कसौटी पर कसकर यदि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली की परीक्षा की जाती है तो हमको बड़ी निराशा होती है। अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों का शारीरिक, मानसिक या आत्मिक विकास न था प्रत्युत उनको लेखक या क्लर्क बनाना था। अँग्रेज साहब को हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो उसकी आज्ञा को समझ कर उसका पालन करने में अपना गौरव समझें, यह अभाव सचमुच उस शिक्षा से पूरा हो गया। ध्यान देने पर जान पड़ेगा कि छोटी कक्षाओं में—जहाँ अँग्रेजी उद्देश्य की दुर्गन्ध पहुँची

है—इतना दोष नहीं है जितना कि ऊँची शिक्षा में; इस कारण से भी विश्व-विद्यालयीय शिक्षा में सुधार की अविलम्ब आवश्यकता है। अब समय बदला है तो हमको उद्देश्य भी बदल देना चाहिए जिससे हम स्वतन्त्रता का सामाजिक तथा सांस्कृतिक अर्थ भी समझ सकें।

शारीरिक विकास

शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक विकास में शारीरिक विकास ही प्रथम आता है। कारण यह है कि प्रथम तो यह सबसे स्थूल है और दूसरे सांसारिक व्यवहार में इसकी सबसे अधिक आवश्यकता पड़ती है। यह समझना भूल होगी कि प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का अत्यधिक महत्व बतला कर शारीरिक उन्नति की अवहेलना की, वे तो शरीर को सब धर्म की जड़ मानते थे ‡ और इहलोक में सुख को उतना ही महत्व देते थे जितना कि मोक्ष को; हाँ उनके यहाँ प्रत्येक वस्तु का समय अवश्य निश्चित था, बचपन में विद्याभ्यास, यौवन में संसार के भोग-विलास, वृद्धत्व में संन्यास—यही उनकी चर्या थी* वे ब्रह्मचर्य को इसीलिये इतना महत्त्व देते थे कि इसके बिना न तो सांसारिक सुख है न परमार्थ ; परन्तु आजकल की शिक्षा का क्रम ही दूसरा है। किसी भी कालेज में जाइए, पचास प्रतिशत छात्रों की आँखों पर चश्मा होगा, मुख में सिगरेट होगी, मुख की तेजहीनता श्वेत अंगराग (पाउडर) से मिलकर एक रूप हो गई

---

‡ १—शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्। —कालिदास

*— शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ —रघुवंशम्

होगी, हाथ में रूमाल लिये या तो खाँसते होंगे या बहती हुई नाक को शरण देते होंगे; कोई मोटर की भी ध्वनि सुनाई पड़ी तत्काल कान बन्द कर लेने पड़े; एक मील चलना है ताँगा चाहिए; गरमी है लू लग गई, वर्षा है ज्वर आ गया, जाड़ा है निमोनिया हो गया। कहो ब्रह्मचारी, तुम तो इक्के के घोड़े को भी जीत गये; सींकिया पहलवान हो या वायुजीवी तपस्वी। हमारे एक मित्र यूनीवर्सिटी परीक्षा में प्रथम आये थे; परन्तु उनकी बौद्धिक सौम्यता आज तक शारीरिक विकरालता के सामने ठहर न पाई, सदा अपच रहता है और शायद छुट्टी के दिन भी ईश्वर को दो-चार कोस लेते होंगे। उनके मन में उत्साह नहीं, धमनियों में रक्त प्रवाह नहीं, जीवन में रंग नहीं, संसार में सार नहीं। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आप कल से ही एक कैरमबोर्ड या दो शटिल कॉक ले आइए, पश्चिमी व्यायाम भले ही "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽद्रुमायते[1]" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए हमको थोड़ी देर संतोष दें, हमारी वास्तविक शारीरिक शिक्षा उस समय होगी जब हम अपने हाथ से लकड़ी काटेंगे, हल चलावेंगे, फावड़ा उठावेंगे; शारीरिक व्यायाम यदि हमको जीवन के निकट न ला पाया तो उसका स्थायी महत्व न होगा। प्रत्येक विश्व-विद्यालय के साथ जोतने को कुछ भूमि, काटने को लकड़ी, पीटने को कुछ लोहा होना चाहिए, हम शारीरिक श्रम भी करें, कला भी सीखें और कुछ काम भी अपने हाथों करें। जब कोई

आवश्यक सुधार

---

[1] जिस देश में वृक्ष नहीं होते वहाँ एरण्ड ही वृक्ष कहलाता है—अन्धों में काना सरदार।

व्यक्ति दण्ड-बैठक करता है, या वॉलीवाल खेलता है या टेनिस-व्यस्त होता है तो हमको चोर बाजार (Black Market) करने वाले बनियों का ध्यान आ जाता है। आज आप प्राणायाम, आसन, संध्या और यज्ञोपवीत का व्यर्थत्व सिद्ध करने के लिए तो प्रतिदिन नये-नये सूट बदलते हैं, परन्तु इस टेनिस या वॉलीवाल के विष्णु सहस्रनाम पर आपकी श्रद्धा ऐसी जमी हुई है जैसी सेनापति की आज्ञा पर सैनिकों की होती है!

यदि आप स्वस्थ हैं तो आपका बौद्धिक विकास भी हो सकता है। अङ्गरेजों ने हमारा कुछ बौद्धिक विकास तो होने दिया किन्तु केवल इतना ही। जितने से हम यह समझ सकें कि भारत पहिले असभ्य था, अङ्गरेजों ने यहाँ आकर सभ्यता का प्रचार कर सुख शान्ति की स्थापना की; हम यहाँ से खींचतानकर

मानसिक विकास

स्नातक (ग्रेजुएट) बन विलायत चले जावें और घर पर अपनी पतिव्रता गृहिणी को भूल कर एक सुन्दरी वहीं से साथ बाँधलावें। आज जब उद्धरणों पर उद्धरण और लेखकों के नाम पर नाम सुनाकर तोते या टाइपिस्ट का स्वाँग करने वाले, 'विद्वानों' को मैं देखता हूँ तो मेरे मन में यह आता है कि इनसे पूछूँ कि "मित्रवर, आप इतने विद्वान् हैं, क्या आप यह जानते हैं कि जीवन का क्या उद्देश्य है, और अपने इस पशुवत जीवन से आप कुछ देश का भी भला कर सकते हैं क्या?"; किन्तु मुझे साहस नहीं होता, क्योंकि इनकी लटकती हुई टाई और स्फूर्तिमय आनन को देख कर मुझे जीभ निकालकर हाँपते हुए कुत्ते और बंधन तोड़कर भागने वाले बैल का ध्यान आ जाता है। मानसिक विकास स्वतन्त्र विषयों की उद्भावना, नवीन अन्वेषण, विषय

को समझकर उसका वर्गीकरण, विभाजन तथा सुगमीकरण आदि बातों का द्योतक है। जो गर्मी में भी कोट और जाड़ों में भी द्वार पर पर्दे चाहते हैं, उनमें गाँठ की भी कुछ है यह मानने को मन नहीं करता। अस्तु, विश्वविद्यालयीय शिक्षा का एक महान् उद्देश्य यह होना चाहिए कि स्वतन्त्र उद्भावना द्वारा मानसिक दासता को बिदाकर हम अपनी मानसिक क्षमता को बढ़ा सकें।

आत्मिक विकास

आध्यात्मिक शिक्षा से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि विद्यार्थियों को मिल (J, S. Mill) का उपयोगितावाद (Utilitarianism) डेकार्ट (Descarte) का भौतिकवाद (Materialism) या कांट (Kant) का विशुद्ध शासन (Categorical Imperative सिखाया जाय, न हम शंकर का अद्वैतवाद, बौद्धों का शून्यवाद और जैनों का स्यात्वाद सिखाकर उनको दार्शनिक ही बनाना चाहते हैं। हम तो उनमें चरित्र की प्रवृत्तियाँ विकसित करना चाहते हैं जिनसे वे अपने व्यक्तित्व (Personality) की एक छाप दूसरों पर छोड़ सकें। प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ से ही एक गलत मार्ग पर चलकर अपने निर्जीव को सुला देता, वह यह भी नहीं जानता कि वह भी संसार में कुछ कर सकता है। उसकी आत्मशक्ति या इच्छाशक्ति (Will Power) इतनी शक्तिशालिनी नहीं होती कि दूसरों के सामने डट सके या स्वयमेव आपत्तियों में अविचलित रह सके। उसमें विपत्ति में धैर्य, उन्नति में क्षमा, युद्ध में शूरता, सभा में वाक्यपटुता आदि गुण अपने आप ही स्थित रहने चाहिए। जो छोटी-छोटी बातों पर असत्य बोलते हैं, चापलूसी से अपना काम निकालते हैं, रिश्वत का पैसा कमाते हैं, सौन्दर्य

पर डिग जाते हैं, उनकी आत्मा मरी नहीं तो सोई अवश्य है। जिसको कर्त्तव्य-पालन में तत्परता, उत्तरदायित्व की पूर्ति, सत्य में निर्भयता आदि का अभ्यास न हो, उसको आत्मिक दृष्टि से उन्नत न माना जावेगा। आचार-शास्त्र (Ethics) के नियमों के अनुसार चरित्र (Character) की उन्नति करते हुए एक सजीव (Conscious) जीवन बिताकर उच्च आदर्शों (Higher Values) की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही छात्रों का आत्मिक विकास है। भारत की यही भारतीयता है और उच्च शिक्षा का यही उद्देश्य है।

हमारी विश्वविद्यालयीय शिक्षा में कुछ और कमियाँ भी हैं जिसमें से प्रधान यह है कि हमारी सारी विद्या अर्थकारी तो है ही नहीं अनर्थकारी भी है। कितने स्नातक (Graduates) हमको दिन प्रतिदिन मिलते जा रहे हैं। हमारी सरकार ने मानो बेकारी फैलाने का ठेका ले लिया है; घर घर डिग्री कालेज खुल रहे हैं और अपना नाम भी न लिख सकने वाले बी० ए० पास हो चले।

अर्थकारी विद्या की आवश्यकता

साक्षरता का अर्थ यह नहीं कि शिक्षा का स्तर (Standard) नीचा कर डिगरियाँ लुटाई जावें। अबतक जो हाई स्कूल की दशा थी वह आज बी० ए० की है, दोनो ही जुआ खेलते हैं; कुछ विशेष स्थलों को रट लिया सभी पुस्तकों के नोट्स हैं सभी की संक्षेप कथायें (Summaries) हैं और सभी के हल प्रश्न पत्र (Solved) हैं चार में से दो प्रश्न करने हैं एक भी ठीक हो गया तो भी पास है और न भी हुआ तो ज़रा परीक्षक को 'जय-हिन्द' जा सुझावेगें। "प्रोफेसर साहब" समझिये आपकी तो कलम की ही बात है; यहाँ लड़के की एक वर्ष

और डेढ़ हजार रुपया आता है (पाँचसौ आप ही ले लीजिए ? शायद आप के एक भाई कल उस कारखाने में नौकरी खोजने गये थे हमारे चचा उसके मैनेजर हैं काम हो जाएगा आप भी तो गोरखपुर के रहने वाले हो हमारी भी वहाँ ससुराल है, हमारे नाना जी और आपके दादाजी में तो बड़ी मित्रता थी। समझ में नहीं आता कि कोरी डिगरी की क्या आवश्यकता पड़ती है यदि शिक्षा किसी कला या व्यापार की हो जिसको सीख कर व्यक्ति अपनी जीविका चला सके तो न तो इस प्रकार रट-रटा कर पास होने की आवश्यकता समझी जावेगी और न परीक्षकों पर ऐसा दबाव ही डाला जाया करेगा। हमारी शिक्षा तभी अर्थकारी हो सकती है जब इस में व्यवसाय, व्यापार कला आदि पर अधिक ध्यान दिया जावेगा, जब तक नौकरी ही शिक्षा का उद्देश्य है तब तक शिक्षक और शिक्षा दोनों का ही जीवन दुःखमय है।

विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर न केवल हम अपनी संस्कृति से ही वंचित रह जाते हैं प्रत्युत हमको व्यर्थ ही

विदेशी भाषा का दोष

दूसरी भाषा के रटने में इतना परिश्रम करना पड़ता है कि अपना तन-मन धन खोकर भी हम कोरे ही रहते हैं। आज अंगरेजों द्वारा इतना प्रोत्साहन पाकर भी कितने लोग अंगरेजी में दक्ष हैं ? भाषा पर दूसरे को अधिकार हो ही नहीं सकता, बड़े बड़े विद्वानों को भी यही डर रहता है कि वे कहीं अशुद्ध मुहाविरे का प्रयोग तो नहीं कर रहे, और जहाँ शुद्धाशुद्ध का प्रश्न आता है वहाँ कोई भी भारतीय विद्वान् तो प्रमाण हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह अङ्गरेजी क्या जाने, वहाँ तो गौरांग महाप्रभु का वाक्य

ही वेद-वाक्य है। भाषा की दासता भावों की दासता है और भावों की दासता संसार की निकृष्टतम दासता है। यदि भाषा की कठिनाई सामने न आवे तो कानून (Law) में कोई कठिनाई नहीं रहती; यदि यह सारा शास्त्र हिन्दी में होता तो शायद वकीलों की आवश्यकता ही न पड़ती। अस्तु विश्वविद्यालय की शिक्षा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा प्रारम्भ होनी चाहिये। यह सत्य है कि पारिभाषिक शब्दावली (Technical Vocabulary) तथा वैज्ञानिक नाम (Scientific Terms) विशेषतः रसायन शास्त्र के गुरु (Chemical formulas) कुछ दिन तक ज्यों के त्यों चल सकते हैं क्योंकि एक दम शब्दों का गढ़ना (Coining) ठीक न रहेगा, किन्तु हम इस काम को अधिक दिन तक स्थगित नहीं कर सकते। हमको संस्कृत भाषा के अक्षय भंडार से शब्द-समूह लेकर या धातुओं के नवीन शब्दों का निर्माण कर अपनी भाषा को सशक्त बना लेना चाहिए। सारे देश में जिस दिन एकमात्र देवनागरी लिपि और संस्कृत शब्दावली परिपूर्ण हिन्दी भाषा की ही ध्वनि सुनाई पड़ेगी उसी दिन शिक्षा का वास्तविक स्वराज्य होगा।

नौकरी की भाषा

आज विश्व विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है उसका उद्देश्य नौकरी की प्राप्ति होता है न तो हम इन स्नातकों में सच्चरित्रता का ध्यान रखते हैं न सत्स्वास्थ्य का। बी० ए० पास हो गया हो तो गजेटेड आफीसर हो जाना चाहिये, किन्तु नौकरी सभी लोगों को तो नहीं मिल सकती, फलतः बेकारी (Unemployment) फैलती है और आज के ७०% स्नातकों का जीवन इसीलिये भार हो रहा है; जो पढ़ लिख कर नौकर हो

गये उनके ठाठ हैं। जो उनसे भी अधिक बुद्धिमान् थे किन्तु विधि की भ्रूभंगियों ने जिनको पनपने न दिया, वे आज नष्टप्राय हो चुके हैं, नवयुवकों में निराशावाद छाया हुआ है[१]। विद्यार्थी जीवन की जितनी मधुरिमा होती है, स्वर्णिम स्वप्न होते हैं सभी की काई सी फट जाती है। उस उच्छृंखलता में झूमने वाले युवकों को जो नैराश्य पूर्ण क्रन्दन करते देखते हैं[२] तो यही मन में आता है कि दोष नक्षत्रों का नहीं हमारा ही है[२]। आज नौकरी को नीच समझने वाली वह भावना कहाँ चली गई[३]। जब तक विश्वविद्यालय की शिक्षा का उद्देश्य बहुमुखी न होगा, जब तक उसमें व्यापार व्यवसाय, कृषि, सामाजिक जीवन आदि अनेक प्रकार के उद्देश्यों के योग्य दक्षता न होगी तब तक दिन-दिन यह समस्या उग्र से उग्रतर होती जावेगी, और जीवन दुखमय होता जायगा। विश्वविद्यालय की शिक्षा हमको 'परमाज्ञाकारी सेवक' (Most Obedient) ही न बनावे प्रत्युत हमारी प्रतिभा के अनुरूप हमको अनेक स्वतन्त्र व्यवसायों के योग्य बनावे, तभी कल्याण हो सकता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि वह हमारी अपनी संस्कृति पर से श्रद्धा हटा देती है। हम पश्चिमी

१—वही मधुऋतु की गुञ्जित डार, झुकी थी जो यौवन के भार।
अकिंचनता में निज तत्काल, सिहर उठती "है जीवन भार"॥

२—The fault, dear Brutus, is not in our stars,
But in ourselves, that we are underlings.
—*Julius Caesar.*

३—उत्तम खेती, मध्यम बान। नीच नौकरी, भीख निदान॥

संस्कृति पर अश्रद्धा

सभ्यता के अन्धभक्त होकर भारतीय संस्कृत के दोष ही दोष देखने लगते हैं। ऊँची शिक्षा में यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है नया इतिहास और नवीन पुरातत्व हमको यही सिखाता है कि आर्य लोग बाहर से आये थे, वे असभ्य थे, भारत में अँगरेजों के आने से पूर्व का काल कालांधकार था, यूरोपियों ने भारत में सभ्यता का प्रचार किया। हम यह भूल गये कि यह देश सदा से सभ्यता का केन्द्र रहा है, यहाँ रहने वाले विप्रों से शिक्षा प्राप्त कर मानवों ने पृथ्वी पर सब को शिक्षा दी*, "भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आवद्ध है अनादिकाल से ज्ञान की मानवता की, ज्योति वह विकीर्ण कर रहा है? हमारे स्नातक आज यूनान और रोम में प्रत्येक विद्या का विकास खोजने जाते हैं, वे यह नहीं जानते कि हमने ही संसार के अन्धकार को हटाकर अपनी उदारता का परिचय दिया था, और आज भी हम में वही रक्त है, वही साहस है और वही ज्ञान है×। वस्तुतः यह

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवः॥ मनुस्मृतिः।

प्रसाद : स्कन्दगुप्त

×जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम-पुंज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

× × ×

वही है रक्त, वही है देश वही, साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शान्त, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान
प्रसाद : स्कंदगुप्त।

हमारी शिक्षा का ही दोष है कि "यवनों से उधार ली गई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्यजाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में" (प्रसाद)। जब तक हमारी शिक्षा हमारा सांस्कृतिक दृष्टिकोण न बदलेगी तब तक न हम स्वयं सुखी रह सकते हैं न विश्वको शान्ति का सन्देश दे सकते हैं।

सबसे बड़ा दोष—
जीवन का उद्देश्य
क्या है ?

किन्तु हमारी विश्व-विद्यालयीय शिक्षा का सबसे बड़ा दोष दूसरा ही है। हम यह नहीं जानते कि हमारे इस छोटे से जीवन का क्या उद्देश्य है। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि मरने के उपरान्त (Life after Death) क्या होता है, या कि हम मोक्ष किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्युत यह कि कम से कम प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि वह किस कार्य के योग्य है और किस प्रकार देश और समाज की सेवा कर सकता है, क्योंकि शिक्षा का एक यह उद्देश्य होना चाहिए कि व्यक्ति अपनी योग्यता को ठीक जाँच कर अपने अनुकूल कार्य में यथाशक्ति जुट जावे×। आजकल कोई भी छात्र यह नहीं जानता कि वह किस कार्य में सफल हो सकता है। पहिले रसायन शास्त्र (Chemistry) में एम०एस-सी० किया, फिर एल-एल० बी० करके कहीं सिविलियन गजेटेड ऑफीसर (Civilian Gazetted Officer) हो गये, दो-दो तीन-तीन बार एम० ए० करते जारहे हैं न जाने क्या

× "Know what thou canst work at, and work at it like a Hercules" —Carlyle.

सोचकर, एक हमारे मित्र "एम० एस-सी०- एल-एल० बी०, एल० टी०, साहित्यरत्न, हिन्दी-प्रभाकर, साहित्यभूषण, सिद्धान्त-शास्त्री" हैं पर बेचारे में संस्कृति (Culture) तो है ही नहीं, नौकरी पर काम करने की क्षमता भी नहीं। बिना सोचे समझे परीक्षा पास करते हुये बिना पढ़े-लिखों पर आप धाक भले ही जमालें, अपने स्वयं के जीवन से ही आपको संतोष न होगा। देश में मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है, प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व से यह निर्णय किया जावे कि वह किस कार्य में सफल हो सकता है और उसी विभाग की उसको शिक्षा भी दी जावे, तभी इस जीवन से कुछ लाभ भी होगा। एक तो हमारा जीवन आज सौ वर्ष* से केवल सत्तावन वर्ष रह गया है फिर विदेशी शिक्षा और निरुद्देश्य अध्ययन में कम से कम ३० वर्ष लग जाते हैं, १५ वर्ष तक काम करने पर हम वृद्धों की श्रेणी में नाम लिखा लेते हैं, हमारे यौवन का पता ही नहीं लगता कि कब आया था और कब चला गया†; इस दुःखी जीवन को हम प्रतीक्षा और रुदन में बिता देते हैं¶। यह है हमारी शिक्षा जिसका एकमात्र यही संदेश है कि जीवन में अधिक रुकना न चाहिए क्योंकि इसमें दुःख ही दुःख है‡। जब तक शिक्षा अधिक व्यवहार-कुशल न

---

*जीवेम शरदः शतम्।

†मेरे यौवन का पता नहीं वह कब आया, कब चला गया।

—मानव-निराधार।

¶मैंने रो-रो रातें काटीं, पथ देख-देखकर काटे दिन। —अतीत।

‡जीवन में बहुत न रुकना, रुकने में दुःख ही दुःख है।
आये चल दिये चमक कर, बस धूमकेतु यह सुख है॥

—गुरुभक्तसिंह 'नूरजहाँ'

होगी, तब तक शिक्षा से कोई लाभ न होगा। अध्ययन न तो तर्क या विरोध के लिये हो, न विश्वास और स्वीकृति के लिये और न बातें करने या बात बनाने के लिये ही, प्रत्युत यह प्रत्येक व्यक्ति में विचारशीलता तथा निर्णय-बुद्धि का विकास करे†। स्वतन्त्र भारत में ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है।

भविष्य की आशा और कर्त्तव्य

शासन-सुधार के साथ ही शिक्षा में भी सुधार प्रारम्भ हो गया है। जनप्रिय सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि विश्व-विद्यालयों में में शिक्षा का अधिक से अधिक उच्च आदर्श हो। सरकार ने श्री एस० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक विश्व-विद्यालय कमीशन (University Commission) बनाया, जिसमें विभिन्न विश्व-विद्यालयों के शिक्षा विशेषज्ञ (Educationists) थे, उनकी रिपोर्ट के अनुसार, आशा है, शिक्षा में शीघ्र ही परिवर्त्तन होगा। कुछ विवादास्पद विषयों को छोड़कर शेष बातों में प्रायः सबका एकमत्य है ही, धीरे-धीरे विवादास्पद विषयों का भी निर्णय हो जावेगा। हम सभी नवयुवकों को भी अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए, "चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा।...हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें‡।

†Read not to contradict and confute; nor to believe and take for granted; nor to find talk and discourse, but to weigh and consider."
—*Bacon : Studies.*

‡ प्रसाद : स्कन्दगुप्त।

हिन्दी गीत-काव्य की परम्परा

(१) संस्कृत में गीत-काव्य.
(२) हिंदी में गीतकाव्य—विद्यापति.
(३) सूरदास तथा उनके अनुगामी.
(४) अन्य गीत-काव्यकार—तुलसी.
(५) रीतिकाल में.
(६) खड़ी बोली में.
(७) उपसंहार।

संस्कृत में गीत-काव्यों की परम्परा

मानव हृदय का सुन्दरतम रहस्य अपनी आन्तरिक भावनाओं को गुनगुनाने में है, जब हमारा मन एकान्त भी चाहता है और किसी का साथ भी तो हम कुछ गाने लगते हैं, मन को समझाने, बहलाने मनाने, उत्साह एकत्र करने आदि ऐसे अनेक कार्य, जिसमें हम अपने मन से ही बात करते हैं, जब भावुकता से भरे होते हैं तो काव्य या गीत बन जाते हैं। भावुकता अधिक होने पर हम प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र से गीत-काव्य के क्षेत्र में आ जाते हैं। यही कारण है कि मानवता के आदि काव्य वेद भी स्वयं इसी शैली में लिखे गये हैं, सामवेद तो संगीत-प्रधान है ही ऋग्वेद में भी प्रत्येक पद गेय है, स्वतः पूर्ण है और किसी भी कथा की अपेक्षा नहीं रखता; आर्या, गायत्री जगती आदि छन्दों का गाने

योग्य होने के ही कारण इतना प्रचार हुआ। महाकाव्यों के काल में भी यह परम्परा चलती रही। 'अमरुशतक', 'मेघदूत' आदि कई प्रसिद्ध गीतकाव्यों के साथ साथ "गीतगोविन्दम्" का नाम प्रसिद्ध ही है। यह काव्य प्रधानतः गाने के ही लिये ही लिखा गया था, "विलास-कलाओं में कौतूहलपूर्ण सरस मन यदि हरिस्मरण चाहता है× तो उसके सन्तोष के लिये जयदेव के पद अपनी कोमल-कान्त-पदावली के द्वारा स्वर्ग की सृष्टि कर देते हैं।

जयदेव कवि के इन पदों में भाषा एवं छन्दों की एक ऐसी अपूर्व कोमलता मिलती है जिसके कारण संस्कृत न जानने वाला व्यक्ति भी अर्थ को बिना समझे ही उसके पाठ से अपना चित्त प्रसन्न करना चाहता है। सहचरी ने अपने पहले कथन में ही, राधा को कृष्ण के प्रेम का सन्देश कितने मधुर शब्दों में दिया है:—

ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन—कोमल-मलय-समीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल कूजित-कुञ्ज-कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि! विरहिजनस्य दुरन्ते॥"

हरि के साथ कृष्णाभिसार करने के लिये सखी ने राधा को जिन शब्दों में समझाया है उनकी ध्वनि इतनी मनोरम है कि प्रत्येक

× यदि हरिस्मरणे सरसं मनो,
यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर—कोमल—कांत—पदावली,
शृणु तदा जयदेव—सरस्वतीम्॥ —गीतगोविन्दम्।

जयदेव का गीत गोविन्दम्

पाठक इतना तन्मय हो जाता है कि आदर्श की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। इस काव्य का हिन्दी में अत्यधिक अनुकरण हुआ और गीतकाव्य में सरसता, कोमलता तथा तन्मयता ही सफलता का चिन्ह मानी गई :—

"रतिसुखसारे, गतमभिसारे, मदन-मनोहर-वेशम्।
न कुरु नितम्बिनि, गमन विलम्ब, मनुसर तं हृदयेशम्॥
× × ×
मुखरंधीरं, त्यज मंञ्जीरं, रिपुमिव केलुषु लोलम्।
चल सखि! कुंज, सतिमिर पुंजं, शीलय नील निचोलम्॥
× × ×
हरिर भिमानी, रजनिरिदानी; मियमयि याति विरामम्।
कुरु मम वचनं, सत्वररचनं, पूरय मधुरिपु कामम्॥"[1]

इस काव्य का अनुकरण हिन्दी में भी हुआ और बंगभाषा में भी।

१—हे नितम्बिनी, रतिसुख के सार अभिसार को गये हुए मदनमनोहर वेष वाले उस हृदयेश का तुम अनुसरण करो, गमन में अब विलम्ब मत लगाओ।

हे सखि! इस मंजीर को यहीं छोड़ दो क्योंकि यह मुखर एवं अधीर होने के कारण केलि में शत्रु के समान चंचल होता है; तुम नील वस्त्र पहिनकर अन्धकारमयी उस कुंज में चलो।

हरि अभिमानी हैं, और रात्रि इस समय शेष है यह भी बीत जायगी, इसलिये तुम मेरी बात मानकर शीघ्र तैयारी कर कृष्ण की इच्छाओं को पूरा करो।

मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली।

हिन्दी में मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपनी पदावली में जयदेव के इस "गीत गोविन्दम्" का सफल अनुकरण किया, उसमें स्वयं उतनी ही सरसता, कोमलता तथा तन्मयता है और मौलिक उद्भावना भी। वे शायद यह जानते थे कि गति का जो प्रवाह जयदेव में है उसी को अपनाने पर भाषा में उसकी ग्राह्यता अभीष्ट हो सकती है। राधाकृष्ण की केलिकथाओं का वही मनोरम वर्णन यहाँ भी देखिये:--

१—सुखद सेजोपरि नागरि नागर, वइसल नव रति साधे।
प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन, थर-थर काँपए राधे॥

२—गोकुल नगर कान्हु रति-लम्पट जौवन सहज हमारा।
तुहु सखि रभसि मोहे जनि बोलवि, लोक करब पतियारा॥

सखी ने जो सीख राधा को दी है वह उतनी ही मंजुल है जितनी जयदेव की गोपी राधा को बतलाती है। उतनी ही तन्मयता यहाँ भी देखने को मिलती है:—

१—नागर श्याम तथा नागरी राधा नवीन रति की इच्छा से सुखद सेज पर बैठे हुए हैं, अंग प्रत्यंग के चुम्बन द्वारा रस की उत्पत्ति करने पर राधा थर-थर काँपती है।

२—गोकुल नगर में कृष्ण एक रति-लम्पट है, इधर हमारा यौवन भी परम स्वाभाविक है इसलिये हे सखि! तू मुझसे इस प्रकार की हँसी (की बातें) मत कहा कर, लोग इस पर विश्वास कर लेंगे।

३—"प्रथम सिरिफल गरब गमओलह, जौं गुन-गाहक आवे।
गेल जौबन पुनि पलटि न आवए, केवल रह पछतावे॥
सुन्दरि, बचनकरहि समधाने।
तोहि सन नारि दिवस दस अछलिहु ऐसन उपजु मोहि भाने॥"

वस्तुतः विद्यापति की इतनी लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी मधुरता एवं तन्मयता है, उनको पढ़ने में एक ऐसा आनन्द आता है जो गीतकाव्य का प्राण है।

सूर के पद और उनका अनुकरण

ब्रजभाषा का गीतकाव्य की जो धारा चली उसका स्वतन्त्र विकास तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उसमें विद्यापति का अनुकरण ज्यों का त्यों नहीं हुआ। एक नवीन पद शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें न केवल राधा-कृष्ण की केलि-कथाओं का ही वर्णन था प्रत्युत वत्सल्य एवं शान्त-रस को भी उचित स्थान मिला। सूर ने स्वयं शान्त, वात्सल्य एवं संयोग तथा वियोग शृङ्गार के मनोरम पद लिखे हैं। उनमें भ्रम-रगीत के जो पद हैं उनमें उक्ति वैचित्र्य ही प्रधान है, वह तन्मयता नहीं जो कोमता, एवं प्रवाह के कारण जयदेव एवं विद्यापति में आगई है। कारण यह भी हो सकता है कि सूर की भाषा ग्रामीण मिठास

३—यौवन का प्रथम उदय अभिमान में गँवा देने पर जब आये हुए गुण-ग्राहक को लौटा दिया जाता है तो पीछे केवल पछताना रह जाता है क्योंकि बीता हुआ यौवन फिर लौटकर नहीं आता। हे सुन्दरी, तू मेरी बात मान ले, मैं भी तेरे समान ही दस दिन (कुछ दिन) तक (अभिमानिनी और सुन्दरी) रही थी, उसी अनुभव से मुझको ऐसा ज्ञान हुआ है।

ही है साहित्यिक माधुर्य कम है। वस्तुतः अर्थ को समझे बिना सूर के पदों में कोई सार नहीं रह जाता। सूर के संयोग के पदों से वियोग के पद अधिक मधुर हैं:—

१—'बारक जाइयो मिलि माधौ।
को जानै कब छूटि जाइगो स्वास रहे, जिय साधौ।
पहुनेहु नन्द बबा के आवहु, देख लेहुँ पल आधौ।"

उनके वात्सल्य में अवश्य औरों की अपेक्षा अधिक तन्मयता है, उसमें स्वाभाविकता एवं चित्रोपमता एक नवीनता ला देती है:—

"यसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराय मल्हावे जोइ सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउरी निंदिया काहे न आनि सुआवै॥"

सूर का अनुकरण अष्ट छाप के कवियों ने तो किया ही, सारा कृष्ण-काव्य इसी शैली पर लिखा गया है परन्तु वह सरसता अन्यत्र न आ सकी। नन्ददास में केवल पदों का प्रयोग तथा कथा का अभाव ही मिलता है, गीत-काव्य का प्रधान गुण तन्मयता वहाँ है नहीं। मीरा के पदों में अधिक तन्मयता है, प्रायः वे नाच नाचकर इन पदों को गाया करती थीं। उनका 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" बहुत प्रसिद्ध हो गया है। उनके पदों में भाषा की कोमलता तो नहीं है परन्तु भावों की तन्मयता अधिक है:—

१—हे माधव! एक बार तो आकर मिल जाना (दर्शन दे जाना) कौन जानता है कब स्वास छूट जावे और मिलने की इच्छा मन की मन में ही रह जावे। (अधिक नहीं तो आधे पल आधी आँख से (औरों से आँख बचाकर) ही तुमको देख सकूँ।

१—"आऊँ-आऊँ कह गया साँवरा, कर गया कौल अनेक।
गिणते-गिणते घिस गई अंगुरी, घिसी अँगुरी की रेख।

महात्मा तुलसीदास की विनय पत्रिका

इसी पद शैली पर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी "गीतावली" और "विनय-पत्रिका" लिखीं। "विनय-पत्रिका" में भाषा और शैली तो वही सूर वाली ही है, विषय नितान्त भिन्न हो गया है, केवल शान्त-रस का ही दर्शन होता है। यदि आत्म-निवेदन के कारण इतनी तन्मयता न होती तो इस काव्य में अपेक्षित तन्मयता न मिलती। भक्त का हृदय भगवान् के सामने अपने स्वाभाविक रूप में आता। कभी वह अपने मन को समझाता है कभी अपनी तुच्छता पर करुणा करने की प्रार्थना करता है। इस वर्णन में कितनी करुणा है:—

२—"मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
याके लिए सुनहु करुणानिधि! मैं जग जनमि-
जनमि जग रोयो।"

कभी कभी वह आदर्श भक्त-जीवन बिताने की कामना करता है।—

१—श्याम (साँवरा) वार-वार यह कह गया कि "मैं आऊँगा मैं आऊँगा" वह अनेक वायदे कर गया, उसकी प्रतीक्षा में दिन दिन गिनते-गिनते मेरी अँगुली घिस गईं उसकी सारी रेखाएँ घिस गईं।

२—इस मूर्ख मन ने मुझको बड़ा छकाया। हे करुणानिधि, इसी मन के कारण मैं इस संसार में अनेक वार जन्म लेकर सदा रोता रहा।

२—"कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपातें संत स्वभाव-गहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।"

विनय विषयक पद अन्य कवियों ने भी लिखे, परन्तु इनमें न तो वह सरसता है, न वह कोमलता और न वह तन्मयता।

रीतिकाल में एक नई शैली ही चल पड़ी। प्रेमी कवि तन्मय होकर राधाकृष्ण सम्बन्धी ऐसे पद लिखा करते थे जिनमें शृङ्गार तथा भक्ति का सुन्दर सामंजस्य होता था। "सवैया" नामक छन्द इन्हीं कवियों के कारण अमर होगया, ब्रजभाषा का यह छन्द तन्मयता के लिये प्रसिद्ध है, कहीं-कहीं कवित्त भी आगया है। ध्यान से देखने पर विदित होगा कि जयदेव और विद्यापति का सच्चा अनुकरण यहीं पर है, सूर आदि में नहीं। इस प्रवाह में संगीत का महत्त्व भी कम नहीं। रसखान, घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि प्रेमी कवि इसी शाखा के हैं। कवियित्री ताज का—

"नन्द के कुमार कुरबान ताँडी सूरत पै,
ताँडे नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं।"

तो प्रसिद्ध ही है, रसखान का "मानुस हौं तो वही रसखान बसौं

रीतिकाल में गीत-काव्य

नित गोकुल गाँव के ग्वारन" भी तन्मयता का अपूर्व उदाहरण हैं; घनानन्द का "परकारज देह को धारे फिरौ परजन्य! जथा-

---

२—मैं न जाने कब इस प्रकार का जीवन बिताऊँगा? श्री रघुनाथ की कृपा से मैं कब संत-स्वभाव ग्रहण करूँगा? मुझको कब जो कुछ प्राप्त होगा उससे ही संतोष होगा, मैं और कुछ अधिक न चाहूँगा?

रथ ह्वै दरसौ" एवं बोधा का "विष खाइ मरै कि गिरैं गिरितें, दगादार तें यारी कभी न करें" तो प्रसिद्ध ही है। आलम के एक कवित्त का एक चरण देखिये:—

"आलम कहे हो आली, अजहूँ न आये प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीत विधि ने ठई ॥"

यहाँ "आली" शब्द पर स्वर इतना ऊपर उठ जाता है कि धीरे-धीरे आगे उतारते हुए फिर "प्यारे" पर चढ़ाकर मूर्च्छना का अपूर्व रूप कानों को सुनाई पड़ने लगता है। प्रवाह ही गीतकाव्य का प्राण है, फिर भी भावों की तन्मयता का महत्व कम नहीं। आलम का एक सवैया देखिए, विरहिणी की कैसी भावुक मनोकामना है:—

"जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सौं करो बहु बातन ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।
आलम जौंन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं ॥"

संस्कृत के गीत-काव्यों में संयोग शृङ्गार ही अधिक है परन्तु उनकी प्रतिकृति स्वरूप हिन्दी गीत-काव्यों में वियोग शृङ्गार ही है, इस अन्तर का कारण राजनीतिक तथा सामाजिक है; संस्कृत के काव्य जब लिखे गये थे तब देश सम्पन्न था सामाजिक जीवन सुखमय था, किन्तु इधर राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक पतन तथा दुःखी जीवन ने निराशावाद ही फैला दिया है।

कविवर प्रसाद के गीत

वर्तमान काल में राजनीतिक परतन्त्रता, सामाजिक अव्यवस्था एवं जीवन संघर्ष के कारण हिन्दी के कवियों में इतना निराशावाद फैला हुआ है। प्रबन्ध-काव्य

लिखने की क्षमता प्रायः लोगों में नहीं है, कुछ ठोक-पीटकर वैद्य-राज बन रहे हैं। ऐसी दशा में, जैसा कि स्वाभाविक है, गीत-काव्य की समृद्धि हुई और लगभग सभी कवियों ने गीतों की रचना की, छन्दों का ध्यान न रखा गया। संगीत की प्रधानता होने के कारण सभाओं में कविता-गान एक आदर्श बन गया। प्रसादजी, श्रीमती वर्मा, निरालाजी और पन्तजी सभी ने गीत लिखे हैं। प्रसाद के गीतों में एकदम मौलिकता है, यद्यपि अन्य कवियों के समान शृङ्गार का लोभ वे भी न छोड़ सके, फिर भी उनमें कला की भी उत्कृष्टता है, 'आँसू", "झरना", "लहर" सभी तो गीतकाव्य हैं। नाटकों के आये हुये गीत उतने मधुर नहीं हो पाये हैं जितने संग्रहों के। एक उदाहरण देखिये:—

१—"ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर—लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे,
ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे॥"

२—बीती विभावरी जाग री!
अधरों में राग अमन्द पिये,
केशों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोई है आली,
नयनों में भरी विहाग री।
बीती विभावरी जाग री॥

आपके गीतों को पढ़कर दो बातों की ओर ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि आपके गीत जयदेव तथा विद्यापति की ही श्रेणी के हैं केवल इतना ही अन्तर है कि आपने केलि-कथाओं का ही गान नहीं किया है प्रत्युत प्रकृति का रमणीय रूप देखने का प्रयत्न किया है; दूसरी बात यह है कि आपके गीतों में मौलिकता है—भाषा तथा भावों की भी और शैली की भी। यद्यपि प्रसादजी ने अधिक गीतकाव्य नहीं लिखे परन्तु इनके गीत हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का "यामा"

श्रीमती महादेवी वर्मा का "यामा" गीतों का एक सुन्दर संग्रह है जिसमें प्रसाद की श्रेणी के गीत प्रकृति का शृंगार बनकर आये हैं। "नीहार", "रश्मि", "नीरजा" तथा "सान्ध्य-गीत" चारों ही में भाषा की मंजुलता, अलंकारों की रमणीयता, संगीत का प्रवाह एवं प्रकृति के सुन्दर चित्र मिलते हैं। आपकी प्रतिभा प्रबन्ध-काव्य में शायद इतनी सफल न हो पाती। जैसा कि स्वाभाविक था कुछ गीतों का सम्बन्ध आत्म-कथा से भी है। अधिकतर गीतों में प्रकृति का चित्रण है :—

"आलोक तिमिर सित-असित चीर,
सागर--गर्जन रुनझुन मँजीर,
उड़ता झंझा में अलक--जाल
मेघों में मुखरित किंकिण--स्वर
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर ॥"

जहाँ आत्मकथा है, वहाँ शैली कुछ सरल होगई है, कला की कमी वहाँ भी न मिलेगी :—

"मेरी है पहेली बात।
रात के झीने सितांचल
से बिखर मोती बने जल
स्वप्न पलकों में विचर झर
प्रात होते अश्रु केवल।
सजनि ! मैं उतनी करुण हूँ,
करुण जितनी रात।
मेरी है पहेली बात॥"

श्रीमती वर्मा का काव्य भी गीतों की प्रथम श्रेणी में आता है। पन्त तथा निराला के गीतों में एक ओर प्रकृति वर्णन तथा छायावाद है तो दूसरी ओर छन्द-बन्ध तोड़ने का भी प्रयत्न किया गया है। एक ओर शृंगार के भाव हैं तो दूसरी प्रगतिवाद आ गया है। उनके काव्य में वह स्थिरता नहीं जो प्रसाद और महादेवी के काव्य में मिलती है।

इस समय भी हिन्दी में गीत काव्यों को लिखने का एक प्रवाह चल रहा है। परन्तु आजकल के गीत-काव्य प्राचीन गीत-काव्यों की श्रेणी में न रखे जायगे। दोनों में उद्देश्य का अंतर है। आजकल अधिकतर लोग गीत इसलिये लिखते हैं कि प्रबंध-काव्य लिखने की उनमें समता नहीं होती—

उपसंहार

बैठे-ठाले कभी एक कभी दूसरा गीत लिख लिया और फिर

संग्रह छपवा दिया, बन गये कवि। पुराने कवि तन्मयता का अधिकता के कारण गीत शैली को अपनाते थे। प्रसाद तथा महादेवी में प्राचीनता का इस अर्थ में अनुकरण है शेष लोगों में नहीं। नये कवियों के "संग्रह" इसीलिये आज निस्सार दिखलाई पड़ते हैं। आशा है राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के बदलने से हिन्दी में उत्कृष्ट गीतकाव्यों की भी कोई लहर आवेगी।

सह-शिक्षा

(१) प्रस्तावना—प्राचीन काल में स्त्री-शिक्षा तथा पुरुष-शिक्षा
(२) अर्वाचीन काल की एक नई समस्या—

इसका वास्तविक रूप

(३) सह-शिक्षा का विरोध क्यों—

(क) यौवनानुभूति का उदय

(ख) अध्यापक की कठिनाई तथा विषय की भिन्नता

(ग) विलास तथा फैशन

एक मनोवैज्ञानिक सत्य

(४) सह-शिक्षा का समर्थन क्यों—

(क) संस्कृति की दृष्टि से.

(ख) प्रतियोगिता की दृष्टि से.

(ग) संकोच-निवारण की दृष्टि से.

(घ) व्यय की कमी.

(५) विचारणीय विषय—समाज का शेष.
(६) उपसंहार.

भारत के प्राचीन इतिहास का अनुशीलन करने पर हमको वैदिक-काल में तो यह ज्ञात होता है कि छात्र २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रह गुरु के आश्रम में शिक्षा प्राप्त किया करता था। उस समय बालिकाओं की शिक्षा का कोई प्रबंध था या नहीं हम नहीं जानते परन्तु स्त्रियाँ विदुषी होती थीं, इसमें कोई संदेह नहीं। संभव है उनका अध्ययन उनके विवाहोपरान्त जीवन के

परिश्रम का कोई फल हो, क्योंकि १६ वर्ष पर तो उनका विवाह हो जाता था फिर वे केवल १६ वर्षों में पुरुष की २५ वर्ष तक की

प्राचीन काल में स्त्री शिक्षा तथा पुरुष-शिक्षा

शिक्षा से भी अधिक कैसे जान लेती होंगी ? हाँ यह हो सकता है कि किसी कन्या को किसी ऋषि से सुव्यवस्थित शिक्षा भी मिल जाती हो। समय ने पलटा खाया और आरण्यक शिक्षा-केन्द्रों के स्थान पर विद्यालय खुलने लगे, परन्तु महिलाओंका वहाँ भी कोई संकेत नहीं मिलता। बौद्धकालमें शिक्षा का तो केन्द्र न था परन्तु "बिहारों" में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी भिक्षुणियाँ बन कर सम्मिलित हो गईं; इसका क्या फल हुआ इसको सभी जानते हैं, "बिहारों" में 'विहार' होने लगा और ये व्यभिचार के अड्डे बन गये। निदान हिन्दी-भक्ति-साहित्य के सभी कवियों ने (सूर-सम्प्रदाय को छोड़) स्त्रियों की बुराई की, तुलसी÷ और कबीर× तो अति पर पहुँच गये। मुसलमानी शासन में स्त्री-शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भाँति अङ्गरेजी राज्य से पूर्व हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की ऐसी कोई व्यवस्था न थी, जिससे गम्भीर समस्याएँ उठ खड़ी होतीं।

पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में भारत ने एक नया रूप

÷ शूद्र, गँवार, ढोल, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

× जहाँ जराई सुन्दरी, तू जनि जाइ कबीर।
उड़ि के धूलि जो लागसी, मैला होइ शरीर ॥

छोटी-मोटी कामिनी, सबही विष की बेलि।
बैरी मारै दाँव परि, यह मारै हँसि-खेलि ॥

देखा। वह था नारी-समाज का। यूरोपीय नारी संसार का सुन्दर तम प्राणी है, वह कला का भी अवतार है और कोमलता का भी; वह पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ाकर उसे पराजित कर सकती है; उसके लिये कुछ भी अकर्त्तव्य और हेय नहीं; वह सदा सुहागिनि (सौभाग्यवती) तथा सदा युवती है; उसका रूप ही उसका यौवन* है और यौवन ही उसका जीवन है। इसलिये एक ओर तो नारी को पुरुष के साथ ही शिक्षा देने की व्यवस्था हुई दूसरी ओर शिक्षा का अर्थ समझा गया बनावट, विलास तथा फैशन—जितनी ऊँची शिक्षा उतना ही ही चमक-दमक का वस्त्राभरण। भारत

अर्वाचीन काल की एक नई समस्या—उसका वास्तविक रूप

को दोनों ही बातों में आपत्ति है, वह न तो युवक और युवतियों को साथ-साथ एवं एकसी ही शिक्षा देना चाहता है और न शिक्षा केन्द्रों को नन्दन-कानन बनाना चाहता है। सह-शिक्षा (Co-Education) से अभिप्राय है युवक तथा युवतियों की शिक्षा का एक तथा एकसाथ प्रबन्ध एक ही विद्यालय में दोनों का पढ़ना तथा एक सी बातें दोनों का पढ़ाना। समस्या स्पष्ट है छोटी आयु (यह भी सोचना पड़ेगा कि 'छोटी आयु' कब तक मानी जानी चाहिए) के बालक और बालिकाओं को आप एक साथ पढ़ाइए हमको कोई आपत्ति नहीं; परन्तु जब से बालक में पुरुष भावना तथा बालिका में स्त्रीत्व की भावना (संकोच, लज्जा आदि) आने लगती है तब से आगे भविष्य में उनके पढ़ने का प्रबन्ध

* Man is old as he thinks, and a woman as she looks. (पुरुष की आयु का निर्णय उसकी विचार-धारा से होता है और स्त्री की आयु उसके शरीर से जानी जाती है।)

साथ-साथ हो या अलग-अलग ? वे अलग-अलग होकर भी एक ही विषय पढ़ें या भिन्न-भिन्न ? तथा क्या युवतियों को पुरुष-अध्यापक तथा युवकों को अध्यापकाएँ भी पढ़ावें या नहीं ? इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना है। "संक्षेप में सह-शिक्षा" का व्यापक अर्थ हुआ शिक्षा के निमित्त युवक तथा युवतियों (छात्र तथा अध्यापक) का एक साथ मिलना। इसका संकुचित अर्थ होगा केवल युवक छात्र तथा युवती-छात्रों का एक साथ अध्ययन करना। कुछ लेखकों ने इसका संकुचित अर्थ ही लिया है, परन्तु हम प्रत्यक्ष अनुभव से लाभ उठाकर व्यापक अर्थ लेना ही अधिक उचित समझते हैं।

सह-शिक्षा का विरोध अनेक कारणों से किया जाता है, जिन में मुख्य कारण है कि छात्रों में यौवनानुभूति (Sex Impulse) का उदय। जब यौवन का आरम्भ होता है तो प्रत्येक युवक और प्रत्येक युवती अपने हृदय में एक विशेष गुदगुदी पाकर प्रेम की खोज में निकल पड़ते हैं, उस समय जो भी पात्र (Candidate) अपने सदा समीप मिलता है उसी को अपना निजत्व सौंप देने की इच्छा होती है, × उस समय इतनी समझ नहीं होती कि विचार किया जाय, परीक्षा की जाय:—

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह।
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह॥
(प्रसाद)

× प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिये मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। (प्रसाद : चन्द्रगुप्त)

यौवनानुभूति का उदय

विश्व विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाली युवतियों का उदाहरण इस मत का समर्थन भी करता है। यदि वह अविवाहित है तो उसको कोई केन्द्र चाहिए अपनी यौवन-जन्य भावनाओं के विश्राम के लिये। फिर इधर इतना साहस तो होता नहीं कि माता-पिता (या कभी-कभी तो सहेलियों से भी) कह दिया जाय × और न इतनी सामर्थ्य होती है कि पीछे लौट कर उन बातों को भुला दिया जाय, आप समझाइये कुछ समझ में न आवेगा। इधर आज कल का समाज इन गान्धर्व विवाहों (Love marriage) को अच्छा नहीं समझता, प्रायः ये सफल नहीं हो पाते। केवल एक विडम्बना ही रह जाती है। शिक्षा को दोष दिया जाता है जीवन का रस किरकिरा हो जाता है, ÷ 'चौबे जी गये छबे होने दुबे ही रह गये' + माता पिता ने सोचा था पुत्री कुल का नाम उज्ज्वल करेगी, वह अपने को भी नष्ट कर बैठी और कुल में भी बट्टा लगा दिया। सह-शिक्षा का कुपरिणाम किसको ज्ञात नहीं है; युवक तो बुद्धिमान होता है वह अपने मन को समझा भी लेता है,* पर युवती

× And yet a maiden hath no tongue but thought. (Shakespeare Merchant of Venice)

÷ उर का नव उल्लास बेंचकर, पाई यह नादानी।
आँसू बहा-बहाकर ठंडी, करली भरी जवानी॥ अतीत।

* मैं अपना मन समझा लूँगा, अच्छा कर लूँगा यह रोगी।
—नूरजहाँ।

+ चौबे=४ वेदों के ज्ञाता। छबे=६ वेद सीखने की इच्छा करने वाले। दुबे=दो वेदों के ज्ञाता।

अपना जीवन धूल में मिला देती है÷। इसीलिये कुछ विचारकों, विशेषतः सनातनियों (Orthodox) का मत है कि १२ वर्ष से अधिक आयु का बालक और ८ वर्ष से अधिक की बालिका साथ-साथ अध्ययन न करने पावें, अन्यथा भावी समाज की दशा गिरती ही जावेगी।

सह-शिक्षा के विरोध में दूसरी बात यह कही जाती है कि जिस कक्षा में युवक तथा युवतियाँ दोनों ही साथ-साथ पढ़ते होंगे उसमें अध्यापक को भी कुछ बातें बतलानेमें संकोच होगा। हिन्दी साहित्यका ही उदाहरण लें तो "बिहारी"के अध्यापन में कुछ ऐसी बातें आजाती हैं जिनको अध्यापक कक्षा में बतला नहीं सकता उसे युवतियों की उपस्थित संकुचित बना देती है। वस्तुतः कठिनाई समान विषय की है। यदि युवक और युवती साथसाथ पढ़ते हैं तब तो नायक और नायिका का नाटक खेलेंगे ही, अलग-अलग पढ़ने पर भी उनकी भावनाएँ तदनुकूल हो जाती हैं। अस्तु, पाठ्यक्रम ऐसा न हो जो उनके मानस में वासना की उत्पत्ति करे। कुछ विद्वानों का यह मत भी हमको मान्य है कि स्त्री तथा पुरुष की शारीरिक योग्यता इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति ने अलग-अलग कर्त्तव्यों के लिये भेजा है, यही उत्तम है कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में ही उन्नति करते हुए मानव-जाति की सेवा करें; इस दृष्टि से स्त्री की शिक्षा-कलाओं, अर्थ-शास्त्र, गृह-विज्ञान आदि

अध्यापक की कठिनाई तथा विषय की भिन्नता

÷ पुरुष-मन में छवि का विस्तार। नारि-मन में संकोच अपार।
पुरुष का हो अनंत पर चाव। नारि का एक कान्त पर भाव॥
—साकेत-संत।

विषयों की होनी चाहिए और पुरुष की शिक्षा-विज्ञान, राजनीति, युद्ध-कला आदि की होनी चाहिए। स्त्री तथा पुरुष दोनोंकी शिक्षा भी अलग-अलग हो और दोनों का पाठ्यक्रम (Course of Stduy) भी अलग-अलग होना चाहिए; यदि ऐसा न किया जावेगा तो सामाजिक व्यवस्था में बाधा आवेगी; न घरेलू जीवन सुखी रहेगा, न किसी कार्य में दक्षता आवेगी, भावी संतान निकृष्ट होती चली जावेगी और न स्त्रियों को सुख मिलेगा न पुरुषों को। इस दृष्टि से भी सह-शिक्षा को हानिकारक ही कहा जावेगा, क्योंकि यहाँ समाज पर व्यापक प्रभाव का भी प्रश्न आ जाता है।

जिन विद्यालयों में सहशिक्षा होती है उनमें एक कठिनाई और देखी गई है। अधिकतर छात्र इस बात का प्रयत्न करते हैं कि कक्षा में अपने को औरों से बढ़कर सिद्ध करके युवतियों के मन में अपना प्रभाव जमालें। फल यह होता है कि जो लोग, अपनी परिस्थितियों के कारण, ऐसा नहीं करते उनके मानस में बैठ हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) उनके व्यक्तित्व को नष्ट कर देती है। दूसरी ओर ऐसे युवक भी होते हैं जो अध्ययन में तो असमर्थ हैं, फैशन या मार-पीट से युवतियों को यह दिखाया करते हैं कि वे भी कुछ हैं। कितनी हँसी आती है !

विलास तथा फैशन

अध्यापक नित्य नये और भड़कीले वस्त्र पहिनकर आवेंगे और छात्र दिन में दो बार 'सूट' (Suit) बदलेंगे ! कुछ लड़कियाँ भी प्रतिदिन साड़ियाँ बदलकर अपने बड़प्पन का परिचय दिया करती हैं !! फल यह होता है कि अध्ययन तथा अध्यापन तो कम होता है विहार अधिक होता है। व्यर्थ में धन, समय

तथा शक्ति नष्ट की जाती है। अनेक दुष्परिणाम भी होते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं—आत्म-हत्या, पर-हत्या, असफल जीवन आदि इस प्रथा के भयंकर परिणाम हैं। जो छात्र कक्षा में तो सब से अधिक प्रवीण होना है परन्तु सांसारिक फैशन आदि में पिछड़ा होता है, उसका फँसना एक दयनीय प्रसंग है—बेचारा भावुक अधिक होने के कारण 'बुद्धि की सराहना' का अर्थ प्रेम लगाकर अपना सारा जीवन मिट्टी में मिला लेता है—इस प्रकार के प्रसंगों पर मुझको सबसे अधिक दया आती है।

अस्तु, हमने यह देखा कि सह-शिक्षा के विरोध में जो कुछ कहा गया है उसकी मूलभूत भावना यही है कि युवावस्था में यौवनानुभूति इतनी प्रखर होती है कि कर्त्तव्य की धज्जियाँ उड़ जाया करती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह बात सत्य ज्ञात होती है; प्रायः सभी कवियों ने इस बात को स्वीकार किया है। परन्तु हमारे देश की साधारण जनता में सह-शिक्षा के विषय में एक और भी भ्रम फैला हुआ है कि उच्च-शिक्षा तक पहुँचते-पहुँचते युवतियों का चरित्र अच्छा नहीं रह सकता उनके लिये ऐसा सोचना स्वाभाविक है; वे स्वयं जब उतनी से आधी आयु तक अविवाहित रहे थे तभी उनको कलंक लगते-लगते बचा था फिर वे यह कैसे मानलें कि दूसरा व्यक्ति भी

एक मनोवैज्ञानिक सत्य

१—But love is blind and loves cannot see.
The pretty follies that themselves commit.
—Merchant of Venies.

उनके समान ही विचारों का कच्चा नहीं है। एक अशिक्षित स्त्री का विवाह १४ वर्ष पर हो जाता है और २२ वर्ष की आयु तक वह कम से कम ४ बालकों की माता बन जाती है, फिर वह यह कैसे मान ले कि उसकी दूसरी बहिन, जो अच्छा खाती है, अच्छा पहिनती है, स्वतन्त्रता पूर्वक सब से मिलती है, उसका २२ वर्ष का कॉलेज में पढ़ने का जीवन 'निरपराध' है। सत्य तो यह है कि सारा रहस्य मानसिक विकास पर निर्भर है। जिस घर में शिक्षा नहीं है, वार्त्तालाप की स्वतन्त्रता नहीं, बचपन से ही संकोच है, उसमें पलकर सह-शिक्षा का फल बुरा ही होगा। परन्तु जिस घर में सभी शिक्षित हैं, सब से मिलकर मन का अस्वभाविक संकोच दूर हो जाता है, उस घर की बालिका सह-शिक्षा के कुपरिणाम से पीड़ित न होगी। यह हम मान सकते हैं। कि सामाजिक व्यवस्था—बेकारी की समस्या, शारीरिक संगठन आदि को सुचारु चलाये रखने के लिये हमारी बहिनों और पुत्रियों को एक भिन्न प्रकार की शिक्षा दीजावे तो उत्तमतर है, परन्तु हम यह नहीं मानते कि यौवनानुभूति का विष छात्र-जीवन को विषम बना ही देगा। पिता, भ्राता, पड़ोसी आदि भी तो पुरुष हैं और प्रत्येक बालिका उनसे बातें भी करती है, उनके पास भी बैठती हैं, फिर सहपाठी ही क्या जादू कर देगा यदि तुम्हारा चरित्र इतना कच्चा है कि किसी व्यक्ति की ओर देखने या उससे बातें करने से ही बिगड़ सकता है तो यह तुम्हरी दुर्बलता है, तुमको ऊँचा उठना चाहिए, आत्मविकास करना चाहिए, तुम बहिन भी हो, माता भी हो और पत्नी भी हो—परन्तु पत्नी होते हुए भी चौबीसों घंटे पत्नी ही नहीं हो। सह-शिक्षा दूषित चरित्र को भले ही अधिक दूषित बनादे, अच्छे चरित्र को

भले ही अधिक दूषित बनादे अच्छे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती; यदि लोहा कच्चा है तो उस पर काई लग जावेगी परन्तु फौलाद पर जलवायु का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।

इतना ही नहीं सह-शिक्षा से लाभ भी हैं। स्व० प्रेमचंदजी ने एक स्थल पर लिखा है कि जिस समाज में स्त्रियों का जितना अधिक सम्मान होगा वह उतना ही सभ्य माना जावेगा। यदि हम उस सफल उपन्यासकार के अनुभव को सत्य मान लें तो हमको यह देखना चाहिए कि हम स्त्रियों का आदर करना किस प्रकार सीख सकते हैं। क्या दूर रहकर हम उनका आदर करना सीख सकते हैं? क्या संसार से दूर रहने वाला व्यक्ति संसार के अनुचित उचित को समझ सकता है? मैं समझता हूँ नहीं। जो लोग सभ्य महिलाओं के समाज में बैठने के× अभ्यस्त नहीं हैं, वे यदि कहीं

सह-शिक्षा का समर्थन संस्कृति की दृष्टि से

उस समाज में जाते हैं—संसार में रह कर जाना अनिवार्य है—जो प्रायः अशिष्ट व्यवाहार करते हैं, या मन में दूषित भावनायें रखते हुए आँखें फाड़ फाड़कर देखेंगे; उनमें नम्रता नहीं, उनमें या तो

×My life has been chiefly spent in a college or an inn, in seclusion from that lovely part of the creation that chiefly teach man confidence. I don't know that I was ever familiarly acquainted with a single modest women except my mother.

(She stoops to conquer).

पलायना होता है या धृष्टता। साधारण वार्त्तालाप को वे वासनाओं से दूर नहीं रख सकते१। ये बातें विद्यालय के जीवन में भी देखी जाती हैं। जिन विद्यालयों में सह-शिक्षा नहीं होती; उनके छात्र कुछ अशिष्ट तथा रूखे होते हैं, उनकी बातों में नम्रता, सहानुभूति तथा कोमलता नहीं होती; दूसरी ओर जिन विद्यालयों में सह-शिक्षा होती है उनके छात्र पुरुषों से भी बात करना जानते हैं और महिलाओं से भी, अध्यापकों का भी सम्मान करते हैं और पारस्परिक भी। अध्यापकों का भी यह अनुभव है कि सह-शिक्षा वाले विद्यालय में अनुशासन की कमी नहीं होती। यह भी देखा गया है कि अध्यापक भी युवतियों की उपस्थिति से सचेष्ट हो कर कुछ भिन्न प्रकार का एवं शिष्टाचार-व्यवहार करते हैं। यह ठीक है कि जो बालकपन से ही बिगड़ा हुआ है उस पर सह-शिक्षा का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा, परन्तु आरम्भ से ही साथसाथ अध्ययन करते रहने पर हम युवतियों की उपस्थिति से बहुत कुछ सीखते हैं। केवल सभ्यता सिखाने का यह ऋण ही इतना अधिक है कि हम सह-शिक्षा को हेय नहीं कह सकते। अध्यापक, विद्यार्थी तथा विद्यालय तीनों में सभ्यतापूर्ण वातावरण बनाने के लिये—खानपान, वस्त्र, वार्त्तालाप आदि की संस्कृति के लिये—सह-शिक्षा नितान्त आवश्यक है। नारी की सुन्दरता हमको अच्छी बातें भी सिखा सकती है:—

"कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत

---

(१) पुरुषों में यह बड़ा अवगुण है कि हास्य और विनोद को कुवृत्तियों से अलग नहीं रख सकते। (प्रेमचंद : प्रेमाश्रम)

का उच्चतम विकास है...इसलिये प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।"

(प्रसाद : अजातशत्रु)

अस्तु, छात्रावस्था में तो सदा महिलाओं का साथ आवश्यक है—प्रारम्भ में माता के रूप में, फिर भगिनी के रूप में—जिसके भावी जीवन में हम उसके पत्नीरूप को भी समझ सकें। स्त्रियों का भी यह कर्त्तव्य है कि "पाशव-वृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें"[1] पारस्परिक निकटता के बिना हम पारस्परिक सहयोग प्राप्त नहीं कर सकते।

सह-शिक्षा से एक और भी लाभ है। बालकों में जो प्रतियोगिता (Competition) की भावना होती है वह युवावस्था में उत्साह के साथ-साथ और भी बढ़ जाती है। कक्षा में प्रथम तथा द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखते हैं और एक-दूसरे के उत्साह की वृद्धि करते रहते हैं। यदि सौभाग्य से ये दो व्यक्ति एक युवक और एक युवती हों तो सोने में सुगन्ध; युवक इस बात का प्रयत्न करेगा कि, अपने लिये नहीं तो कम से कम पुरुष-जाति के सम्मान के लिये, उसका प्रथम स्थान आना आवश्यक है। उधर युवती यह मानती है कि उसमें पुरुष की अपेक्षा अधिक बुद्धि होती है, इसलिये उसका स्थान प्रथम रहना चाहिए। प्रायः प्रतियोगिता व्यक्तिगत न रह कर वर्गगत ही हो जाती है अनुभव से यह देखा गया है कि अध्यापक प्रायः युवती को ही एक या दो अंक से प्रथम स्थान देकर युवक को अधिकाधिक परि-

सहशिक्षा का समर्थन प्रतियोगिता की दृष्टि से

(१) प्रसाद

श्रम में लगाया करते हैं। इस प्रतियोगिता में कक्षा के शेष छात्रों का भी लाभ होता है; ऐसा कौन लज्जाहीन होगा जो अध्यापक के प्रश्न करने पर उत्तर न दे सके और सभी सहपाठियों और सहपाठिनियों—के सामने उसकी आँखें नीची हों। यदि प्रतियोगिता उत्साह वर्द्धक है तो निश्चय ही सहशिक्षा विद्यार्थी-जीवन की परम उपयोगी औषधि है प्रतियोगी-युग्म से भाई और बहिन का सफल सम्बन्ध भी सदा के लिए स्थापित होता देखा गया है।

ऊपर हम संस्कृति के निमित्त सह-शिक्षा की आवश्यकता मान चुके हैं। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री का जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसका मानवीय रूप पारस्परिक सहयोग है। जिस प्रकार युवक महिलाओं की संगति से सभ्यता और संस्कृति सीखते हैं। उसी प्रकार युवतियाँ भी नवयुवकों के साथ रहकर निर्भीकता सीखती हैं, उनका संकोच कम हो जाता है, वे अपनी रक्षा अपने आप करना सीखती हैं; उनका जीवन प्रत्यक्ष रूप धारण करता है। वे "अबला" न रहकर वीर माता बन जाती हैं। प्राचीन काल में भी कुछ महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं, जो पुरुषोचित कार्यों में पुरुषों से भी बढ़कर हैं। अतः हम यह आवश्यक समझते हैं कि सह-शिक्षा से महिलाओं का भी कुछ भला हो, कन्या-गुरुकुल की भोली भाली कन्याएँ वनी न रहकर, महाविद्यालयों की चतुर महिलाएँ बन सकें।

संकोच—निवारण की दृष्टि से

सह-शिक्षा के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि उच्च-शिक्षा में पढ़नेवाली महिलाओं की संख्या इतनी कम होती है कि उनके लिए अलग विद्यालय खोलकर रुपया व्यय करना उचित

नहीं है। प्रायः प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग विद्यालय खोलने से धन का अपव्यय तो होता ही है, शिक्षा का भी मापदंड गिर जाता है। महिलाएँ प्रायः योग्य नहीं मिल पातीं—कम से कम विज्ञान तथा गणित की यही दशा है। कन्या-गुरुकुलों या कन्या विद्यालयों में पुरुषों का अध्यापन सहशिक्षा से भी बुरा है। महिलाओं के विद्यालयों में भी प्रायः क्लर्क पुरुष ही रखा जाता है।

व्यय की कमी

वस्तुतः यह समझ में नहीं आता कि आप महिलाओं के विद्यालय में पुरुष या वृद्ध पुरुष को अध्यापक या क्लर्क रखकर किस दोष से छुटकारा पाते हैं—विद्यालय में बुढ़ापा या निराशा तो आना ही न चाहिये। अतः सह-शिक्षा व्यय को भी कम करती है और शिक्षा में भी कमी (Inefficiency) नहीं आने देती।

सह-शिक्षा के पक्ष में जितने तर्क दिये हैं, वे इतने सबल हैं कि अनुभव हीन पाठक सह-शिक्षा की महत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर उठेगा। खेद, यदि वास्तविक जीवन भी ऐसा ही होता !! युवकों में जहाँ कोमलता तथा सभ्यता आती है वहाँ सुकुमारता (नजाकत) तथा बाहरी दिखावा बहुत आजाता है; वे युवतियों के संकेतों पर भी नाचने को तैयार हो जाते हैं; विलास तथा फैशन की मात्रा बढ़ जाती है, अपनी योग्यता को बढ़ाने की अपेक्षा

विचारणीय विषय
समाज का दोष

उसका प्रदर्शन अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। प्रतियोगिता का भी एक कुरूप बन जाता है; प्रथम तथा द्वितीय आने वाले युवक तथा युवती अपने को दाम्पत्य संबन्ध में बाँध लेना चाहते हैं, परन्तु दोनों के माता-पिता इस पर तैयार नहीं हो पाते। युवतियाँ भी संकोच को बुरी तरह दूर

फेंककर मुँह फट बन जाती है; मैं एक सज्जन को जानता हूँ जिनके सामने उनकी बहिन उलटी-सीधी कोई भी बात कह सकती है और हँसकर उसको परिहास बतला देती है; महिलाओं में शील तो होना ही चाहिए, "शील और लज्जा का ही दूसरा नाम नारी है"। हाँ, व्यय की बात कुछ-कुछ ठीक जान पड़ती है; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जब स्वतन्त्र भारत में शिक्षा अनिवार्य हो जावेगी तो कन्या-छात्रों की संख्या कम क्यों रहेगी, और एक अलग विद्यालय खोलना अपव्यय क्यों कहलावेगा ? अस्तु, वर्त्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखते हुये सह-शिक्षा के पक्ष का ज्यों का त्यों समर्थन भी नहीं किया जा सकता। वस्तुतः दोष समाज का है। युवक और युवतियाँ सच्चरित्र तो उस समय होंगे जब उनका घरेलू वातावरण भी उनको ऐसी ही प्रेरणा देगा। जिस घर में चौबीसों घंटे "दिले बेकरार का" "अफसाना"[१] लिखा जाता होगा उसमें पोषित होने वाले युवक और युवतियाँ क्या ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ सकते हैं ? जिस "मानवता की जन्मभूमि"[२] भारतवर्ष में सर्वदा सामध्वनि होती रहती थी, उसमें आज "आल इंडिया रेडियो स्टेशन"[३] से "फरमायशों"[४] के उत्तर में भद्दे सिनेमाओं के गंदे गीत सुनाई पड़ते हैं। फिर यदि आपके पुत्र और पुत्री भी

१—अफसाना लिख रही हूँ, दिल बेकरार का।
आँखों में रंग भर कर, तेरे इन्तजार का॥

—"दर्द" नामक चित्र का एक गीत।

२—प्रसाद।

३—All India Radio Station.

४—फरमायश=गीत सुनने की माँग।

इन्हीं आदर्शों का पालन करें तो इसमें भाग्य का क्या दोष है ?

सह-शिक्षा के विषय में यह कह देना एक भूल होगी कि यह आजकल बड़ी लाभदायक सिद्ध हो रही है; और यह कह देना भी अन्याय है कि यह नितान्त हानिकारक है। हमने इसके लाभों को भी देखा और हानियों को भी देखा और प्रस्तुत परिस्थितियों में भी इसको देख लिया है। वस्तुतः किसी वस्तु में न तो गुण ही गुण होते हैं और न दोप ही दोष, वस्तु के गुण-दोष पात्र पर भी

उपसंहार

निर्भर हैं; एक गुण उसी समय तक गुण है जब तक वह गुणवान् के पास है निर्गुण के समीप वह दोष बन जाता है१। इसी प्रकार उन्नत समाज में सह-शिक्षा गुणवती हो सकती है परन्तु दूषित समाज में वह दोषवती ही रहेगी। "भगवान् की विराट् विभूति में से हम निस्संदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्रा को समझ लेना ही हमारापुरुषार्थ साधारण है"२। यदि आज हमारे समाज के लिए सह-शिक्षा का मार्ग सुखकर न हो तो "हमें अधीर न

१—The fault, dear Brutus, is not in our stars
But in ourselves, That we are under lings.
—Julius Caesar.

२—गुणाः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतो याः प्रवहन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥
--प्रसाद : इरावती।

होना चाहिए"। हम समाज को इतना सभ्य तथा संस्कृत बना दें कि भविष्य के युवक और युवतियाँ वासनामय उद्‌गारों को ले कर विद्यालयों में न जावें और वे जनता के सामने पतित आदर्श न उपस्थित करें।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

(क) भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता—आशावाद।
(ख) उसका फल—सुधार, कर्म का फल।
(ग) आस्तिकता।
(घ) पुनर्जन्म।
(ङ) विराट् विश्व का बन्धुत्व।
(च) उदारता।
(छ) उपसंहार।

भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता

भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता आशावाद है। संसार की अन्य जातियाँ अपना दृष्टिकोण सीमित ही रखकर प्रत्यक्ष जीवन के सत्यासत्य, सुख-दुःख आदि को ही देख पाती हैं, किन्तु भारतीय जीवन वर्त्तमान जीवन को केवल एक अंश समझता है। जो बात आज नहीं हुई वह कल पूरी हो जावेगी या फिर जब समय आवेगा तब पूरी हो जावेगी। हम यह अवश्य कह देते हैं कि संसार में आशा और तृष्णा ही दुःख का कारण है[1] इसलिये इनको त्याग कर ही सुख मिल सकता है, परन्तु

१—जो देखा सो दुखिया देखा।
तन धरि सुखिया कोई न देखा।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घर व्यापै कोई महल नहीं सूना॥

इसका अभिप्राय निराशावाद (Pessimism) कभी नहीं होता; आशा और तृष्णा का त्याग या निष्काम कर्म केवल यही अर्थ रखता है कि किसी कर्म को करते समय मन में किसी फल की कामना मत करो क्योंकि ऐसा करने से उस कर्म में आसक्ति और मोह हो जावेगा यदि सफलता न मिली तो दुःख होगा, श्रद्धा का नाश हो जावेगा। वस्तुतः हम यह समझते हैं कि आशा ही संसार में जीवन का आधार है×, इसलिये "प्रत्येक परिवर्त्तन सौन्दर्य सन्दर्भ का पृष्ठ है+", जिसको आज हम अज्ञानवश दुर्भाग्य समझते हैं वह समय पर अपनी उपयोगिता दिखाता है, इसलिये हमको सर्वदा सभी परिवर्त्तनों को सहर्ष स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिए। काम के भस्म हो जाने पर जब रति ने विलाप किया और मरने को तैयार होगई तब महाकवि कालिदास के शब्दों में आकाशवाणी का आशावाद देखिये :—

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्य प्रियसंगमं वपुः।

रविपीत जला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी॥

—कुमारसम्भवम्।

आशावाद

(हे सुन्दरी, अपने इस शरीर की रक्षा करो, इसका भविष्य में प्रिय से संगम अवश्य होगा। ग्रीष्म में जिस नदी का जल सूर्य लेता है, वह नदी ग्रीष्मांत में फिर जल प्रवाह से भर जाती है।)

ध्यान दीजिये यदि नदी सूख गई तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि सदा के लिये सूख गई, वह फिर हरी भरी होगी, इसी भाँति

× आशाहि जीवलोकस्य जीवनं जगतीतले।

+ प्रसाद : स्कन्दगुप्त।

मानव-जीवन में भी सुख-दुःख; चलते ही रहते हैं×। न सदा सुख से काम चलता है न सदा दुःख से ही+। मनुष्य को जीवन से

जीवन को उत्तम बनाना ही पुरुषार्थ है

तंग न आना चाहिए÷, कठिनाइयों को सहन करना चाहिए, "जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं' (प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी)। कुछ लोग ऐसा अवश्य समझते होंगे कि "सबका दिन लौटे; ऐसी तो भगवान् की रचना नहीं देखी जाती। बहुतों का दिन कभी न लौटने के लिये चला जाता है†" फिर भी "श्रेय और प्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए*"। अपने बचे हुये जीवन को अच्छे से अच्छा बनान ही भारतीय पुरुषार्थ का आदर्श है :—

"कहा आगन्तुक ने सस्नेह,
अरे तुम इतने हुए अधीर।
छोड़ बैठे जीवन का दाँव,
जीतते जिसको लड़कर वीर॥" —कामायिनी।

× कस्यात्यन्तं सुखमुपतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ —मेघदूत।

\+ मैं नहीं चाहता चिर सुख।
मैं नहीं चाहता चिर दुख॥ —पंत।

÷ No one loves me and I have no one to love. Is suicide a crime in one who is useless to others and unsupportable to herself ? —Aerial.

† प्रसाद : कंकाल। * प्रसाद : चन्द्रगुप्त।

इस आशावाद की भावना का सीधा-सा फल यह हुआ कि भारतीय संस्कृति में सर्वदा सुधारवाद की सम्भावना है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें सुधार न हो सके। वस्तुतः

सुधार की सम्भावना

किसी भी व्यक्ति में दोष नहीं होता उसकी प्रकृति (Character) सदैव निर्दोष है, यदि कोई दोष होता भी है तो वह उस व्यक्ति के किसी कर्म (Conduct) में ही होता है। इसीलिये हमको सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी व्यक्ति से घृणा न करें, प्रत्युत उसके दुर्गुण को घृणा करें×। यदि किसी में हम सुधार न कर पाये तो यह हमारी कमी है न कि उसका दोष; हमारी आत्मिक शक्ति यदि बढ़ी हुई न हुई तो हम उसमें सुधार न कर पावेंगे। किसी दोषी को आप यदि पावें तो उससे यह न कहिये कि 'तुम दोषी हो', प्रत्युत यह कहिए कि 'तुम्हारा यह कर्म दोष पूर्ण रहा, इसको छोड़ देना चाहिए।' "दुनिया के लोग अनायास ही बदनाम करते हैं, मैंने तो हर एक बुरे को अच्छा ही पाया।" "यहाँ किसी मनुष्य को नीच या पतित समझना ऐसा पाप है जिसका प्रायश्चित नहीं+।" जीवन इसलिये मिला है कि इसमें सुधार करो। यदि कोई व्यक्ति कुकर्मों का पश्चात्ताप कर ले तो वह शुद्ध हो गया। "हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है÷।" कभी न कभी समझ आती है और तब संसार को देख कर हृदय भी

×Hate the Sin and not the Sinner.

+प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम।

÷भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा।

कोमल बन जाता है×। इसलिये सदा सुधार का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

कर्म का फल

प्रत्येक व्यक्ति को सदा अपने कर्म का फल मिलता है, हो सकता है कि इस जन्म में आप चैन से गुलछर्रे उड़ाते रहें और अधर्म करने पर भी आप को सुख मिलता रहे; परन्तु संसार में "देर हो सकती है, अंधेर नहीं हो सकता।" यह तो प्रायः इस जगत् में होता है कि जो लोग अधर्म करते हैं वे सुख से सोते हैं, जो सदा धर्म करते हैं वे चैन करते हैं, परन्तु पाप का फल मिलता अवश्य है। "यदि पापों का भीषण दण्ड तत्काल ही मिल जाया करता, तो यह सृष्टि पाप करना ही छोड़ देती। किन्तु वैसा नहीं हुआ। उलटे यह एक व्यापक और भयानक मनोवृत्ति बन गई है कि मेरे कष्टों का कारण कोई दूसरा है१।" किन्तु भारतीय संस्कृति कर्म को ही सर्व प्रधान मानती है। संसार कर्म प्रधान है इसलिए जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल चखना पड़ता है२। शुभ अथवा अशुभ जैसा भी कर्म किया है उसका फल भोगना पड़ता है३। इसलिये जब तक जीवन है तब तक ऐसा कार्य करे जिससे दूसरा जन्म सुखी

×—Some day those wondering eyes would find the world less marvellous and then her heart would break. —True Stary Magazine.

१—प्रसाद : आँधी।

२—कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस कीन सो तस फल चाखा॥ —तुलसी।

३—अवश्यमेगव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

हो सके४ । कर्म का यह विश्वास हमारे देश में इतना व्यापक है कि कुछ लोग इस जन्म को तप दान परोपकार आदि में बिताने के लिये संसार को इसलिये छोड़ देते हैं कि आगामी जन्म में उसका फल मिलेगा । जो तप करेगा उसे भोग अवश्य मिलता है५।

आशावाद का ही एक रूप आस्तिकता है । जब आप आशावाद, सुधारवाद तथा कर्मवाद को मानेंगे तो आपको ईश्वर में भी विश्वास करना पड़ेगा । ईश्वर न्यायी है, इस संसार के दंड से आप उत्कोच आदि देकर बच सकते हैं, परन्तु उस लोक में आपका ठीक न्याय होगा, तब आप क्या करेंगे । ईश्वर सर्व शक्तिमान है इस लोक में एक बली या धनी दूसरे निर्बल या निर्धन को दबा सकता है, परन्तु ईश्वर के सामने किस की क्या चलेगी ? ईश्वर सर्व व्यापक है, इस लोक में आप अपने पाप-पुण्य को छिपा सकते हैं परन्तु वह घट-घट में व्याप्त है वह सब देखता है उससे आप कोई भी बात नहीं छिपा सकते । वह सबके मनोरथ जानता है क्योंकि वह सबके हृदय में रहता है । ६ । जिस प्रकार परिमल और प्रेम नहीं छिपता ७ उसी प्रकार पाप और पुण्य भी नहीं छिपता । इसलिये हम कोई भी ऐसा काम न करें

आस्तिकता

४—येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेन न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सतिः ।। —विदुरनीतिः ।

५—जो तप करे सो पावै भोगू । —जायसी ।

६—मोर मनोरथ जानहु नीके ।
बसहु सदा उर-पुर सबही के ।। —तुलसी ।

७—परिमल प्रेम न आछै छपा । —जायसी ।

जो हेय हो जिसके कारण ईश्वर हमको दण्ड दे, क्योंकि उसकी आज्ञा हमको माननी ही पड़ेगी।

इतना ही नहीं कि ईश्वर है और वह हमको हमारे पाप तथा पुण्यों का दण्ड देता है प्रत्युत हमारे सारे संस्कार पूर्व कर्मों पर निर्भर हैं। जो कुछ हम कर आये उसका विधान बन गया और हमको भोगना है। यह भाग्यवाद भारत का एक दोष भी माना जाता है, और गुण भी; इससे आलस्य तो न आना चाहिए, परन्तु उद्वेग मिट जाना चाहिए। जो[1] भाग्य में लिखा है उसे मेटा नहीं जा सकता[2]। जैसा भाग्य होगा, वैसी ही आपको स्वमेव सहायता भी मिल जाती है और आप वैसा ही करते हैं। महात्मा तुलसीदास कहते हैं:—

विधिवाद

"तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥"

(जैसी भवितव्यता होती है, वैसी ही उस समय सहायता भी मिल जाती है। यदि वह स्वयं उसके पास नहीं आती; तो वह स्वयं उसके पास पहुँच जाता है।)

इसीलिये भारतीय विचार-धारा में भवितव्यता को परम बलवान् माना गया है[3], इसको सभी जानते हैं कि[4] वही होगा जो ईश्वर ने पहिले से रच लिया है[5]।

१—मेटि न जाइ लिखी जस होनी। —जायसी।

२—विधि कर लिखा को मेटनहारा॥ —तुलसी।

३—भवितव्यता गरीयसी।

४—होइहि वही जो ब्रह्म रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावहि साखा॥ —तुलसी।

५—होइ सोइ जो विधि उपराजा॥ —जायसी।

यह भारतीय दर्शन की ही विशेषता है कि लोग इस शरीर के अन्त हो जाने पर भी इस जीवन का अन्त नहीं समझते। ईसाई तथा मुसलमान विचारक, इस शरीर के नष्ट हो जाने पर, यह मानते हैं कि, आत्मा भी सो जाती है केवल प्रलय के दिन जब न्याय होता है, तब जगती है। भारतीय आत्मा की अमरता को मानते हैं। शरीर तो मरता है, मरणशील है, आत्मा अजर-अमर है। इस जन्म के कर्म, इस जन्म की वासना, इस जन्म की कामनाएँ सब परलोक में साथ जाती हैं। जब सब घर कुटुम्ब वाले पहुँचाकर लौट आते हैं तो केवल गुण तथा अवगुण ही साथ जाते हैं १। यह शरीर तो व्यर्थ है इस पर तो अभिमान नहीं करना चाहिए २। इस संसार में जब तक रहो तभी तक सबसे हँस-बोल लो, फिर नवीन जन्म होगा उसमें वे साथी न मिल पावेंगे ३। अस्तु संसार को नश्वर मानते हुये भी पुनर्जन्म में विश्वास करना भारतीय आशावाद की एक विशेषता है। स्त्रियाँ तो यह सोचा करती हैं कि उनका वही पति जन्म-जन्मान्तरों में होता है :—

पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म

इहलोकेतु पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥

(हे महाबल! इस लोक में माता-पिता कन्यादान द्वारा जिसको कन्या दे देते हैं, दूसरे लोक में भी वह उसी की होती है।)

१—जब पहुँचाय फिरा सब कोऊ ।
चला संग गुन-औगुन दोऊ ॥ —जायसी ।

२—या काया का गरब न कीजै का साँवर का गोरा रे। —कबीर ।

३—भूलि लेहु नैहर जब ताईं ।
फेरि न भूलन देइहिं साईं ॥ —जायसी ।

इसीलिये कालिदास की सीता राम द्वारा निर्वासित होकर भी यही चाहती हैं कि दूसरे जन्म में तुम ही मेरे पति हो परन्तु यह वियोग दुःख न सहना पड़े :—

"भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि,
त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः।" —रघुवंशम्।

हमतो सारे संस्कार पूर्व जन्म-जनित मानते हैं, मन भी स्वयं पूर्व संगति को पहिचान कर ही आपको प्रेम करता है४।

विश्व बन्धुत्व तथा उदारता

भारतीय विचारधारा का सबसे प्रमुख प्रभाव यह हुआ कि भारतीय हृदय में इतनी उदारता आ गई कि वे विश्व बन्धुत्व × का स्वप्न देखने लगे। और क्यों न हो÷ "भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है, अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की, ज्योति वह विकीर्ण कर रहा है" तब निश्चय ही हमारा यह कर्त्तव्य था कि हम स्वयं जगकर ही सन्तुष्ट न रहते प्रत्युत सारे संसार को ही जगाते, समग्र संसार को अशोक बना देते३। इसी का यह फल है कि हमारा देश संसार का यह सर्वश्रेष्ठ भाग रहा

४—मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्। —रघुवंशम्।

×वसुधैव कुटुम्बकम्। ÷प्रसाद : स्कन्दगुप्त

३—जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥

× × ×

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बन्द।
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द॥

है जो अपनी आध्यात्मिकता, साहित्य, तथा वीरता के लिये सर्वत्र प्रेय, प्रशंसनीय तथा मान्य है[४]। इसने बाहर से आने वाले लोगों को शरण दी, उनको साध्य बनाया। हमारे हृदय में कभी न किसी के लिये ईर्ष्या थी न द्वेष। इसीलिये भारत "मानवता की जन्म-भूमि" माना गया और देवताओं ने भी इसके यश का गान किया[५]। इसमें इतनी उदारता है कि सभी बाहरी जातियों को अपने में मिला लिया और स्वयं उनमें मिल गये। सम्भव है हमारी इस उदारता का अनुचित लाभ कुछ विदेशियों उठाया हो, किन्तु हम यह मानते हैं कि "अन्त में विजयी वही होता है जो सत्य को परम ध्येय समझता है[६]।"

उपसंहार

आज संसार की परिस्थिति बदली हुई है। यूरोपीय या भौतिक संस्कृति के कुप्रभाव से मानवता का मूल्य गिरा हुआ है। धन ही संसार का माप बन गया है, उसी से चरित्र,

---

४—In there any other land which evokes such love for her spirituality; such admiration for her literature, such homage for her valour as this glorious Mother of Nations ?
—Anie Besant.

५—गायन्ति देवा किल गीतिकानि ।
धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ॥ —विष्णु पुराण।

६—प्रसाद: जनमेजय का नागयज्ञ।

विद्या, सौन्दर्य आदि मापे जाते हैं[१]। हाँ दो विश्वव्यापी युद्धों के अनन्तर यूरोप भी शान्ति चाहने लगा है, उसकी यह कामना भले ही दिखावटी हो इतना सत्य है कि भौतिकता से तंग आकर सारा संसार भारत के चरणों में आवेगा, उस समय भारतीय संस्कृति फिर मानवता की रक्षा कर सकेगी। यह ठीक है कि "जीवन को सब तरह की सुविधा मिलनी चाहिए। यह मैं नहीं मानता कि मनुष्य अपने अपने सन्तोष से सम्राट हो जाता है और अभिलाषाओं से दरिद्र[२]", फिर भी "हम आत्मवान् है, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्य-भाव का प्रचार आवश्यक है[३]।"

१—"धनवानों के हाथ में माप ही एक है। वह विद्या सौन्दर्य, बल, पवित्रता, और तो क्या, हृदय भी उसी से मापते हैं।

—(प्रसाद : स्कन्दगुप्त)

२—प्रसाद : तितली।

३—प्रसाद : इरावती।

प्रसाद—कवि या नाटककार

(१) प्रस्तावना—समस्या का वास्तविक अर्थ.
(२) नाटकों में काव्यत्व—
  (क) कथावस्तु—उलझन, लंबाई.
  (ख) पात्र—अनेक, दार्शनिक, गंभीर, व्यक्तित्व.
  (ग) कथोपकथन—भाषा, भाषण, भावुकता.
  (घ) गीत
(३) नाटकों में नाटकत्व.—
(४) उपसंहार।

हिन्दीके वर्त्तमान साहित्य सेवियों में स्वर्गीय जयशंकर "प्रसाद" सबसे अधिक प्रतिभाशाली माने जाते हैं। वे एक ओर सफल कवि भी थे, दूसरी ओर सफल नाटककार भी; उनका दर्शन-शास्त्र का अध्ययन भी अपार था, दूसरी ओर इतिहास में भी उनकी बड़ी रुचि थी; उन्होंने यौवन और प्रेम के भी मनोहर चित्र खींचे हैं तथा कर्त्तव्य परायणता का भी अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है; उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इसलिये यह विवादास्पद विषय नहीं है कि वे सफल कवि हैं या सफल नाटककार—उनकी सफलता दोनों ही क्षेत्रों में निस्संदिग्ध है। परन्तु आलोचकों ने

समस्या का वास्तविक अर्थ

प्रसादजी के नाटकों को अभिनेयता की किसी कसौटी पर कस कर उनमें नाटकत्व कम तथा काव्यत्व अधिक देखा है; तथा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रसाद जी नाटककार होने से पूर्व कवि थे—उनके नाटकों में

भी काव्यत्व ही प्रधान रहता है, नाटकत्व गौण बन जाता है। अस्तु, इस मत की सत्यता पर विचार करने के लिये यह देखना आवश्यक है उनके नाटकों में काव्य के कौन-कौन से चिन्ह पाये जाते हैं।

यदि नाटकों की कथावस्तु (plot) को अभिनेयता की कसौटी पर कसा जाय तो प्रायः एक कठिनाई देखने में आती है। अधिकतर नाटकों में कथावस्तु इतनी लंबी तथा इतनी उलझी हुई है कि यदि अभिनय किया भी जाय तो एक तो इतना समय लेगा कि दर्शक ऊब कर अपनी जान बचाकर भागना चाहेगा, दूसरे यदि उसको बैठना भी पड़े तो भी वह सारी कथा याद नहीं रख सकता। यदि "चन्द्रगुप्त" को देखें तो क्या इसके अभिनय में ५ घंटे से कम समय लग सकता है? यही दशा आप "स्कन्दगुप्त" तथा "अजातशत्रु" की समझिये। हाँ, "ध्रुवस्वामिनी," "विशाख" आदि इस दृष्टि से दोषपूर्ण नहीं, परन्तु वे प्रसादजी की श्रेष्ठतम कृति नहीं माने जाते। "एक घूँट" तो एकांकी ही है। अतः आचार्यों ने दर्शकों की रुचि को देखकर जो यह नियम बनाया था कि नाटक अधिक लंबा न हो, उसका प्रसादजी के श्रेष्ठ नाटकों ("ध्रुवस्वामिनी" को छोड़कर) में पालन नहीं मिलता; जान पड़ता है वे अभिनय के लिये नहीं लिखे गये, पढ़ने के लिये लिखे गये हैं—वे दृश्य-काव्य नहीं हैं, श्रव्य-काव्य हैं। "स्कन्दगुप्त" में प्रधान कथा तो है गुप्त राजकुल की राज्य-व्यवस्था, परन्तु मालव प्रदेश के बन्धुवर्मा देव सेना आदि, काश्मीर के मातृगुप्त आदि की कथाएँ भी उलझी पड़ी हैं। "चन्द्रगुप्त" में भी चन्द्रगुप्त, सिंहरण, आम्भीक, आदि की

नाटकों में काव्यत्व—
कथावस्तु लंबाई
तथा उलझन

अलग २ कथाएं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार "विशाख" या "ध्रुवस्वामिनी" अलग कथावस्तु एक ही कथा या एक प्रधान कथा तथा दूसरी प्रतिनायक की कथा तक ही सीमित है, उस प्रकार अन्य प्रसिद्ध नाटकों में नहीं। फल यह होता है कि दर्शक यह भूल जाता है कि अमुक दृश्य के पीछे कौनसी घटनाएँ बीत चुकी हैं।

नाटकों में काव्यत्व पात्र की अधिकता

अब इन नाटकों के पात्रों को देखिये। संख्या गिनने पर भी रहस्य खुल जावेगा। स्कन्दगुप्त, पुरगुप्त, कुमारगुप्त, भटार्क, पृथ्वीसेन, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, धातुसेन, मातृगुप्त, शर्वनाग, देवसेना, विजया, देवकी, अनंतदेवी, कमला, जयमाला, रामा......गिनते ही चले जाइये। "चन्द्रगुप्त" में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, आम्भीक, अलेग्जेंडर, सेल्यूकस, राक्षस, शकटार, सुवासिनी, कल्याणी, कार्नेलिया, अलका...और न जाने कितने। इसी भाँति "अजात शत्रु" में पात्रों—मुख्य पात्रों—की संख्या कम न मिलेगी। दर्शक प्रायः इतने पात्रों का अलग अस्तित्व याद नहीं रख सकता और देखकर चक्कर में पड़ जाता है। सारे के सारे पात्र मानो दार्शनिक हैं, साधारण वार्तालाप करते हुये भी गंभीर हो जाते हैं और विवेचना सी करने लगते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि तुलसी के अधिकतर पात्र कट्टर रामभक्त हैं। हो सकता है "सुवासिनी" इतनी भावुक रही हो कि प्रत्येक कुमारी के हृदय में उसको प्रेम की टीस दिखलाई पड़े:—

दार्शनिक तथा गंभीर

"सुवासिनी—जो कहती है कि मैं नहीं जानती—वह दूसरे को धोखा तो देती ही है, अपने को भी प्रवंचित करती है।

धड़कते हुये रमणी-वक्ष पर हाथ रखकर उसी कंपन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम-संगीत की तान सौन्दर्य की रंगीन लहर बनकर, युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

(चन्द्रगुप्त १६३).

परन्तु क्या कठोर-कर्मा चाणक्य में भी इतनी कोमलता थी, क्या अपने शैशव का स्मरण कर वह रोमांचित हो उठता था:—

"चाणक्य—प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिये सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार—कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हें परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते हैं।"

(चन्द्रगुप्त, १३०)

अधिक उदाहरण देने से कोई लाभ नहीं परन्तु यदि किसी भी नाटक के प्रमुख पात्रों को देखा जाय तो उनमें कुछ सामान्य गुण मिलेंगे जो उनके व्यक्तिगत व्यक्तित्व के द्योतक नहीं प्रत्युत नाटककार के कवित्व मय व्यक्तित्व के द्योतक हैं; इन सामान्य

कवि का व्यक्तित्व

गुणों में से राष्ट्रीयता, भारतीयता, गंभीरता, दार्शनिकता काव्य तथा संगीत से प्रेम, एवं यौवन और प्रेम का उल्लास सभी नाटकों में दिखलाई पड़ते हैं। आलोचक इस बात को इस प्रकार कहा करते हैं कि प्रसाद जी के पात्र दुहरा व्यक्तित्व (Dual personality) वहन करते हैं—एक स्वयं अपना और दूसरा नाटककार का व्यक्तित्व इन नाटकों को काव्य बना देता है; उसमें एक रमणीयता होती है जो पाठकों को मुग्ध अवश्य कर लेती है दर्शक

को कथा या पात्र के समीप नहीं लेजा पाती। पात्रों की यह विशेषता सभी छोटे-बड़े नाटकों में पाई जाती है।

नाटकों का प्राण कथोपकथन है। यदि एक बार दर्शक को नींद भी आरही हो तो भी वह सजीव संवादों से चमत्कृत होकर सावधान होकर आनंद लेने लगता है। अतः आचार्यों ने यह नियम बनाया था कि संवादों की भाषा सरल और चलती हुई होनी चाहिए, वाक्य छोटे-छोटे होने चाहिएँ, और उनमें साधारण बातों का ही कथन होना चाहिए। प्रसादजी के नाटकों में यह बात नहीं मिलती। उनकी भाषा संस्कृत की कोमल-कांत पदावली से इतनी भरपूर होगई है कि दर्शकों का तो कहना ही क्या, पाठकों के लिये भी कठिन पड़ती है, और यह दशा किसी एक-दो स्थलों पर नहीं प्रत्युत सभी नाटकों में आदि से अंत तक देखने को मिलेगी। जो नाटक जितना अधिक उत्तम है, उसमें उतनी ही क्लिष्टता और उतना ही अधिक काव्यत्व। जिन-जिन स्थलों पर क्लिष्टता अधिक होगई है उन-उन स्थलों पर कथोपकथन भी लंबे-चौड़े हैं, केवल छोटे-छोटे वाक्यों से काम नहीं चलता, पूरा भाषण देना पड़ता है। ध्यान देने से विदित होता है कि ऐसे स्थलों पर प्रसादजी ने दो बातें की हैं—या तो वे किसी गंभीर दार्शनिक विषय का प्रतिपादन करते हैं, या कोई भावुकतापूर्ण रमणीय वर्णन करते हैं। प्रथम प्रकार में तो ऐसे भी शब्द आ जाते हैं जिनका आना प्रबन्ध-काव्य में भी "अप्रतीतत्व" दोष बन जाता:—

नाटकों में काव्यत्व
कथोपकथन

कठिन भाषा

दार्शनिक विषय तथा
काव्यमय भाषा

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि ऐसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी।...उपनिषदों के 'नेति-नेति' से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है...।" (स्कन्दगुप्त).

इन स्थलों पर अलंकार नहीं आये परन्तु अपनी भावुकता में बहता हुआ नाटककार कुछ रमणीय प्रसंगों में तो काव्य के उस अंग को भी नहीं भूलता:—

"सुवासिनी—अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल—"कौन?" कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है।"

(चन्द्रगुप्त १६२)

यौवन का इतना सुन्दर वर्णन कदाचित् किसी काव्य में भी न हुआ होगा। यदि भाषा की इतनी क्लिष्टता न होती तो यह भावुकता भी रमणीयतोत्पादक होकर नाटक को दोष न बनकर गुण वन जाती, अन्यत्र ऐसा हुआ भी है :—

"यह भी देखा गया है कि बिना कुछ सुख लिये, किशोर अवस्था में ही कितनों को पूर्ण शान्तिमय वैराग्य हो जाता है। इसका कारण केवल संस्कार है। इसलिये वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नहीं; जब वह अंतरात्मा में विकसित हो, जब उलझन की गाँठ सुलझ जावे, उसी समय हृदय स्वतः आनंदमय हो जाता है।"

(विशाख, ३६)

काव्यत्व का एक दूसरा लक्षण नाटक के गीतों में है। प्रत्येक नाटक में कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जिनका संबंध न तो उपस्थित

वातावरण से ही अधिक होता है और न वर्णनीय प्रकृति आदि से ही। यों तो जिस दृश्य में इनको गाया गया है उसमें वैसा वातावरण मिलता ही है, परन्तु आलोचक यह मानते हैं और ठीक भी है कि इन गीतों के समय नाटककार का कवि-हृदय जग पड़ा है और वह उस पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा पाया है। इन गीतों में यौवन और प्रेम के प्रति कवि का अगाध आग्रह मिलता है। "स्कन्दगुप्त" नाटक का यह गीत कितनी तन्मयता लिये हुए है :—

नाटकों के गीत

घने प्रेम-तरु तले।

बैठ छाँह लो भव-आतप से, तापित और जले॥

छाया है विश्वास की, श्रद्धा-सरिता कूल।

सिंची आँसुओं से मधुर, है परागमय धूल॥

यहाँ कौन जो छले॥

× × ×

फूल चू पड़े बात से, भरे हृदय का घाव।

मन की कथा व्यथा भरी, बैठो सुनते जाव॥

कहाँ जा रहे चले।

घने प्रेम-तरु तले॥

इसी प्रकार "चन्द्रगुप्त" नाटक का यह गीत भी कितना सुंदर है और इस प्रसंग में भी यह ठीक बैठ जाता है :—

मधुप कब एक कली का है।

पाया जिसमें प्रेम-रस सौरभ और सुहाग।

बेसुध हो उस कली से मिलता भर अनुराग।

बावला रंग-रली का है।

हो मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पुंज।
अलि को केवल चाहिए, सुखमय क्रीड़ा-कुंज।
बिहारी कुंज-गली का है।
मधुप कब एक कली का है॥

यदि विवेचनात्मक दृष्टि से देखा जावे तो पता लगेगा कि इन गीतों में एक ओर तो प्रेम और यौवन के प्रति आग्रह है दूसरी ओर देशभक्ति की व्यापक भावना "स्कन्दगुप्त" तथा "चन्द्रगुप्त" दोनों ही में जो गीत सेना के निष्क्रमण (March) के समय गाये जाते हैं उनमें कितनी स्फूर्ति और कितना उत्साह है, परन्तु भाषा कितनी ओजपूर्ण यथा क्लिष्ट है :--

"हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती--
स्वयं प्रभा समुज्वला, स्वतन्त्रता पुकारती--
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है--बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

(चन्द्रगुप्त)

इन सब कारणों से विद्वानों ने यह माना है कि निस्सन्देह प्रसादजी कम के नाटकों में रामणीयता की कमी नहीं हैं, परन्तु वह रमणीयता अभिनय-जन्य कम है; वर्णन-जन्य अधिक। नाटक भी काव्य है, अंतर केवल यह है कि नाटक "दृश्य-काव्य" है और दूसरा काव्य "श्रव्य-काव्य" और काव्य की विशेषता है रमणीयता, इसलिये वह रमणीयता तो नाटक में भी रहेगी तथा प्रबंध-काव्य में भी हाँ जहाँ रमणीयता वर्णन-जन्य होगी वहाँ उस ग्रन्थ में कवित्व प्रधान माना जायगा, परन्तु जहाँ अभिनय-जन्य होगी वहाँ नाटकत्व प्रधान माना जायगा। हमने प्रसादजी के नाटकों में कवित्व तो देख लिया अब यह देखना चाहिए कि इनमें नाटकत्व कितना है। नाट-

कीय दृष्टिकोण से प्रसादजी की कला में कुछ दोष माने गये हैं, उनका भी संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिए।

प्रसादजी के नाटकों में कुछ ऐसे दोष हैं जो उनको 'नाटक' की अपेक्षा 'काव्य' के अधिक समीप ले आते हैं ये दोष दो प्रकार के हैं—एक तो प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन, और दूसरा वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुकूल न होना। प्राचीन आचार्यों ने अभिनय के लिये एक अपनी शैली बनाई थी, नान्दी, सूत्रधार, विष्कंभक, विदूषक वर्जित दृश्य आदि। प्रसादजी ने नवीन आदर्श को अपनाकर नान्दी आदि का निर्वाह न कर उचित ही सुधार किया, परन्तु विदूषक का अभाव तथा वर्जित दृश्यों+ हत्या, मृत्यु, युद्ध, समुद्र, आदि— का आ जाना बड़ा खटकता है, प्रथम के स्थान पर प्रसादजी कोई हँसोड़ पात्र बना देते हैं

प्रसाद जी के नाटकों में नाटकत्व

जैसा कि "स्कन्दगुप्त" में "मुद्गल" है और द्वितीय के लिये यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में उन दृश्यों का

+दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
शयनाधरपानादि नगराद्युपरोधनम्।
स्नानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः। (साहित्यदर्पण)
(दूर वाले व्यक्ति को बुलाना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मल, मृत्यु, संभोग, दन्तक्षत, नखक्षत, तथा अन्य घृणाजनक क्रियाएँ। शयन, अधरपान, तथा नगर आदि का घेरा, स्नान, अनुलेपन इत्यादि से वर्जित...)।

दिखाना कठिन पड़ता होगा परन्तु आजकल के चित्रपट (सिनेमा) पर आग का धाँय धाँय जलना भी दिखाया जा सकता है, गोली चलना भी दिखाया जा सकता है और सेना का निष्क्रमण भी दिखाया जा सकता है इस भाँति ये दृश्य आज के नाटक के लिये वर्जित नहीं कहे जा सकते, दर्शकों को कोई असुविधा या अविश्वास होगा। एक बात और भी है, पुराने सभी नाटक सुखान्त (Comedy) हुआ करते थे, परन्तु आजकल पश्चिम के प्रभाव से लोग दुखांत नाटक (Tragedy) भी लिखने लगे हैं, प्रसादजी ने मध्यम मार्ग का अनुकरण किया है, उनके नाटक सुखान्त होते हुये भी दुःख की एक टीस देकर समाप्त होते हैं यदि "स्कन्दगुप्त" को ही लिया जावे तो नायिका देव-सेना का गीतः—

"आह! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश मधुकरियों की,
जीवन संचित राशि लुटाई॥
× × ×
आह बावली आशा मेरी।
खो दी तूने सकल कमाई॥"

का स्थायी प्रभाव दर्शकों के मानस में एक टीस का उत्पन्न कर देना है, परन्तु नायक के जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है इस लिये हम इसको सुखान्त ही कहते हैं। अस्तु नाटक-कला की दृष्टि से जो दोष देखे गये, वे वास्तव में दोष नहीं हैं।

हम यह ऊपर भी कह आये हैं कि नाटक भी एक प्रकार का काव्य है, इसलिये काव्य की आत्मा÷ "रस" जहाँ पर होगा उसको

÷वाक्य रसात्मकं काव्यम् ——विश्वनाथ

हम 'काव्य' कह देते हैं। प्रसादजी के नाटक अवश्य ही परम रमणीय हैं—उनमें हमको अपार रस मिलता है—इसलिये यदि रंगमंच पर न भी देखें और केवल पाठ मात्र करें तो भी हमको वही आनन्द आवेगा जो एक प्रबन्ध-काव्य के पढ़ने में आता है। परन्तु यदि हमारा रंगमंच परिपूर्ण हो—जैसा कि आजकल के मशीनयुग में है भी—और हमारे दर्शक अधिक विद्वान तथा संस्कृत हों—जैसा कि प्रत्येक उन्नत देश के नागरिकों को होना चाहिए—तो निश्चय ही हमको पाठ की अपेक्षा अभिनय—दर्शन में अधिक आनन्द प्राप्त होगा। अस्तु प्रसादजी के नाटक काव्य तो हैं ही, नाटकों की दृष्टि से भी पीछे नहीं रहते और प्रसादजी नाटककार होने से पूर्व कवि हैं, का अर्थ यह है कि उनके नाटकों में अभिनय के बिना भी रस मिल सकता है।

उपसंहार

हमारी सामाजिक व्यवस्था और उसके दोष

(१) वर्त्तमान समाज-संगठन का आधार—

(क) जन्म.

(२) उसका फल—

(क) जाति.

(ख) सामाजिक स्थान.

(ग) शिक्षा.

(घ) सम्पत्ति.

(३) समय की गति—समाज. शास्त्र का प्रमाण.

(४) नारी-जीवन और समाज.

(५) अव्यवस्थित-संगठन.

(६) भविष्य का अनुमान.

समाज संगठन का सनातन आधार जन्म है

यद्यपि हम अपने को समयोचित विचारशाली कहते हैं तो भी हम वस्तुतः हैं पक्के सनातनी । हम प्राचीन विचार-परम्परा के इतने पुजारी हैं कि नवीन विचारों में भी प्राचीनता की छाप चाहते हैं । उदाहरण के लिये यदि समाज-संगठन को ही देखा जावे तो ज्ञात हो जावेगा कि जो नियम प्राचीन काल में चला करता था वही आजकल भी ज्यों का त्यों लागू होता है । प्राचीन समाज में व्यक्ति का मूल्य उसके व्यक्तित्व (Individuality) पर नहीं प्रत्युत

उसकी कुल परम्परा (Status) पर निर्भर होता था। पिता-माता से व्यक्ति का भावी जीवन बना करता था। आज भी वही बात है। जो व्यक्ति जिस देश, जिस जाति, जिस घर में उत्पन्न हुआ है उसमें तो उसका रहना स्वाभाविक है ही; सबसे बड़ी बात तो यह है कि आप जिस आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति में उत्पन्न हुए हैं उसी में आपको आपका जन्म काटना है। आज समाज के सुधारक मुँह पर शब्द-वर्धक यन्त्र लगाकर चिल्लाते हैं "जाति जन्म पर निर्भर नहीं, कर्म पर निर्भरहै", दूसरे कहते हैं—"काले-गोरे का भेद नास्तिकता है", किन्तु यह तो बतलाइये कि व्यक्ति कितना और कहाँ तक स्वतन्त्र है? वर्णाश्रम भेद एक समय ईश्वर कृत माना जाता था, यह सिद्धान्त गलत सिद्ध हुआ। फिर धनी-निर्धन का भेद ईश्वरकृत माना गया, आज उसको भी हम झूँठा सिद्ध करना चाहते हैं; किन्तु क्या हम यह कर पाये? जिस प्रकार प्राचीन काल में हम खोज करने पर पा लेते हैं कि विश्वामित्र तपोवन से क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुये, उसी प्रकार आज कल भी खींच तान कर यह सिद्ध करने के लिये कोई उदाहरण निकाल लिया करते हैं कि नादिरशाह गड़रिये से शाहंशाह हो गया; किन्तु महाशय ऐसे उदाहरण हैं कितने? कह लीजिये एक करोड़ में से एक !! यह तो नियम नहीं अपवाद के उदाहरण हैं (Not rule but exception) !! कौन कहता है कि "मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति और पौरुष से ही सब कुछ हो जाता है?" कहाँ हैं वे भविष्य के मधुर स्वप्न देखने वाले, कल्पना के पुजारी; मेरी पुकार सुनकर वे जागें* और देखें

---

* मेरी आहों से जागें, विस्मृति में सोने वाले।
अधरों में हँसते-हँसते, पलकों में रोने वाले।—आँसू।

कि जिस परिस्थिति, वातावरण तथा अवस्था में जो उत्पन्न हुआ है, उसी परिस्थिति, वातावरण तथा अवस्था में उसे आजन्म रहना है। काल्पनिक प्रेम की झूँठी दुनिया बनाना आजकल व्यर्थ समझा जाने लगा है, किन्तु इस काल्पनिक अभ्युदय की झूँठी आशा क्यों हमें दिलाई जाती है यह क्यों कोई नहीं बतलाता। क्यों आप यह साफ-साफ नहीं कह देते कि जन्म का ही सब जगह बोलवाला है और इस संसार की इकाई (Unit) भी जन्म स्थान ही है!

जन्म द्वारा निर्धारित परिस्थित्ति का बुरा प्रभाव अनेक रूपों से हमारे जीवन पर पड़ता है। सबसे प्रथम तो है जन्म की जाति। गीता में भगवान् ने "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागतः" कहकर जो यह बतलाया है कि 'गुण तथा कर्मों के अनुसार मैंने स्वयं चारों वर्णों की रचना की है', इसका अर्थ अधिकतर लोग यही लगाते हैं कि पूर्व संस्कारों के अनुसार ही भगवान् ने व्यक्तियों को किसी जाति विशेष में उत्पन्न किया है। कोई ब्राह्मण के घर इसलिये उत्पन्न हुआ है कि उसमें ईश्वर ने ब्राह्मणोचित गुण तथा कर्मों की क्षमता दी है। इसका अर्थ यही हुआ कि जिस वर्ण में आप उत्पन्न हुये, वही जन्म भर के लिये आपका वर्ण हो गया। आपकी वही जाति हो गई। आपका खान-पान विवाह आदि उसी जाति में हो सकेगा। यदि एक ब्राह्मण युवती एक कायस्थ युवक से प्रेम करती है और विवाह करना चाहती है तो उसे अपने घर वालों से बिगाड़नी पड़ेगी; उसे यह घोषित करना होगा कि वह हिन्दू नहीं है। कितने अनमेल विवाह होते हैं। इसी जाति प्रथा के कारण, कितने घर उजड़ चुके हैं, इसी परवशता के ऊपर। आज जब मैं किसी गृहस्थ के सुख-दुःख का अध्ययन करूँ तो मुझे उस घर में सुख चन्द्र के समान तथा दुःख

उसका फल—जाति

सूर्य के समान दिखाई पड़ता है×। कहना न होगा कि सामाजिक दुःख का एक प्रधान कारण जाति प्रथा है, यह समाज की भूल है इसलिये सामाजिक जीवन ही दुःख का कारण बना हुआ है।

इस समाज की दूसरी विषमता सामाजिक स्थान के रूप में दिखाई पड़ती है। यह भी जाति प्रथा का ही फल है कि एक हरिजन एक ब्राह्मण के समान स्वस्थ; सुन्दर तथा बलिष्ठ होने पर भी 'अछूत' माना जाता है। प्रायः जिनको, आप अछूत कहते हैं वे आपसे अधिक स्वस्थ तथा शक्तिशाली होते हैं; यह भी देखा गया है कि समान सम्पन्नता के ब्राह्मण और दूसरे अछूत परिवार के व्यक्तियों की तुलना यदि सुन्दरता की दृष्टि से की जावे तो रूप की कमी अछूतों में न मिलेगी। महाकवि बाण ने सुन्दरी चाण्डाल कन्या के सौन्दर्य को देख कर यह कल्पना की थी कि कदाचित् स्पर्शभयवर्जित इन अंगों में विधि ने भरपूर सुन्दरता दे दी है अस्तु, केवल आकृति देखकर हम सवर्ण तथा अछूत का भेद नहीं कर सकते। फिर क्यों एक व्यक्ति भूमि पर बैठेगा दूसरा आसन पर; एक मन्दिर में पुजारी हो सकता है दूसरा दर्शक भी नहीं; एक के हाथ का जल अमृत है दूसरे के हाथ का गरल। यही सामाजिक अव्यवस्था है। जब तक समाज से ऊँच-नीच का भेद न मिटेगा तब तक सामाजिक प्राणी को शान्ति नहीं मिल सकती। जाति का भेद पश्चिमी देशों में भी है, किन्तु वहाँ जन्मजात

> दूसरा फल—
> सामाजिक स्थान
> (Social Status)

× जो देखा सो दुखिया देखा।
तन धर सुखिया कोई न देखा॥ —कबीर।

नहीं। यूरोप का एक साधारण व्यक्ति, जो कल तक होटलों में वर्त्तन साफ करता था, धनी होकर "लार्ड" बन सकता है; किन्तु भारत का एक अछूत कुबेर बनकर भी ब्राह्मण नहीं बन सकता।

सामाजिक स्थान का भी अपना महत्व होता है, यह उस समय तक समझ में न आवेगा जब तक हम जीवन में उसका फल न देखेंगे।

तीसरा फल—
शिक्षा की विषमता

जब सवर्ण तथा अछूतों में छुआछूत का ही अन्तर है तो उनके बालक आपकी पाठशालाओं में कैसे पढ़ सकेंगे, आप किस प्रकार उन 'असभ्यों' को अपने समान ही 'सभ्य' बना सकते हैं? जितना छोटा विद्यालय होगा, उतने ही संकुचित विचार वहाँ मिलेंगे। जब आप एक-दूसरे से मिलने का अधिकार नहीं देते, तो यह आप कैसे कहते हैं कि इन लोगों को धीरे-धीरे अपने संस्कार अच्छे बनाने चाहिएँ, सुधार करते-करते ये लोग हमारे जैसे बन जायँ, तब हमसे मिलें जुलें। शताब्दियाँ बीत गईं, जो लोग पहले पिछड़े हुये थे, वे आज भी पिछड़े हुये हैं। आज समय ने पलटा खाया है और हम हरिजनों के लिये अनेक सुविधाएँ दे रहे हैं—उनकी शिक्षा निःशुल्क हो जावेगी, उनको सरकारी नौकरी के लिये सुरक्षित स्थान रहेगा, धारा सभा में उनकी सीट अपनी अलग है; परन्तु यह तो बतलाइये कि क्या बेचारे गरीबों को इससे कोई लाभ होता है? सच मानिये, भगवान् भी धनियों का ही है, और नियम भी धनियों के ही हैं, जो लोग पहले व्यापार आदि के द्वारा धनी बने हुये थे केवल वे ही इन नियमों से लाभ उठा रहे हैं, शेष लोगों को इसकी हवा भी नहीं लगने पाती।

सामाजिक स्थान (Status) तथा विषम शिक्षा का सीधा दुष्परिणाम हमको सांसारिक सम्पत्ति के रूप में मिलता है। कोई व्यक्ति इतना धनी है कि उसके लिये धन अन्य सुखों के सामने कोई मूल्य नहीं रखता, वह धन से ही शिक्षा, संगीत, सद्व्यवहार, मित्रता आदि का क्रय करना चाहता है। दूसरा इतना निर्धन है कि उसके लिये धनाभाव में स्वयं जीवन ही एक समस्या बना हुआ है, वह शिक्षा, संगीत, मित्रता आदि के द्वारा धन कमाना चाहता है। एक लक्ष्मी की गोद में सोता है, दूसरे की ओर लक्ष्मी देखती भी नहीं। यह पूँजीपति-व्यवस्था (Capitalistic Economy) है जिसमें आर्थिक असाम्य (Financial inequality) इतना अधिक है कि एक ओर हिमालय पर्वत और दूसरी ओर सरसों का दाना ही दिखलाई देता है; सोचिये न एक व्यक्ति के लिये एक लाख रुपया दान कोई महत्व नहीं रखता और आपके लिये वह जीवन का सार है। काश, वह आपको ही एक लाख सबका सब दान दे देता !! शायद आप आजन्म प्रयत्नशील रहने पर भी एक लाख न कमा पावें !!! मनुष्य कितना करेगा और उसे कितनी सफलता मिल सकती है ? ९९ प्रतिशत लोग प्रतिदिन परिश्रम करते करते घिस जाते हैं किन्तु क्या बेचारों का यही भाग्य था ? ईश्वर तुम्हारा शासन अखंड है किन्तु क्या दया की भी कोई प्रार्थना नहीं कर सकता ? भारतीय समाज आर्थिक और सामाजिक विषमताओं का उखड़ा हुआ कबाड़घर है, यहाँ सभी प्रकार की टूटी मशीनें मिल सकती हैं, किन्तु काम की एक भी नहीं। "इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक या

चौथा फल—
सम्पत्ति की विषमता

भौतिक समता, जिसमें ईश्वर न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह की सुविधाओं की योजना है" —प्रसाद : तितली।

अस्तु अब तक हमने इस बात पर अनेक रूपों से विचार किया

समाजशास्त्र का प्रमाण

कि जन्मजात संस्कारों तथा अधिकारों के कारण आजकल के जीवन में जो विषमता आ गई है वह सामाजिक संगठन में सब से बड़ी बाधा उपस्थित करती है। यह भी निश्चय है कि व्यक्तिगत प्रयत्न से हम इसमें कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकते, हमको या तो शान्तिपूर्वक नियम बनाकर इसको मिटाना होगा, या क्रान्ति द्वारा इनका विनाश करना होग। ध्यान इस बात पर देना है कि समाज-शास्त्र (Sociology) का यह कहना है कि समाज जन्म की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व (From Status to Contract) देता जा रहा है; यही इसका विकास है। हम इस विकास को स्वयं भी सम्मिलित कुटुम्ब (Joint Family) की असफलता आदि के रूप में देख भी रहे हैं। यदि भारतीय समाज ने विकास के इस मन्त्र को न अपनाया तो उसमें क्रान्ति का होना अनिवार्य है।

ध्यान देने योग्य एक-दूसरी बात भी है। भारतीय-समाज में

नारी जीवन और समाज

जितना ह्रास नारी के स्थान का हुआ है, उतना शायद किसी दूसरे का नहीं। एक समय वह था जब सब समाज मातृदेव (Matriarchal) थे; माता ही घर की अधिपति थी, उसकी आज्ञा सब को मान्य थी। समय बदला माता तथा पिता को समान अधिकार मिले, बिना सीता

के राम का अश्वमेध यज्ञ व्यर्थ था। समय ने और भी पलटा खाया। पिता की आज्ञा से परशुराम अपनी माता की हत्या कर देते हैं। महाभारत काल में दुःशासन द्रौपदी का चीर-हरण करता है। वर्त्तमान युग में नारी एक जन्मजात दासी है। जहाँ दास प्रथा थी वहाँ रुपया देकर दास मोल लिये जाते थे और उन दासों को मुक्ति भी मिल सकती थी; किन्तु आज की हिन्दू-पत्नी एक ऐसा दास है जो रुपया भी साथ लाता है, कभी मुक्ति की सोच भी नहीं सकता, और दूसरे जन्म में भी अपने स्वामी की ही सेवा चाहता है। मुझे कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है कि जब स्त्रियाँ इस बात की कामना करती हैं कि ×"भविष्य के जन्म में तुम्हीं मेरे स्वामी बनो और हमारा कभी वियोग न हो" तो क्या उसका हृदय-विद्रोह नहीं करता? क्या वे यह नहीं चाहतीं कि "अगले जन्म में तुम पत्नी बनो और हम पति बनें, जिससे जो अत्याचार हमने इस जन्म में सहे हैं उनका बदला तो ले सकें"? आज की नारी का जीवन संसार की करुणतम कहानी है, शताब्दियों तक 'अबला' कहते-कहते आपने उनको ठीक उसी तरह अबला बना दिया है जिस तरह किसी भले आदमी को एक सप्ताह तक 'पागल' कहते-कहते पागल बना दिया जाता है। वह स्वयं भी सदा दुःख भोगती हैं और औरों को भी दुःख देती हैं। वस्तुतः "नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है" (प्रसादः कंकाल)। कौन जानता है कि हमारे वर्त्तमान जीवन का दुःखमय होना नारी-जाति के ही शापवश हो?

सत्य तो यह है कि हम आज पूर्व और पश्चिम के

×"त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः" —रघुवंश।

पूर्व तथा पश्चिम के बीच

बीच में त्रिशंकु बने लटक रहे हैं—न इधर के रहे न उधर के रहे; दीन और दुनियाँ दोनों से हाथ धो बैठे; सारा जीवन इधर उधर टीम टाम करते बीत जाता है, किन्तु हम किसी सत्य या शान्ति पर नहीं पहुँच पाते+एक ओर आध्यात्मिकता और त्याग का पुराना भारतीय आदर्श है, दूसरी ओर भौतिकता तथा विलास का पश्चिम रूप, हम निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच में पड़े हुये हैं ठीक उसी प्रकार जैसे एक गृहस्थ साधु या विधुर व्यापारी राग और विराग के बीच घड़ी के पेंडुलम् के समान घूमता रहता है। प्राचीन आदर्श वर्णाश्रम प्रथा का यथातथ्य पालन था, इसमें दोष आते गये और हमने उसको छोड़ने का प्रयत्न किया, आश्रम टूट गये; किन्तु क्या हम वर्णों को छोड़ पाये ? जाति भारत की नस नस में भरी हुई है, इसका त्याग साधारण काम नहीं। पश्चिम की सभ्यता भौतिकवाद (Materialism) को मूलमंत्र मानकर चलती है, इहलोक का सुख उसके लिये सब कुछ है; हम पाप-पुण्य का निर्णय भी कभी-कभी उसी कसौटी पर करना चाहा करते थे हैं एक ओर आस्तिकता, भाग्यवाद, आध्यात्मिकता, त्याग, सत्य आदि ऊँचे आदर्श भी चलते हैं, दूसरी ओर भोग-विलास, छलकपट आदि का भी मिश्रण है। श्रीमान्‌जी एक अछूत के यहाँ चाय पी आते हैं, श्रीमतीजी कूदकर चौके में जाती हैं। हमारे एक मित्र हैं जो हर पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा और ब्रह्मभोज कराते हैं तथा प्रति होली तथा दीपावली पर कम से कम १५ दिन वेश्याओं का नाच होता है चोर-बाजार तथा उत्कोच आदि से कमाने वाले जिस नियम से मनकामेश्वर के मन्दिर में जाते हैं उस नियम से हम जैसे अध्यापक नहीं। वेश-

+ना हरि भजै न गृह सुख पाये, वृथा बिहाइ गई —सूर।

भूषा तथा खानपान में भी यही बात दिखाई पड़ती है, बाहर साहब तो सूट-बूट सम्पन्न हैं, भीतर देवीजी पर्दे से झाँकती हैं। सुधारकों की भी यही दशा है; विचारों में कुछ हैं और कर्म के कुछ और ही। आज के लोग तो हमको "बहुरूपिये" दिखाई पड़ते हैं।

अस्तु हमारे सामाजिक संगठन में अनेक ऐसे दोष हैं जिनके मूल में अव्यवस्था ही काम कर रही है, किन्तु धीरे-धीरे परिवर्त्तन हो रहा है। उपजातियों (Sub-castes) के बंधन ढीले हो रहे हैं। आशा है शीघ्र ही केवल मोटी-मोटी जातियाँ तथा वर्ण ही रह जावेंगे; कुछ वर्षों में वर्णव्यवस्था शिथिल हो जावेगी। आर्थिक व्यवस्था में गड़बड़ होने के कारण भौतिकता में विश्वास बढ़ता जा रहा है एक बार संसार में 'अधर्म' फैलेगा। घोर व्यवस्था फैलेगी; फिर परिवर्तन होने की पूर्ण आशा है। अच्छा यही है कि इस घोरतम अव्यवस्था में धीरे-धीरे परिवर्त्तन कर दिया जाय जिससे क्रान्ति की आवश्यकता न पड़े, क्योंकि 'परिवर्त्तन रुका कि महा-परिवर्त्तन—प्रलय हुआ। परिवर्त्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है।"+

भविष्य की आशा

+प्रसाद: स्कन्दगुप्त।

काव्य में कवि का व्यक्तित्व

(१) प्रस्तावना—हम कवि को देशकाल की परिस्थितियों के बीच ही देख पाते हैं.

(२) व्यक्तित्व-प्रधान काव्य—मुक्तक तथा सूक्तियाँ, एवं निबंध—कुछ उदाहरण.

(३) व्यक्तित्व का अभाव छोटी कहानियाँ.

(४) उपन्यास तथा प्रबन्ध काव्य में.

(५) नाटक में.

(६) उपसंहार—कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व.

साहित्य समाज का दर्पण है तथा कवि-हृदय समाज की छाया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कवि या लेखक अपनी रचना में उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रतिविम्ब किसी न किसी रूप में अवश्य ही दिखा देता है, यह बात दूसरी है कि वह कबीर के समान× उसे साफ-साफ कहदे या तुलसी के समान+ काव्यमयी शैली में। परन्तु कवि हृदय पारदर्शक (Transparent) नहीं होता जो परिस्थितियों

× डर लागे हाँसी आवे अजब जमाना आयारे।
धन दौलत से माल खजाना वेस्या नाच नचायारे।
मुट्ठी अन्न साध कोई माँगे, कहै नाज नहीं आयारे॥
कथा होय तहँ स्रोता सोवैं, वक्ता मूँड़ पचायारे॥

+ देखिये गोस्वामी तुलसीदास द्वारा कलि-वर्णन।

> इस कवि को देशकाल की परिस्थितियों के बीच ही देख पाते हैं

का ज्यों का त्यों रूप दर्शक के सामने उपस्थित कर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहे। कवि परिस्थितियों का अनुभव करता है फिर जनता के सामने एक सुव्यवस्थित व्यवहार-प्रणाली रखकर उसका पथ-प्रदर्शक बन जाता है, इसीलिये कवि को प्राचीन भाषा में "जनता का पुरोहित" और आजकल की भाषा में "जनता का वकील" कहा जाता है। जनसाधारण के सामने व्यक्तिगत समस्याएँ भी विकराल रूप धारण करके आती हैं, परन्तु कवि की व्यक्तिगत समस्याएँ भी उस वर्ग विशेष की समस्याएँ होती हैं—इस दृष्टिकोण से कवि प्रत्यक्ष दार्शनिक (Practical Philosopher) है। इस भाँति कवि यथार्थ जीवन का मनन करके उसको अपने कौशल के द्वारा अनुकरणीय आदर्श की ओर मोड़ता है—यही उसकी सफलता है। अस्तु, कवि अपने देशकाल की परिस्थितियों से उदासीन नहीं रह सकता, परन्तु उसकी समस्याएँ जब व्यक्तिगत न बनकर सार्वजनित बन पाती हैं तभी उसको कवि का स्पृहणीय पद मिलता है; और उसकी सफलता एक श्रेयस्कर आदर्श की ओर पाठक का मन फेर देने में है।

यदि कवित्व एक 'सक्रिय आन्दोलन' है तो उसमें कवि× की आत्मा अवश्य ही सचेत रहती होगी और वह अपना व्यक्तित्व (Personality) अवश्य ही अपने काव्य में प्रकट कर देता होगा। विचार यह करना है कि किस प्रकार की रचना में कवि के

×इस लेख में "कवि" शब्द का प्रयोग "साहित्यकार" के अर्थ में हुआ है।

व्यक्तित्व की कितनी अभिव्यक्ति हो सकती है—कितनी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। यह निर्विवाद ही है कि "निबंध" तथा "मुक्तक काव्य" इस सूची में सबसे ऊँचा स्थान पावेंगे। यदि लेखक जान बूझकर अपने व्यक्तित्व को न छिपावे तो निबंध में उसके राजनीतिक; सामाजिक तथा धार्मिक विचार अपने शुद्ध रूप में मिलते हैं, क्योंकि निबन्ध तो लिखा ही इसलिये जाता है कि लेखक अपने विचारों को पाठकों के सामने रख सके।

व्यक्तित्व प्रधान काव्य मुक्तक तथा सूक्तियाँ एवं निबन्ध

इसीलिये सभी नेता एवं प्रचारक बड़े बड़े लेखों तथा पुस्तकों को लिखकर ही जनता की आँखों में चढ़ते या गिरते हैं। विषय विशेष के निबंधों—साहित्य, दर्शन, अर्थ-शास्त्र आदि—से उस शास्त्र विषयक विचार को भी लेखक विद्वानों के सामने रखता है। परन्तु अधिकतर विद्वान् इन लेखों को "साहित्य" तो कहेंगे, "काव्य" नहीं कह सकते। इसलिये इन लेखों की सहयोगिनी सूक्तियों पर विचार कीजिये। निश्चय ही इनमें कवित्व भी होता है, संसार का मार्मिक अनुभव भी और कवि का व्यक्तित्व भी। रहीम का वह प्रसिद्ध दोहा :—

"रहिमन निज मन की विथा, मन ही राखौ गोय।+
सुनि इठलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय॥

उसी समय लिखा गया होगा जब उनको अमीर से निर्धन

+ रहीम कहते हैं कि अपने मन के दुःख को अपने ही मन में छिपाकर रखना चाहिए। (नहीं तो) उसको सुनकर उपहास तो सब करेंगे, (इस संसार में) कोई भी उस दुःख को बाँट न लेगा।

बनकर दिल्ली और आगरा से संबंध तोड़ देना पड़ा। इसी भाँति बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा :—

"आवत-जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जमाई लौं घटौ, खरौ पूस-दिन मान ॥" ×

आलोचकों के मत में कवि की उस परिस्थिति को बतलाया है जब वे अपनी ससुराल (श्वशुरालय) का वातावरण असहनीय समझ कर जयपुर चले गये थे। कभी-कभी यह भी होता है कवि केवल उपदेशक बन जाता है और या तो अपने जीवन की ही बात बतलाता है :—

"नारी तो हम भी करी, जाना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा बिकार ॥"

या दूसरों को सावधान करता है :—

"जहाँ जराई सुन्दरी. तू जनि जाइ कबीर।
उड़ि कैं धूलि जो लागसी, मैला होइ सरीर ॥" ÷

× पूस मास के दिन का (मान लंबाई) उसी प्रकार घट गया है जिस प्रकार घर जमाई का (मान सम्मान) घट जाता है; उसको दिन को तथा (जमाई दामाद को) अब आते-जाते कोई महत्व नहीं देता, उसका तेज (गर्मी-तथा-आदर) घट गया, और शीतलता (निरादर) आ गई।

÷ कबीर कहते हैं कि जहाँ सुन्दरी को जलाया गया है वहाँ भी तू मत जा (वह इतनी अपवित्र है कि) यदि उसके शरीर की राख भी तेरे शरीर में छू गई तो तेरा शरीर मैला हो जावेगा।

परन्तु यह दूसरी परिस्थिति उसको मुक्तक काव्यकार बना देती है। मुक्तक-काव्य में कवि अपनी मौज में झूमता हुआ गाता है या अपनी टीस में तड़पता हुआ करुण-क्रन्दन करता है, जो छन्द उसके जीवन के जितना ही अधिक समीप होगा, उसमें उतनी ही अधिक रमणीयता तथा मनोमोहकता होगी। सूरदास का यह पद :—

"मैं मन बहुत भाँति समझायौ ॥
कहा करौं दरसन-रस अटक्यौ, बहुरि नहीं घट आयौ।
इन नैनन के भेद रूप-रस उर में आनि दुरायौ।
बरजत ही बेकाज सुरन ज्यों पलट्यौ ना जो सिधायौ।
हरि को दोष कहा लगि दीजै वह अपने बल धायौ।
अति विपरीत भई सुनि सजनी! मुरभयौ मदन जगायौ।"

उनकी उपासना—पद्धति का ही सुन्दरतम निदर्शन नहीं, उनके जीवन की भी कुछ घटनाओं को बतला सकता है। परन्तु इसके विपरीत, तुलसी की जो भावना थी वह 'विनय-पत्रिका' के इस पद में अपनी मधुरतम अभिव्यक्ति कर गई है :—

"कब हुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत-निरंतर मन-क्रम-वचन नेम निवहौंगो।
परुषवचन अति दुसह स्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ॥"

परन्तु इन मुक्तक काव्यों में एक बड़ी कठिन समस्या आती है। रीतिकाल के जो इतने कवि हुये उन्होंने शृंगार तो लिखा ही है, विभिन्न नायक तथा नायिकाओं के भी उदाहरण उपस्थित

किये हैं, तब क्या हम यह मानें कि इन वर्णनों में कवि का अनुभव भी छिपा पड़ा है ? निश्चय ही "नंद के कुमार कुरबान ताँडी मूरति पैं, ताँडे नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी" लिखने वाली "ताज" नंद के कुमार पर आसक्त थीं, परन्तु क्या "जोग ते कठिन संजोग पर नारी कौ"× या "आवत हैं नित मेरे लिये इतनो तो विसेस कै जानति हौं हैं"+ लिखने वाले कवि भी इन चरणों में अपने व्यक्तित्व की झलक दिखला रहे हैं ? सचमुच

एक कठिन समस्या

बड़ी कठिन समस्या है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि कवि दिव्य दृष्टि सम्पन्न होता है, इसलिये वह अपनी कुटी में बैठकर ही कल्पना द्वारा संसार में घूम लेता है, २०वीं शताब्दि में रहकर भी वैदिक युग के स्वप्न देख सकता है, इसलिये जहाँ वह फुटकल वर्णन भी करता है वहाँ भी उसकी प्रवृत्ति प्रायः आत्म-विषयक (Subjective) नहीं होती। यदि ऐसा न मानें तो देव-कवि की प्रसिद्ध रचना "जाति-विलास" तो संभव हो सकती है, परन्तु मतिराम के ये उद्गार :—

"कोऊ अनेक उपाय करौ, कहुँ होत हैं आपने, पीउ पराये।"÷ किस प्रकार हृदय से निकले हुए माने जावेंगे। अस्तु, यह निश्चय हुआ कि मुक्तक-काव्य में भी कवि का व्यक्तित्व वहीं झलकता हुआ माना जायगा जहाँ उसमें वर्णन की ओर झुकाव नहीं है; वर्णन करने वाला कवि केवल विषय-निर्वाचन में अपनी रुचि दिखला सकता है, प्रत्येक घटना की पुष्टि अपने अनुभव से नहीं कर सकता।

× देव।

+ ठाकुर।

÷ मतिराम : रसराज।

यदि मुक्तक-काव्य व्यक्तित्व-प्रकाशन का सर्व सफल साधन है तो आजकल की छोटी कहानियाँ (Short Stories) इस ओर केवल निराशा ही दिखाती हैं। यह हो सकता है कि "पंच परमेश्वर" तथा "बड़े घर की बेटी" लिखने वाला कलाकर÷ एक विशेष प्रकार की सांस्कृतिक विचारधारा—ग्रामीण सभ्यता—से बड़ी सहानुभूति रखता हो; परन्तु आजकल की अधिकतर कहानियाँ किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रदर्शन करने के लिये ही लिखी जाती हैं, उनमें प्रसंगवश कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक बातें आ सकती हैं, परन्तु उनसे लेखक भी सहमत है। यह मानना ठीक नहीं। प्रायः कहानीकार राजनीतिक तथा सामाजिक इन परिस्थियों का कोई महत्व न समझकर उदासीन भाव से ही उनका वर्णन करता है; क्योंकि आज की कहानी का उद्देश्य विचार प्रकाशन नहीं है, प्रत्युत यह कहना चाहिए कि अधिक विचार-प्रकाशन तो कहानी-कला की असफलता है। उदाहरण के लिये, यदि गुलेरीजी❋ की कहानी "उसने कहा था" को पढ़ें तो उसमें जिस वीरता का वर्णन है वह तो मानो लेखक को अभीष्ट है। परन्तु जर्मन-जाति की बुराई तथा अंग्रेज तथा फ्रांसवालों की जो प्रशंसा है उसको लेखक का उद्देश्य न मानना चाहिए, वस्तुतः लेखक को यह भी ध्यान नहीं कि उसकी कुछ बातें राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं। प्रसादजी* की प्रसिद्ध कहानी "आकाशदीप" में बुद्धगुप्त ने

व्यक्तित्व का अभाव
छोटी कहानियाँ

÷ स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद।

❋ श्री० चन्द्रधर गुलेरी।

* श्री० जयशंकर "प्रसाद"।

चम्पा से जो अपने विचार प्रकट किये हैं:—

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा होचली है।"

उसमें यदि प्रसादजी के विचार खोजे जावेंगे; तो निश्चय ही निराशा होगी। वस्तुतः कहानीकार को इतना समय नहीं दिया जाता कि वह स्वयं कुछ कह सके, यदि वह भाषण या व्याख्या की ओर झुकेगा तो कहानी अपने पद से पतित हो जावेगी। कहानीकार साहित्य-संसार का सबसे निर्लिप्त प्राणी है।

जो कहानी एक मनोवैज्ञानिक सत्य तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण जीवन को अपना क्षेत्र बनाती है, उसको आजकल उपन्यास कहा जाता है। उपन्यासकार के पास पर्याप्त समय, पर्याप्त स्थान तथा पर्याप्त परिस्थितियाँ होती हैं; वह केवल मानसिक सत्यों का ही उद्घाटन नहीं करता, राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर भी टीका—टिप्पणी करता है; इसलिये उसको अपने उपन्यास में अपने विचार-प्रकाशन की पूरी छूट है। सामाजिक उपन्यासों में

उपन्यास में लेखक का व्यक्तित्व

यह प्रवृत्ति इतनी अधिक होती है कि प्रेमचन्द को कुछ आलोचक तो प्रचारक कहने लग गये हैं। इसका कारण उनके:—

१—विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं। ("गोदान" में मेहता)

२—मुझे अब इस डैमोक्रेसी में भक्ति नहीं रही। जरा सा काम

और महीनों की बहस।...जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है। ("गोदान" में मिर्जा).

२—संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ, मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार ही डालूँ तो प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये, अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ, तो भी उसको ईर्ष्या न जागे। ऐसी नारी पाकर मैं उसके चरणों में गिर पड़ूंगा और उस पर अपने को अर्पण कर दूँगा।

("गोदान" में मेहता)

ये तथा इस प्रकार के अन्य विचार हैं। ध्यान रखना होगा कि ये लेखक ने अपने मुख के वचन नहीं रखे हैं, प्रत्युत पात्रों के मुख से कहलवाये हैं; क्या लेखक भी इनको मानता है? इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि लेखक के सामने विचार करने वाले पात्र का क्या मूल्य है। प्रस्तुत प्रसंग में डा० मेहता को लेखक ने बड़ा सम्मान दिया है, ऐसा जान पड़ता है कि मेहता के मुख से जो बातें कहलवाई हैं, वे लेखक के निज के विचार हैं। मिर्जा को लेखक गंभीर व्यक्ति नहीं समझता, इस हेतु उसका जनतन्त्रशासन डेमोक्रेसी (Democracy) का विरोध लेखक का अपना दृढ़ विचार नहीं। परन्तु प्रायः तो कठिन है यह निश्चय करना कि अमुक पात्र का लेखक की दृष्टि में कितना मूल्य है (पुराने समय के आज राम और रावण के दो दल तो हैं नहीं, जो हम कह दें कि राम के साथी पवित्र तथा रावण के साथी धर्म-द्रोही)। दूसरे यदि यह ज्ञात हो भी जाय कि अमुक पात्र की ओर लेखक की स्निग्ध दृष्टि है तो भी यह मानते हुये कि

आजकल कोई भी पात्र न नितान्त श्वेत होता है न एकदम श्यामल, यह कैसे कहा जाय कि पात्र के कौन कौन से विचार लेखक को स्वीकार हैं ? स्वयं मेहता ने ही एक स्थान पर "मुक्तभोग" का समर्थन किया है, जो प्रेमचंदजी को कभी मान्य नहीं हो सकता। फिर मेहता के इस विचार—

"प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं ख़ूँख़्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।"

को प्रेमचंद के सिर मढ़ा जावे या नहीं यह समझ में नहीं आता। केवल थोड़ी सी सहायता इस मत से मिल सकती है कि प्रेमचंद के पात्र आदर्शोन्मुख हैं अर्थात् उनमें उत्तरोत्तर सुधार होता रहता है इसलिये यदि अंत तक एक "अनुकरणीय" पात्र का यही दृढ़ विचार रहता है तो लेखक भी शायद उससे सहमत माना जावेगा; दूसरी ओर यदि आदर्शोन्मुख पात्र अपने पिछले विचार का विरोध करता है तब तो निश्चय ही नवीन विचार लेखक का व्यक्तित्व प्रकट करता है। लेखक के विचार भी उत्तरोत्तर सुधरते रहते हैं इसलिये अपनी अंतिम कृति में अनुकरणीय पात्र के अन्तिम विचारों में उसका व्यक्तित्व छिपा रहता है, ऐसा मान लेना हमको बड़ी सहायता देगा। इस दृष्टि से प्रसादजी के अन्तिम उपन्यास "इरावती" में रखे गये ये उद्गार लेखक के उच्चतम विचार प्रकट करते हैं:—

"सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी।" (२१).

और अन्यत्र:—

"जगत् की एक जटिल समस्या है—स्त्री-पुरुष का स्निग्ध

मिलन।......रुचि, मान व प्रकृति इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म मिलन विरला होता है मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा। स्वतन्त्र चुनाव, स्वयंवर, यह सब सहायता नहीं दे सकते।" इसका उपाय एकमात्र समझौता है, वही तो ब्याह है।" (कंकाल).

लेखक ने एक सामाजिक समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं, जिनका पीछे कभी विरोध नहीं किया। ध्यान देने पर दो बातें जान पड़ती हैं, प्रथम यह कि विवाह के विषय में प्रेमचंद और प्रसाद दोनों के एक ही विचार हैं और आजकल भारतीय विचारक इनसे ज्यों के त्यों सहमत हैं; दूसरी बात यह है कि "इरावती" नामक अधूरे उपन्यास में प्रसादजी ने आर्य-जाति को जगाने का जो उपाय बतलाया है उस पर अविश्वास करने को मन नहीं चाहता—शुद्ध वैदिक दृष्टिकोण भी इस मत का समर्थन ही करेगा।

कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का जहाँ तक संबंध है, उपन्यास तथा प्रबन्ध काव्य एक ही धरातल पर दिखलाई पड़ते हैं। प्रबंध-काव्य का रचयिता भी अपने स्वतन्त्र विचार रख सकता है, और अनुकरणीय पात्रों द्वारा भी अपना मत प्रकट कर सकता है। राम-कथा में तुलसी ने ज्ञान और भक्ति का झमेला तो तय किया ही है, कुछ सामान्य विषयों पर भी उनका मत स्पष्ट हो जाता है:—

प्रबंध-काव्य में कवि का व्यक्तित्व

(१) तुलसी जस भवितव्यता,
तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै,
ताहि तहाँ लैजाय॥

(२) राम-भजन बिनु सुनहु खगेसा।
मिटै न जीवन केर कलेसा॥

इसी प्रकार आदर्श भगवान् राम के:—

"जिन्ह रन लहहिं न जिनके पीठी।
नहिं लावहिं पर-तिय मन डीठी॥
मंगल लहहिं न जिनके नाहीं।
ते नरवर थोरे जग माँहीं॥"

और भगवती सीता के ये वचन भी:—

"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहिं तरनि तें ताते॥
जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी।
तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी॥"

कवि के उद्गारों की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार श्री० मैथिलीशरण गुप्त के:—

"परिवर्त्तन ही यदि उन्नति है तो हम बढ़ते जाते हैं।
किन्तु मुझे तो सीधे-साधे पूर्वभाव ही भाते हैं॥"

ये विचार उनके इष्टदेव सौमित्र के मुख से कहे गये होने के कारण उनके अपने ही हैं। वस्तुतः प्राचीन पद्धति पर लिखे हुये काव्यों में कवि के व्यक्तित्व तक पहुँचना अधिक कठिन नहीं है।

अब एक कठिन स्थल पर विचार करते हैं। जायसी के "पद्मावत" में पद्मावती को खोजने वाले रत्नसेन के प्रति समुद्र के इन शब्दों पर विचार कीजिये:—

"तुही एक मैं बाउर भेंटा।
जैस राम दसरथ कर बेटा॥

ओहू नारि कर परा बिछोवा।
एहि समुद्र महँ फिरि-फिरि रोवा॥"+ (पृ० १८२).

क्या सचमुच कवि राम की निंदा कर रहा है? समुद्र तो नगण्य पात्र, परन्तु उसके प्रति कवि की कुभावना भी तो नहीं है!! अन्यत्र स्वयं पद्मावती रत्नसेन के शरीर पर यह :—

"तौ लगि भुगुति न लेइ सका, रावन सिय जब साथ।×
कौन भरोसे अब कहौं? जीव पराए हाथ॥ पृ० १००

लिख कर चली आती है, तब भी पाठक को कवि की सीता के प्रति आवश्यक श्रद्धा पर सन्देह होने लगता है—यद्यपि इस दोहे में "रावन" और "सीय" का दूसरा अर्थ है फिर भी ऐसा जान पड़ता है मानो कवि सीता को जनमाता नहीं समझ सकता।÷

जो बात हम ऊपर कहानियों के विषय में कह आये हैं कि साहित्य के इस अंग का कलाकार परम निर्लिप्त होता है, उसको फिर नाटकों के सम्बन्ध में भी दुहराना चाहते हैं; हाँ ध्यान केवल एक बात पर देना होगा कि नाटक में नायक इतना स्पष्ट होना है कि वह तथा उसके साथी एवं सहायक एक अलग लोक

+जैसा दशरथ का पुत्र राम था वैसा ही एक मूर्ख मुझको आज तू मिला है। वह भी तेरे समान ही पत्नी के वियोग में रोता हुआ इस समुद्र में चक्कर काटता रहा था॥

×जब तक सीता (यहाँ, पद्मावती) पास रही, रावण (यहाँ, रमण=रत्नसेन) उसका भोग न कर सका। अब (अलग होने पर) क्या भरोसा है, क्योंकि अब तो जीव भी दूसरे के अधीन है।

÷विशेष ज्ञान के लिये देखिये "साहित्य-सन्देश" (नवम्बर १९४८) में हमारा लेख जायसी

की सृष्टि करते हैं; अतः हम उस लोक के भावों को सहज ही लेखक के भाव मान सकते हैं। उदाहरण के लिये "स्कन्दगुप्त" में स्कन्दगुप्त, कमला, धातुसेन, सर्वनाग "चन्द्रगुप्त" में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण अल्का आदि के भाव नाटककार के अपने उद्गार माने जा सकते हैं। नायक स्कन्दगुप्त के ये विचार:—

नाटक में कवि का व्यक्तित्व

"परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है; इसी पर देवताओं का निवास होगा; विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूरी करूँ।"

लेखक का अपना आदर्श है। इसी प्रकार आदर्श ब्राह्मण चाणक्य के ये शब्द:—

"चाणक्य यह नहीं मानता कि कुछ असंभव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है; और, मैं अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ, यही मेरे लिये अच्छा होगा। मानव-हृदय में यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है। तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें। ···श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए।" (१८२)

प्रसादजी की एक बड़ी कठोर समस्या को समझाते हैं। अस्तु नाटकों में नाटककार का व्यक्तित्व यद्यपि पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। फिर भी उसका खोजना अपेक्षाकृत सरल है।

प्रबन्ध-काव्य हो अथवा मुक्तक कहानी हो या उपन्यास, नाटक हो या निबन्ध—साहित्य के प्रत्येक अंग में कलाकार अपना व्यक्तित्व छिपाकर रख देता है। यदि हमारे पास उसके जीवन की कोई सामग्री न भी हो, तो भी हम उसके स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार "मेघदूतम्" में वर्णित स्थानों की रमणीयता से आलोचक यह जान लेना चाहता है कि कालिदास का जन्म स्थान कौनसा था, क्योंकि उसका वर्णन सबसे अधिक रमणीय बन पड़ना चाहिए, उसी प्रकार कवि की सच्ची आलोचना उसके व्यक्तित्व की वास्तविक अभिव्यक्ति है— उसके किस विषय पर क्या विचार थे, और उसकी सामयिक परिस्थितियाँ क्या थीं, इनका अध्ययन ही हमको उसके समीप ले आता है। परन्तु यह कार्य जितना अधिक उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है। कवि की अन्तिम कृति में उसके सर्वप्रिय पात्र द्वारा ही उसके भावों की अभिव्यक्ति होती है, ऐसा मान लेना कदाचित् हमारी पर्याप्त सहायता कर सके ॥

उपसंहार—
व्यक्तित्व का महत्व

हिन्दी की आवश्यकताएँ

(१) प्रस्तावना—हिन्दी को अभूतपूर्व पद की प्राप्ति.
(२) गंभीरतम परिस्थिति.
(३) हिन्दी लेखकों में दोष.
(४) हिन्दी विद्वानों में कमी.
(५) हिन्दी अध्यापकों की कमियाँ.
(६) हिन्दी के पत्रकार.
(७) हिन्दी के प्रकाशक.
(८) हिन्दी के पाठक.
(९) हिन्दी के प्रेमी.
(१० उपसंहार.

दीर्घ-काल के स्वतन्त्रता-संग्राम के अनंतर जहाँ भारत ने स्वराज्य का पवित्र मुहूर्त देखा, वहाँ देश की जनता ने अनेक रोमांचकारी राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन भी देखे। ८०० वर्ष से संदेहात्मक परिस्थिति में रहने वाली हिंदी भाषा ने अपनी जड़ों को देश की नस-नस में फैलता देखा। हिंदी-प्रेमियों का अथक परिश्रम तथा उत्साह सफल हो गया और विधान-परिषद् ने हिन्दी को देश की राजभाषा स्वीकार कर लिया। यद्यपि उत्तर

प्रस्तावना
हिन्दी को अभूतपूर्व पद की प्राप्ति

भारत के तो किसी न किसी रूप में हिन्दी जनता और कभी कभी राज्य की भाषा रहती चली ही आ रही थी, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इतना व्यापक गौरव कभी भी भारत की किसी भाषा—

(संस्कृत को छोड़कर) को न मिला था। जो पद किसी दिन संस्कृत-भाषा को प्राप्त था वह आज हिन्दी भाषा को मिल गया, यह हमारे बड़े सौभाग्य की बात है।

किन्तु जिस प्रकार देश की स्वतन्त्रता को देखकर आज का साधारण भारतीय निश्चिन्त सा हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी की सफलता से ही मानों साधारण हिन्दी-प्रेमी निहाल हो उठा। बात ही ठीक है, अंधे के हाथ बटेर लग गई। जिन लोगों ने दिन-रात एक कर दिया उनसे पूछिये कि "कितना मार्ग अभी नापना है ?" तब पता चलेगा कि वास्तविक कार्य करने का तो समय अब आया है।

गंभीरतम परिस्थिति

जब आप उद्विग्न हो कर—
"छलनी पैर हुआ जाता है, कितना और रहा चलना" कह उठते हैं, तो वे मनस्वी और कार्यार्थी आपको धैर्य बँधा देते हैं ; परन्तु आपका यह कर्त्तव्य नहीं कि आप—

'सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपगार' कहते हुये मन ही मन प्रसन्न होते रहे। नवयुवकों का कर्त्तव्य है कि वे भावी उत्तरदायित्व को समझकर इस प्रकार कार्य करें जिससे उनकी अन्यतम अभिलाषा भी पूर्ण हो सके। हमारा अभिप्राय हिन्दी को उस गौरवमय पद के उपयुक्त बनाने से है। हो सकता है कि हमारी हिन्दी भारत की अन्य भाषाओं से अधिक सम्पन्न, अधिक विकसित, अधिक व्यापक तथा अधिक उन्नत हो परन्तु इतना ही तो पर्याप्त नहीं। स्वतन्त्र भारत संसार की एक महान् शक्ति है, इसका स्थान राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी निर्विवाद है; परन्तु क्या हमारी राजभाषा हिन्दी भी संसार की

उन्नतशील भाषाओं के बीच खड़ी हो कर अपने लावण्य से दर्शकों के मन को मोह सकती है। उत्तर निराशा सूचक ही होगा। हमारे हिन्दी वालों ने इस समस्या पर अभी विचार नहीं किया, उनमें कुछ स्वगत दोष जो हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इन दोषों को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर हिन्दी को उसका प्राप्य स्थान दें।

सब से पहिले साहित्य-सेवियों को ही लीजिये। साहित्यकार को जनता का पुरोहित माना गया है; क्योंकि वह जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में रहता है उन पर निष्क्रिय होकर ही विचार नहीं करता प्रत्युत उनमें से जीवन का एक अनुकरणीय मार्ग खोज निकालता है, वह क्रान्तिकारी तथा योधा है; उसकी लेखनी में संसार को कंपित कर देने की शक्ति होती है; वह निराशा भरे जीवन में स्फूर्त्ति भर देता है। तुलसी और भूषण इसी बात के प्रमाण हैं। आज का कवि परिस्थितियों से निर्लिप्त तो नहीं, परन्तु उसमें पथ-प्रदर्शन की शक्ति बहुत ही कम है। वह प्रायः अपने ही सुख-दुःख से व्यथित हो चीत्कार कर उठता है :—

हिन्दी-लेखकों के दोष

"अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी।

हरे-भरे होंगे वन-उपवन,
बीत चुके हैं दिन पतझर के।
कहाँ याद आते होंगे अब,
मेरे अश्रु-हास पल भर के।

आज तुम्हारे स्वर में स्वर भर कोयल गाती होगी॥"

—पलाशवन।

और कभी अपने छोटे से सुख में ही वह फूल उठता है :—

"खिली हवा है खुली धूप है,
दुनिया कितनी सुन्दर रानी!
आओ सारस की जोड़ी से,
निकल चलें हम दोनों प्रानी!!"—नरेन्द्र शर्मा

जो लेखक या कवि पाठक को दलदल में फँसाकर उसके उद्धार का उपाय न बतला सके, वह युग-निर्माता नहीं माना जा सकता। भले ही वह समाज की यथार्थ दशा का वर्णन करे, उसमें पथ-प्रदर्शक का गुण भी होना चाहिए। हिन्दी का आज का लेखक सबसे निरीह प्राणी है वह समाज से सन्तुष्ट नहीं, राज्य से सन्तुष्ट नहीं, धर्म से सन्तुष्ट नहीं—अपने वचनों में अपनी बीती और अपने कटु अनुभव का गरल उगलता हुआ वह पाठक के सामने समाज का करुणातम चित्र भले ही खींच दे, उसमें निर्लिप्त दर्शक की सी भावना नहीं आ पाई है। फल यह है कि उसके आदर्श गिर चुके हैं, वह अपनी निर्धनता का ढोल बजाता हुआ—और साहित्य-सेवा को इस निर्धनता का कारण मानता हुआ, छोटे-छोटे अपढ़ और अविज्ञानों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनता हुआ, प्रायः अपने मुँह ही मियाँ मिट्ठू बनता हुआ, नितान्त असफल जीवन व्यतीत करता है। मैं प्रगतिवाद का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु आदर्शहीन कविता को काँव-काँव ही समझता हूँ तथा यह भी मेरा विश्वास है कि विचारों की छाया व्यक्तिगत जीवन पर भी पड़ती है इसलिये जो कवि नित्यप्रति अपनी पत्नी से झगड़ता रहता है, समाचार-पत्र वालों को चाय पिलाता रहता है, इन्द्रा मिल्स के मजदूरों के बीच अपनी साहित्यिकता की स्वयं सराहना करता रहता है, वह हमको कुछ बतला पावेगा, ऐसा सोचना

कोयला चाटकर प्यास बुझाने का सा प्रयत्न है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी के कवि तथा लेखक इसी प्रकार के हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कवि-सम्मेलनों में—

"रात-रात भर जग वियोग में
मैंने मन समझाया।"

और— "दूध-दही-दर्शन बिनु रहते,
महीनों आटा बिना तरसते,
फिर भी जुटे बैल से रहते,
हम भारत के हैं सपूत।"

पढ़-पढ़कर "वाह-वाह" लूटने वालों से अभागा किसका जीवन होगा, क्योंकि न उनका जीवन सफल है न वे दूसरों का जीवन सफल कर सकते हैं। हिन्दी का गौरव बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि अधिक गंभीर और अधिक विचारशील व्यक्ति इस क्षेत्र में आवें—हमको प्रसाद, शुक्ल और प्रेमचन्द की आवश्यकता पहिले की अपेक्षा अब अधिक है; रचनात्मक साहित्य के लिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही हमको चाहिए, जनता के मत से निर्वाचित एम० एल० ए० नहीं; साहित्यिक-क्षेत्र में राजवन्दी और समाज-बन्दियों को प्रचार द्वारा ऊँचा स्थान देकर हम अपना सबसे बड़ा अहित कर रहे हैं!

हिन्दी के विद्वानों की और भी बुरी दशा है वस्तुतः आजकल हिन्दी में भावुक (कवि) तथा भावक (समालोचक) का भेद रह नहीं गया है, जो थोड़ा भी हिन्दी-प्रेमी है वह कविता भी कर लेता है और आलोचना भी। फलस्वरूप हमको—

"इससे मैं असमंजस में हूँ, तीन-राह पर भूला मन।
दोनों हैं सरदार इधर और उधर पिया का आकर्षन॥" (नूरजहाँ)

वाली परिस्थिति दिखलाई पड़ने लगती है। रीतिकाल के

हिन्दी विद्वानों में कमी

साहित्यिकों ने कवि तथा आचार्य दोनों बनने की भूल में कितनी असफलता दिखलाई यह हम देख चुके हैं; और हम यह भी देख चुके हैं कि तुलसीदास यद्यपि साहित्य-शास्त्र के भी पूर्ण ज्ञाता थे फिर भी वे केवल कवि बनकर ही संतुष्ट रहे, फिर भी क्यों हमारी आँखें नहीं खुलतीं? 'यदि बुरा न मानो तो कह दूँ' कि आप में एक भी गुण नहीं है और न आपका यह विश्वास है कि आप किसी विशेष गुण का अपने में विकास ही कर सकते हैं इसलिये "घुणाक्षर-न्याय ×" से अपनी नैया मँझधार में पड़ी देखकर आप चारों ओर हाथ-पैर पटकते हैं। इन विद्वानों का कोई अध्ययन तो होता नहीं, यदि हुआ भी तो अन्य शास्त्रों—इतिहास, दर्शन आदि—या अन्य भाषाओं—संस्कृत, अंग्रेजी—का थोड़ा बहुत हो, हिन्दी का नहीं होता। करने लगते हैं एक दूसरे का अंधानुकरण—अन्धेन नीयमानो यथाऽन्धः ÷। इसीलिये आज हिंदी में उत्कृष्ट निबंध लेखकों का नितान्त अभाव है, और सिद्ध समालोचक भी नहीं दिखलाई पड़ते। यदि कोई आलोचना या लेख लिखा भी जाता है तो या तो छात्रों के लिये "नोट‡" के रूप में, या पाठ्यक्रम में सम्मिलित करवाकर 'चार

×जिस प्रकार घुन कीड़ा जब काट खाता है तो दैवयोग से कभी-कभी किसी अक्षर का सा रूप उस काठ में बन जाया करता है, उसी प्रकार निरुद्देश्य प्रयत्न से असांभव्य सफलता प्राप्त करना।

÷जिस प्रकार एक अंधा दूसरे अंधे को मार्ग बतलाता है।

‡Note—टीका

पैसे कमाने के लिये' ।' शुक्लजी जैसे समालोचकों और विद्वानों की हिंदी में सबसे बड़ी कमी है। जब आपकी भाषा भारत की महत्वपूर्ण भाषा है तो इसको केवल पाठशालाओं और विद्यालयों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, इसमें विभिन्न विषयों की स्वतन्त्र तथा मौलिक पुस्तकें लिखी जायँ, इसके विद्वान् विभिन्न विषयों, शास्त्रों तथा भाषाओं का भी ज्ञान रखें—उदारता तथा व्यापकता से ही हिन्दी का क्षेत्र बढ़ेगा और तभी इसका सम्मान भी बढ़ सकता है।

वस्तुतः अब तक हिंदी अध्यापकों तथा विद्यार्थियों तक ही फैली हुई थी। पंजाब तथा दिल्ली प्रान्तों में तो या तो महिलाएँ इस भाषा को सीखती थीं, या अपनी पत्नी का पत्र समझ लेने के लिये विवाहित पुरुष कुछ सीखने का प्रयत्न किया करते थे। दूसरे प्रान्तों में भी हिन्दी एक उपेक्षित विषय (Neglected Subject) था; जो व्यक्ति केवल पढ़े-लिखे होने का नाम चाहते थे वे हिन्दी में एम० ए० पास करते थे। जब छात्रों की यह दशा थी तो अध्यापकों का कौन सम्मान करता। हिन्दी वाला एक अल्हड़, अनपढ़ तथा गँवार व्यक्ति समझा जाता था; समान योग्यता होने पर भी अंग्रेजी वाले की अपेक्षा उसका मूल्य एक-चौथाई था। कहीं-कहीं तो संस्कृत का "शास्त्री" ही हिन्दी का योग्य अध्यापक मान लिया जाता था। एक तो अध्यापकी फिर भी भारतीय भाषा—विशेषकर हिंदी की, इसको:—

हिन्दी के अध्यापक तथा छात्रों की कमियाँ

"ग्रह-गृहीत, पुनि वात-बस, तेहि पर बीछी-मार।
ताहि पियाबहु बारुनी, कहहु कवन उपचार॥"❀

का ध्यान दिलाती है। यह तो आज भी देखा गया है कि स्वयं चोर बाजारी करके धनी तथा विलासी बनकर अपना सारा रुपया पश्चिमी टीमटाम में व्यय कर देने वाले भी यह चाहते हैं कि "हिंदी के पण्डित" को "आदर्श-जीवन" बिताना चाहिए—वह खादी पहिनता हो, दोनों बार संध्या करता हो, मंगल को व्रत रखता हो, प्याज तक अपनी आँखों से न देखता हो, कम से कम सन् ४२ में तो जेल गया ही हो !! क्या हिंदी-पंडित ने ही भारतीय संस्कृति के प्रचार का ठेका ले लिया है ? सेठ जी, जब अंग्रेजी के नाम पर "टू" (To) तथा "फ्रोम" (From)× जानने वाले आप टोप लगाते हैं तो हिन्दी-पंडित तो बेचारा एम० ए० पास है, वह क्यों न * बुशशर्ट पहिनेगा ?

परन्तु आज दशा कुछ बदली हुई है, दूध का जला छाछ को

❀ जिसके बुरे गृह हों, बात का रोग हो गया हो, उस पर बीछी ने काट लिया हो, फिर यदि उसे शराब पिला दी जावे तो फिर उसकी क्या चिकित्सा हो सकती है ? वह तो सब ओर घिरकर मृत्यु के मुख में जा रहा है।

× एक सेठ जी अपने स्टेनो को पत्र बोला करते हैं "फ्रोम मैसर्स गंगाराम एण्ड सन्स नया बाजार लखीमपुर, टू मैसर्स भरोसीलाल जलेबीदास, किराना मर्चेण्ट्स शिकारपुर" इतना एक साँस में कहकर फिर कहते थे—"आँगें आपुकी चिट्ठी मिली..."। बेचारा स्टेनो मन ही मन में हँसता है।

* Bush shirt.

फूँक फूँक कर पीता है। आज आपका राज्य है, आपकी भाषा राजभाषा है, राज्य में आपके समर्थक हैं; बना दीजिये नियम कि "प्रभाकर" तथा "साहित्यरत्न" परीक्षा में उत्तीर्ण होना एम० ए० प्रथम श्रेणी के समान समझा जावेगा। मैं किसी परीक्षा विशेष का विरोधी या समर्थक नहीं हूं, परन्तु इतना अवश्य समझता हूँ कि जिस परीक्षा के लिये अधिक समय, अधिक परिश्रम तथा अधिक बुद्धि लगानी पड़ती होगी, शायद वह अधिक बड़ी होती होगी। यदि "साहित्यरत्न" ही एम० ए० के बराबर है तो आप क्यों ज्यों-त्यों कर एम० ए० परीक्षा में सम्मिलित होने के इच्छुक हैं? हिंदी के अध्यापक इसी प्रकार की हीनता-ग्रन्थि (Inferiority complex) लिये हुए क्षेत्र में आते हैं और देश-सेवा, समाज-सेवा, आदि के द्वारा अपने को 'शहीद' घोषित करने का प्रयत्न किया करते हैं। जब तक हमारे अध्यापकों में सुधार न होगा, हमको अच्छे छात्र भी नहीं मिल सकते। हिंदी में प्रचार-कार्य तो बहुत होचुका (केवल कुछ प्रान्तों में ही करना शेष है) अब ठोस-कार्य होना चाहिए!

हिन्दी के पत्रकार अध्यापकों से भी गये बीते हैं। न किसी भी विषय की कोई योग्यता न कोई अनुभव, परन्तु दम भरते हैं देश तथा साहित्य दोनों ही की सेवा का—'गिरा लिया है एक तीर ही में मैंने भी बड़ा शिकार'×। पश्चिम का पत्रकार बहुत बड़ा व्यक्ति होता है वह शासन का सूत्र भी बड़ा अपने हाथ से संचालित करता है; उसके सामने नौकरी या धन का प्रश्न नहीं, पार्टी तथा शक्ति का प्रश्न होता है—वह प्रधानमंत्री भी बन सकता है और गृहमन्त्री भी। परन्तु हिन्दी का पत्रकार कौन है? यदि पढ़े

× नूरजहाँ

हिन्दी के पत्रकार

लिखे होते तो कहीं क्लर्की ही कर लेते, अगर पैसा होता तो कहीं पान की दूकान ही खोल लेते, अगर राजनीति ही जानते तो अपने को साम्यवादी ही कहते रहते—अब तो पत्रकार हैं, देश-सेवक, साहित्य-सेवक, त्यागी, तथा पथ-प्रदर्शक !! अंग्रेजी वालों को ३ हजार मासिक मिलता है हमको केवल सौ रुपये !! अगर चाहें तो आज १५०) मासिक की नौकरी भी लग सकती है, परन्तु हम तो शहीद हैं—भूखों मरेंगे और सेवा करेंगे !! मेरी समझ में भूखे मरने में जो गौरव है उससे बड़ा पाप भूख का गीत गाने में है—या तो भूख से डरो मत, या डरते हो तो ऐसा काम करो जिससे तुम भूखों मरना न देखते हो और आपके समाचार पत्रों में क्या होता है? ऊपर मोटे अक्षरों में लिखना प्रारंभ होता है "दिल्ली में परमात्मा" और फिर नीचे की पंक्तियों चलेगी "...की कृपा से पहाड़गंज में भी बालिकाओं की शिक्षा का आदि। इसी भाँति एक पत्र में मोटे अक्षरों में लिखा था "बम्बई में होगई होगई", फिर नीचे लिखा था "कल बम्बई में इतनी अधिक वर्षा होगई कि लोगों का अनुमान है कि सन् १६३० से अब तक कभी न हुई थी"। यदि अन्य समाचार खोजने हों तो देख लीजिये कहाँ पर एक प्रेमी ने अपनी प्रेयसी की नाक काट ली, कहाँ एक स्त्री के दो जुड़वाँ बच्चे हुए, कहाँ एक एम० ए० पास लड़की ने एक अनपढ़ से विवाह कर लिया और कहाँ बहू ने ससुर को जूतों से पीटा। सम्पादकीय पढ़ना है तो स्थानीय राजनीति (Local-Politics) का ज्ञान आवश्यक है, नहीं तो आप यह कैसे जान पावेंगे कि जिनके घर के गढ़े मुर्दे उखाड़े जारहे हैं वे भी देवनगर के खुशालसिंह कुँजड़े साहब हैं? यदि चित्रों पर ध्यान दें तो

सुनिये एक तो आपके परिचित बिल्लू साहब का है जो दो-चार बार कंचो नाइन के हाथ पूजा करा कर भी यह समझते हैं कि सफेद टोपी श्याम के पीतांबर और बहुरूपिये के हजारी टोपे से कम नहीं जिसको पहिनकर पहिनने वाले का सारा रूप वस्त्र के अनुरूप ही हो जाता है; दूसरे हैं श्री० अटकेसजी बड़े-बड़े बाल और मुख पर करुणा की स्थायी छाया, एक के प्रेम में अटक कर आप शैलेन्द्र से 'अटकेस' होगये हैं। हँसी भी आती है और दुःख भी होता है। हमसे कहा जाता है हिन्दी का समाचार-पत्र पढ़ा कीजिये अंग्रेजी का क्यों पढ़ते हो? भाईजी, जब तक हिन्दी के पत्रों की यही दशा है तब तक हम ही नहीं कोई भी—सेठों को छोड़ दीजिये—इनको पढ़कर आपका कृतज्ञ नहीं बन सकता; यदि हमारे ही कारण पृथ्वी रसातल को जारही हो तो कल से चोटी में गाँठ लगाना प्रारंभ कर देंगे, परन्तु अंग्रेजी पत्रों को हमारे हाथों से छीनकर हमको अंधों में काना सरदार मत बनाओ। हिन्दी का वास्तविक उत्थान उस समय माना जावेगा जब समाचार-पत्रों में अंग्रेजी को हटाकर उसका स्थान लेने योग्य वह हो जावेगी।

हिन्दी के प्रकाशक एक नये ही प्राणी हैं। अंग्रेजी का प्रकाशक आपकी लाख खुशामद करेगा और इस बात को सदा मानेगा आपही के कारण उसकी जीविका चलती है और संपत्ति स्थिर बनी हुई है। परन्तु हिन्दी का प्रकाशक पहला अहसान तो देश-सेवा का करेगा, दूसरा साहित्य सेवा का और तीसरा इस बात का कि आपको कोई पूछता न था, उसके

हिन्दी के प्रकाशक

कारण आपभी प्रकाश में आगये। यदि आप दाम तय करने जावेंगे तो वह कितनी निर्लिप्त भावना से कहेगा—"एक पंजाब के

शरणार्थी भी हिन्दी के बड़े विद्वान् हैं, वे पचास रुपये लेकर यह काम करने को तैयार हैं, आप जरा अपने परिचित हैं इसलिये हमने आपको पूछना भी ठीक समझा। आगे आपकी इच्छा। और भाई साहब हमको तो हिन्दी से प्रेम है इसलिये इन पुस्तकों को छापते हैं, नहीं तो इनमें तो घर का पैसा ही लग जाता है"। भारत का व्यापारी एक ही वस्तु से अपना घर भरना चाहता है, वह कहता तो यह है कि केवल उनका लाभ उठाता है जितना साग में नमक, परन्तु वास्तव में वह इतना नफा (लाभ) खाता है जितना कि मूँग की दाल में पानी। देश में कुछ ऐसे प्रकाशक अवश्य हैं जिन्होंने, कम से कम सुव्यवस्थित प्रकाशन द्वारा, हिंदी की सेवा की है परन्तु उन तक नये साहित्यिकों की पहुँच नहीं हो पाती और जिस प्रकार जवानी की उमंग में १००) मासिक पर दिन काटते हुये हम अपनी सारी सरसता खो चुकने पर वृद्धावस्था में २५०) व्यर्थ कमाने के योग्य होते हैं, उसी प्रकार प्रारंभिक उत्साह में हमको अन्य प्रकाशक चूँसते रहते हैं तब कहीं २० वर्ष उपरांत हमारी रचनाएँ किसी अच्छे प्रकाशक द्वारा स्वीकृत की जा सकती हैं, परन्तु—

"तुमने अच्छा किया नहीं पर अब तू अवसर चूका।
और तुम्हारे दामन में छींटा लग गया लहू का॥"×

जब तक हमारे प्रकाशक उच्च आदर्शों को लेकर प्राचीन साहित्य के संरक्षण तथा नवीन साहित्य के प्रोत्साहन का भार न लेंगे तब तक हमारा वैसा प्रचार नहीं हो सकता जैसा कि अंग्रेजी का है।

× नूरजहाँ.

किन्तु सारा दोष तो हिन्दी के पाठकों का है। किसी भी प्रतिष्ठित भाषा के पाठकों को देख लीजिये, जिस विषय का उनको शौक होगा उसकी पुस्तकों में अपना बहुत सा रुपया व्यय कर देंगे, परन्तु हिन्दी के पाठक मानो दूसरों पर अहसान करने के लिये ही पढ़ते हैं। बड़े-बड़े धनवानों को भी देखा है, अंग्रेजी की पुस्तकें मोल लेने में सिनेमा और थियेटर देखने में रुपया व्यय करते हुये उनका चित्त प्रफुल्लित होगा, परन्तु हिन्दी की पुस्तकें लेते समय ऐसी मुखमुद्रा बना देंगे मानो इनके पैर में कोई सुई चुभो रहा है; कहेंगे—"मुझको हिन्दी से बड़ा प्रेम है, कुछ अच्छी पुस्तकें आप पढ़ने को दीजिये, धीरे-धीरे हिन्दी सीखने की कोशिश भी कर रहा हूँ।" ऐसा जान पड़ता है मानो हमारे ऊपर कोई अहसान किया जा रहा है। यह तो उनका हिन्दी का प्रेम रहा, अब छात्रों का हिन्दी-प्रेम देख लीजिये। एम० ए० तक पढ़ते जायेंगे परन्तु पुस्तकें मोल लेने से मानो उनको चिढ़ है; ऐसे छात्रों को भी जानता हूँ जिन्होंने अपनी सारी शिक्षा समाप्त करली, परन्तु एक भी पुस्तक मोल नहीं ली। वस्तुतः अब तक हिन्दी उपेक्षित भाषा रही है इसलिये इसका लिखना, पढ़ना, पढ़ाना या प्रकाशन सभी उपेक्षा की भावना से देखे गये हैं। जब तक हमारे घर-घर में हमारी साहित्यिक रचनाएँ न फैल जायेंगी, तब तक हम अपनी साहित्यिक परिस्थिति को सन्तोषजनक नहीं कह सकते। यह भी कहा जाता है और ठीक भी है कि हिन्दी में अभी ऐसी रचनाएँ नहीं हैं जिनके लिये पैसे खर्च किये जायँ। यह पाठकों का दोष है या लेखकों का, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रत्येक

हिन्दी के पाठक

लेखक पाठक भी होता है, क्या वह पाठक की स्थिति में अपने को रख कर कभी इस प्रश्न पर विचार करता है ? मैं समझता हूँ यदि किसी की आँख को अच्छा रूप देखने को न मिले तो वह अपनी उस आँख को फोड़ न लेगा, इसी प्रकार यदि पाठक हमारी प्रतिभा और परिश्रम का पूरा मूल्य नहीं चुकाते, तब भी हमको अपना स्तर ऊँचा ही रखना चाहिए। बंगाली, गुजराती तथा मराठी आदि साहित्यों ने पैसे देकर पढ़ने वाले पाठक उत्पन्न कर लिये हैं, हिन्दी-साहित्य को भी अपने पाठक—ऐसे पाठक जो सहर्ष एक के स्थान पर दो पैसे देने को तैयार हों—उत्पन्न करने चाहिएँ।

हिन्दी-प्रेमी ही हिन्दी के लिये क्या करते हैं ? उनका प्रेम निष्क्रिय है, न वे इसके भंडार को भर सकते हैं, न इसका प्रकाशन सुगम बना सकते हैं, न वे आर्थिक सहायता कर सकते हैं। प्रायः सेठों का हिन्दी-प्रेम तो पैसा बनाने के लिये है। आधे से अधिक प्रेमी ऐसे हैं जिनकी जीविका ही प्रेम का आधार है। हृदय से प्रशंसा करने वाला कोई भी गुणग्राही आज तक न मिला। आपका प्रचार कार्य भी शिथिल है। पुस्तकालय, वाचनालय आदि खोलना, पुरस्कारों में हिन्दी पुस्तकों का दान, कवियों का जन्मोत्सव मनाना उनको सार्वजनिक सन्मान देना, उनके वचन अंकित कर स्थान-स्थान पर लगना—ये सारी बातें हिन्दी-प्रेम की हैं, जिनका आज एक प्रकार से अभाव है। आज का हिन्दी-प्रेमी उस ग्रामीण स्त्री का पति है जो नगर में उसके साथ घूमते फिरते भी सकुचाता है परन्तु जब दूसरा कोई पास नहीं होता तो उसका हृदय प्रेम से भर कर उस प्रिया को अपने दिल में बैठा लेने को प्रेरित करता है। हीनता-ग्रन्थि हमारे प्रेम को मूल में

हिन्दी के प्रेमी

फूलने नहीं देती। जब तक हमारा हिन्दी-प्रेम हमारे मानस को वास्तविक और निर्द्वन्द्व प्रेरणा बन कर नहीं आता तब तक अधूरा है।

इस भाँति हमने देखा कि अब तक हमने जो कुछ किया है वह हिन्दी जैसी गौरवमयी भाषा के लिये कुछ भी नहीं है। हमको अब उपेक्षा दृष्टि न रखनी चाहिए, प्रत्युत अपने कर्त्तव्य

उपसंहार

का उत्तरदायित्व समझकर अपनी भाषा को संसार की श्रेष्ठतम तथा उच्चतम भाषाओं के बीच सगौरव रख देना चाहिए। प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार त्याग तथा परिश्रम का ऋषि-तुल्य जीवन बिताता हुआ सेवा करने के लिये कटिबद्ध हो जावे, तो शीघ्र ही भारत में एक नया प्रभात होगा ऐसा प्रभात जिसका प्रकाश सारे संसार को चमत्कृत करदे। धनी, पंडित, सामान्य-सेवक, तथा प्रचारक सभी का समान मूल्य तथा स्थान है; भाषा सेवा में सबको समान भाग लेकर हाथ बँटाना चाहिए। आशा है स्वतन्त्र भारत में इस भावना को लेकर अधिकाधिक व्यक्ति आगे बढ़ेंगे।

—

हिन्दी-साहित्य में नारी

(१) प्रस्तावना—नारी पुरुष की सबसे बड़ी समस्या रही है.

(२) वीर-गाथा काल की नारी.

(३) भक्ति-काव्य के भिन्न भिन्न आदर्श—

(क) कबीर में—घृणा.

(ख) जायसी में—अभारतीय प्रभाव.

(ग) तुलसी में—सामाजिक चित्रण.

(घ) सूर में—आध्यात्मिक चित्रण.

(४) रीतिकाल की नारी—विलास की वस्तु.

—भूषण में।

(५) आज की नारी.

(६) श्रीमती महादेवी वर्मा के विचार.

संसार के सभी विचारकों के सामने 'नारी' एक सबसे बड़ी समस्या बनकर उनके जीवन को प्रभावित करती रही है; हो सकता है कि एक व्यक्ति के जीवन में नारी के प्रति आकर्षण रहा हो और दूसरे के जीवन में उसके प्रति घृणा; एक व्यक्ति नारी के कारण पतित हो गया हो और दूसरे का उद्धार हो गया हो, परन्तु यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो संसार के अधिकतर महा-पुरुष—असाधारण व्यक्ति—नारी के कारण कुछ से कुछ हो गये

नारी पुरुष की सबसे बड़ी समस्या है।

हैं। भारत का इतिहास भी यही बतलाता है। अनुमान से ऐसा जान पड़ता है कि जब से कुटुम्ब मातृदेव (Matriachal) न रहकर पितृदेव (Patriarchal) बन गये—जब से कुटुम्ब का शासन स्त्री से पुरुष ने छीन लिया—तब से स्त्री, पुरुष पर शारीरिक तथा भौतिक शासन न कर सकने के कारण, उसके हृदय पर शासन करने लगी। पुरुष की सारी व्यवस्था, सारा साहित्य, सारी संस्कृति, सारी कला, स्त्री को लक्ष्य बनाकर ही होती है। हो सकता है कोई व्यक्ति शुकदेव के समान जन्म से ही विरक्त हो, उसके जीवन में सौंदर्य तथा आकर्षण, कला+ और विज्ञान कोई मूल्य न रखते हों परंतु ऐसे व्यक्ति यदि कुछ हैं भी तो वे "पशु वा पशुपति वा× की गणना में आते हैं। हिन्दी-साहित्य में यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि समय-समय पर हमारी समाज की नारी के प्रति क्या-क्या भाव रहे हैं।

वीरगाथा काल की नारी प्रायः युद्ध का कारण रही है, उसका स्वयंवर सदा रक्त बहाकर अपनी विजय का सिंहनाद करने वाले वीर को विजयश्री का तिलक देता था। संयोगिना÷ के कारण किस प्रकार भारत का पतन हुआ, यह सभी को विदित है; परन्तु ध्यान इस बात पर देना होगा कि वीरकाव्य की नारी सुन्दरता में अपूर्व

× सब कला बला थी उसको, सौंदर्य, प्रेम की माया।
बेकारों का पागलपन, यह उसको कभी न भाया॥
—नूरजहाँ।

+या तो वह पशु (हृदयहीन मूर्ख प्राणी) है या पशुपति (शिव, पूर्ण योगी) है।

÷जयचंद की पुत्री और पृथ्वीराज की पत्नी।

अवश्य थी और कभी-कभी किसी वीर पुरुष को प्रेम भी करती थी—उसके पास अपने प्रेम का सन्देश भी भिजावती थी, परन्तु वह मानो खुले चौक में रखा हुआ एक उपहार है, जो कोई सबसे अधिक वीर हो, जो कोई स्वयंवर के पण को पूरा कर सके, वही उसके साथ विवाह कर सकता है और फिर वह उसी वीर को प्रेम करने लगेगी। राजपूत-काल की यह पतिभक्ति कभी-कभी तो अस्वाभाविक सी जान पड़ने लगती है—पराजित राजा की पुत्री विजयी को अपना सब कुछ मानने लगती है और अपने माता-पिता के स्नेह को भी भूल जाती है। नारी का यह गुण—एक स्थान पर जन्म लेकर किसी दूसरे ही घर की शोभा बढ़ाना+ सती* की पतिभक्ति में भी मिलता है और दुहिता‡ शब्द की व्युत्पत्ति (Derivation) में भी इसकी झलक मिलती है। वास्तव में वीर-गाथा काल की नारी का अपना कोई व्यक्तित्व न था, वह एक धारण करने योग्य रत्न×

वीरगाथा-काल की नारी

\+ उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं ॥ —तुलसी।

*प्रजापति दक्ष की पुत्री सती यज्ञ में अपने पिता शिव को निमन्त्रित न पाकर यज्ञ ध्वंस कराने लगी, और अंत में उसी में भस्म हो गई।

‡ दुहिता (पुत्री) मी व्युत्पत्ति "दूरे हिता दुहिता" की जाति है, जिसका अर्थ है "जो (अपने नहीं प्रत्युत) दूसरे के (पति आदि के) ही हित की हो"।

× 'नारी-रत्न' एक प्रसिद्ध पद होगया है, सुन्दरता तथा निरीहता के कारण उसको 'रत्न' बनाकर भोग्या मात्र बना दिया गया है, चेतन प्राणी नहीं रहने दिया।

भले ही हो, मानवीय चेतनापूर्ण प्राणी न थी; वह उपहार और शोभा की सामग्री थी इसलिये राजा लोग अनेक रत्नों के समान अनेक रमणियाँ भी रखते थे, उनका जीना-मरना, सोचना-विचारना तक उनके पति के हाथ में था; पति उनका शरीर तो न था परन्तु आत्मा, मन और चेतनता सब कुछ वही था।

परन्तु इसी काल में स्त्री को दूसरा भी रूप मिलता है, वह पूर्व और दक्षिण का था। उत्तर-पश्चिम में तो युद्ध चल रहे थे, किन्तु मिथिला की अमराइयों में राधा की 'केलि-कथा'+ में कुतूहल हो रहा था। विद्यापति की राधा विलासिनी है, वह 'केलि-कलावति×, है व्यवहार कुशल नहीं, न वह सामाजिक व्यवस्था ही मानती है; उसका मन ही उसका सहचर है और मन्मथ÷ ही उसका गुरु है। हिन्दी में राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण नारी को जो स्थान रीतिकाल में मिला, वह संस्कृत-साहित्य की परम्परा से विद्यापति में १५ वीं शती में ही आगया था। परन्तु विद्यापति की राधा उस युग का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वह केवल सनातन परम्परा का निर्वाह भर है, उतनी वासना और विलास उस समय वैभवशालियों में भी न आया था, इसीलिये अन्य कवियों ने उस शैली को नहीं अपनाया।

विद्यापति की नारी

भक्ति-काल में भी कम अव्यवस्था न थी। भक्ति की चार

+ "यदि केलि-कलासु कुतूहलम्" —गीतगोविंदम्।

× केलि-कलावति कुसुम-सरसि-कुल, कौसल करल पयान। —विद्यापति।

÷ मन्मथ=कामदेव।

शाखाओं का अपना अलग-अलग संसार था। कबीर जहाँ धार्मिक सिद्धान्तों में कट्टर थे, वहाँ सांसारिक व्यवहार में भी खरी-खरी सुनाते थे। वैराग्यपूर्ण जीवन का उपदेश देने के लिये उन्होंने

भक्ति-काव्य कबीर में नारी

माया के इस प्रमुख रूप—नारी को बुरे से बुरे शब्दों में हेय बतलाया है। वे उसको अपवित्र, हत्यारी❀ आदि भी कह दिया करते थे :—

जहाँ जराई सुन्दरी, तू जनि जाइ कबीर।
उड़ि के धूल जो लागसी, मैला होइ सरीर॥ १॥
छोटी-मोटी कामिनी सब ही विष की बेलि।
बैरी मारै दाँव परि, यह मारै हँसि-खेलि॥ २॥
कबिरा तिन की कौन गति, निल नारी के संग॥ ३॥
एक कनक और कामिनी, दुरगम घाटी दोय॥ ४॥

कबीर की इस कट्टरता का कारण यह नहीं था कि वे नारी जाति के विरुद्ध कोई आन्दोलन करना चाहते थे, प्रत्युत इस समय पुरुषों और साथ-साथ स्त्रियों के आदर्श बहुत गिर गये थे, पूजा की भावना के स्थान पर मुसलमानों ने नारी को केवल विलास की वस्तु बनाना हिन्दुओं को भी सिखा दिया था, जो गृहस्थ थे वे सुखी न थे, बैरागी स्त्रियों के साथ रहने से किस प्रकार बिगड़ जाते हैं इसका प्रमाण 'वाममार्ग'× था; अतः कबीर ने सन्यासियों को नारी की छाया+ से बचने का उपदेश दिया और स्वयं भी वैसा ही

❀ साँप बीछि को मंत्र है, माहुर भारे जात।
विकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात॥

× वेदों के विरुद्ध (वाम) चलने वाला एक सम्प्रदाय।

+ नारी की झाँई परत, सूरा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥

किया :—

नारी तो हम भी करी, जाना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

वैसे उन्होंने विरहिणी की तथा पतिव्रता की बड़ी प्रशंसा की है तथा आदर्श भक्ति-क्षेत्र में भी अनुकरणीय माना है :—

नाम न रहा तो क्या हुआ, जो अंतर हैं हेत
पतिबरता पति को भजै, मुख से नाम न लेत॥

जायसी के काव्य में कुछ मुस्लिम प्रभाव मिलता है। एक तो राजपूत-काल की वीरता के स्थान पर नारी में अत्यधिक कोमलता तथा सुकुमारता (नजाकत) आगई है। पद्मावती का सारा रूप-वर्णन उसके इसी गुण को दिखलाता है, वह इतनी कोमल है कि उसके खाने के पानों की सारी नसें खोज-खोजकर बीनली जाती हैं, जिससे उनका कोई भी अंश उसको होठों में न चुभ जाय; वह पहिनती है इतना महीन वस्त्र जो मकड़ी के तार से भी झीना है फिर भी इस कपड़े से उसका शरीर छिल जाता है :—

जायसी में इस्लामी प्रभाव

"नस पानन्ह कै काढ़हि हेरी।
अधर न गढ़ै फाँस ओहि केरी॥
मकर का तार तेहि कर चीरू।
सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू॥"

वस्तुतः इस्लामी संस्कृति में स्त्री को पशुवत् समझा जाता है, वह मूर्ख होती है, उसका पूजा में अधिकार नहीं, वह जनता में आजा नहीं सकती, पति चाहे जिस समय उसे छोड़ सकता है। जायसी ने इसी हेतु जहाँ पद्मावती की, भारतीय प्रभाव के कारण, विद्वत्ता की प्रशंसा की है, वहाँ उसको कामातुरा भी बतलाया है जो

भारतीय सभ्यता में निर्लज्जता है :—

"एक दिवस पद्मावति रानी। हीरामनि तईं कहा सयानी ॥
सुनु हीरामनि ! कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई ॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहिं बोलि सकै नहिं माता ॥
देस-देस के बर मोहिं आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं ॥
जोबन मोर भएउ जस गंगा। देह-दे हम्ह लाग अनंगा ॥"

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ दिन और इसी निराशा में बीते तो वह स्वयं किसी के संग भाग जायगी। नागमती का विरह तो गृहस्थ-भावना के अनुकूल है; परन्तु विवाह से पूर्व बिना किसी व्यक्ति को लक्ष्य किये हुये यों आवारा बने फिरना तो किसी भी बालिका के लिये उचित नहीं है। एक दूसरे स्थल पर कवि ने स्त्री बुद्धि की कैसी निन्दा की है :—

"तुम तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरख सो जो मतै घर नारी ॥
राघव जो सीता सँग लाई। रावन हरी, कौन सिधि पाई ?"

सामाजिक दशा का वास्तविक चित्र गोस्वामी तुलसीदास की कविता में मिलता है। अपने "रामचरितमानस" में उन्होंने जो कुछ नीति तथा धर्म का संकेत किया है, उसको लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है; विशेषकर उस प्रसिद्ध चौपाई के विषय में:—

गोस्वामी तुलसीदास सामाजिक भावना

"शूद्र, गँवार, ढोल, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी ॥"

इसका इतना तक विरोध हुआ कि महिला-विद्यालय की छात्राएँ तो इस अंश को न पढ़ने और न पढ़ाने देने की कठोर प्रतिज्ञा कर कक्षा से बाहर चली गईं। स्त्रियों को ताड़ना (पीटना) देना समाज का असभ्यतम चिन्ह है, फिर तुलसी जैसे महात्मा ने इस प्रकार के

उद्गार क्यों रखे ? डा० श्यामसुन्दरदास ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "ताड़न" शब्द के कई अर्थ हैं और "शूद्र," "गँवार," "ढोल," "पशु" तथा "नारी" के साथ तत्तत् शास्त्रानुकूल हमको अर्थ भी बदलना पड़ेगा। × इसी प्रकार :—

" नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर बसहीं॥"

ये शब्द झगड़े के समय रावण ने मंदोदरी से कहे हैं। इनका यह अभिप्राय नहीं माना जा सकता कि कवि इन विचारों से सहमत है। वस्तुतः कवि का इन दोनों भावनाओं में व्यक्तिगत विश्वास नहीं जान पड़ता; जो व्यक्ति सीता जैसी पवित्र नारी की सृष्टि कर सकता है, उसे नारी में श्रद्धा न थी, यह नहीं माना जा सकता। हाँ, उनकी कृतियाँ संस्कार तथा संगति के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं इसलिये सीता, कैकेयी, मन्थरा, मन्दोदरी तथा ताड़का आदि का व्यक्तित्व अलग-अलग है। यदि हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि सामान्यतः गोस्वामीजी ने नारी की प्रकृति का निर्णय इसके संस्कार तथा संगति (Heredity and Environment) से किया है, परन्तु वे "पुरुषविशेष प्राप्य भवन्त्य-

---

×—साथ ही यहाँ 'ताड़न' शब्द में बड़ा चमत्कार है; उसमें नीति, व्यवहार, कला और कामशास्त्र आदि सभी का हलका पुट है। उसे समझ लेने से तो तनिक भी भ्रम नहीं रह जाता। (साहित्यालोचन पृष्ठ ३६२).

योग्याः योग्याश्च"× वाले सिद्धान्त को भी मानते रहे होगें; इस-लिये स्थान-स्थान पर पति-भक्ति का उज्ज्वल उपदेश उनके काव्य में मिलता है:—

" जहँ लगि नाथ ! नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥
प्राननाथ ! तुम्ह बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिअ बिनु देह, नदी बिनु बारी।
तइसिअ नाथ ! पुरुष बिनु नारी॥"

गौरी-पूजा का फल भी उनके मत में पातिव्रत के वरदान-हेतु ही है, सीता स्तुति करते समय कहती हैं:—

" पति-देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तुव रेख।
महिमा अमित न कह सकहि, सहस सारदा सेस॥"

सूर का दृष्टिकोण पूर्णतः आध्यात्मिक था अतः यदि कोई व्यक्ति उनके 'सागर में सामाजिक आदर्श खोजने का प्रयत्न करेगा तो उसको धोखा भी हो सकता है। राधा तथा सारी गोपियाँ केवल प्रेम करना जानती हैं, उनकी शिक्षा तथा संस्कृति अति साधारण है, वे या तो रासलीला के लिये उत्पन्न हुई हैं या वियोग में तपने के लिये। परन्तु राधा में पतिव्रत की जो भावना है उससे प्राचीन पौराणिक आदर्श

सूर में आध्यात्मिक चित्रण

× (नारी) योग्य पुरुष को प्राप्त कर (विवाह कर) योग्य हो जाती है, और अयोग्य पुरुष को प्राप्त कर अयोग्य बन जाती है—उसकी योग्यता उसके पति की योग्यता पर निर्भर है।

की ही पुष्टि होती है; वह अपने पति की किसी भी निष्ठुरता—त्याग, जैसा कि सीता के संग हुआ—को मौन रहकर सह सकती है; परन्तु उसको एक बार दर्शन करने की अभिलाषा है, यदि किसी बहाने वे इधर आजावे तो ये आँखे सफल हो जावें:—

"वारक जाइयो मिलि माधौ।

को जानै कब छूटि जाइगो स्वाँस, रहे जिय साधौ।

पहुनेहु नंद बबा के आवौ देखि लेंहु पल आधौ॥"

भक्तिकाल का सामान्य आदर्श समर्पण को मुख्य मानता है; नारी में भी समर्पण ही सार माना गया है, वह भी पति के किसी भी अत्याचार के सामने अपना सिर झुका लेती है, उसकी शोभा, उसकी सुन्दरता, उसकी शिक्षा, तथा उसकी पवित्रता उसकी पति-भक्ति ही है। सीता जिस निर्वासन को मौन तथा प्रसन्न होकर सीस चढ़ाती हैं, लगभग वैसा ही परित्याग राधा को मिला, परंतु एक ने भी चूँ तक न की। प्रत्युत दिन-दिन कर्मों का भोग समझ सब कुछ सहती हुई वे अपने पति में अचल-भक्ति की ही कामना करती रहीं। यदि कहीं पतिभक्ति का त्याग मिलता है तो वह आध्यात्मिक पक्ष में है; जिस प्रकार मंदोदरी अपने पति का विरोध करती है, तारा अपने पति को मारने वाले की भक्त बन जाती है, उसी प्रकार गोपियाँ भी देह और गेह का नाता तजकर उस रास में सम्मिलित होने के लिये उठ देती थीं। स्वयं तुलसीदास ने भी राम विरोधी पति के त्याग की सम्मति दी है (परंतु वह उसी के समान है जैसे कि भक्ति-क्षेत्र में जाति तथा वर्ण प्रथा का त्याग था—जिसका सामान्य सामाजिक जीवन में कोई विशेष संबंध नहीं):—

"जाके प्रिय न राम वैदेही ।
सो नर तजिय कोटि बैरीसम जद्यपि परम सनेही ॥"

रीतिकाल में नारी का रूप ही बदल गया; वह केवल वासना और विलास की वस्तु थी, उसका कोई आदर्श या उद्देश्य न था; संभोग, मान, विरह और अभिसार—इन्हीं झंझटों में उसका जीवन बीत जाता था। उसमें न साहस था न त्याग, पुरुष की इन्द्रिय-लोलुपता के अतिरिक्त उसके जीवन का कोई उद्देश्य न था। हाँ, जो जितनी अधिक सुंदरी होती थी, उसका उतना ही अधिक रौब था, कोई कोई तो पति से पैर दबवाती थी, महावर लगवाना, या चोटी गुँथवाना तो साधारण बात थी, रसखान के कृष्ण कहीं न मिलेंगे तो राधा के पैर दबाते किसी कुंज में दीख पड़ेंगे:—

रीति काल की नारी विलास का साधन

"देख्यौ दुर्यौ वह कुंज कुटीर में,
बैठो पलोटत राधिका-पायन।"

बिहारी की नारी अपने पति को चोटी गूँथने की कला में चतुर न होने के कारण फटकारती है:—

"रह्यौ, गुही बेनी, लख्यौ गुहिबे कौ त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुखाये बार॥" १

१—रहने भी दो, गुह चुके तुम हमारी चोटी, हमने देखली तुम्हारी चतुरता !! जिन केशों को मैंने बड़ी सावधानी से सुखाया था उनसे फिर पानी चूने लगा (धन्य है तुम्हारी कारीगरी) !!!

यदि पति दूसरी पत्नी भी रख ले तो भी उसको कोई आपत्ति न होगी। नारी का यह निरपेक्ष प्रेम (Absolute Love) भारत की एक विशेषता है। इसीलिये भारतीय नारी पुरुष-समाज में सदा पूज्या मानी गई है।

गुरुभक्तसिंह जी ने अपने "नूरजहाँ" नामक काव्य में नारी का कर्त्तव्य तथा द्वन्द्व भली भाँति दिखलाया है। वह अपने दाम्पत्य धर्म को निबाहने के लिये बड़े से बड़े सांसारिक सुख ठुकरा सकती है, राज्य का लालच न अनारकली को पतित कर सका, न नूरजहाँ को और न प्रेमलता (नाहरसिंह की पत्नी) को, क्योंकि जहाँ पावन प्रेम—सुखी गृहस्थ धर्म है, वहाँ बाहरी धर्म से पतित करने वाले आकर्षण क्या मूल्य रखते हैं :—

"नहीं तुम्हारा राज्य चाहती, अपने घर की रानी।
ऐसे नहीं गिराना होता कभी आँख का पानी ॥"

हो सकता है पति में दोष हो, वह निष्ठुर हो, और रमणी का मन विद्रोह कर उठे परन्तु वह उसके बदले में स्वयं कर्त्तव्य-च्युत न बने यही उसका नारीत्व है:—

"उधर ज्वार-भाटे उठने दो, नाचें प्रलयंकर तूफान।
प्रेम बढ़ाती रहो सदा तुम, लिये वीचियों की मुस्कान ॥"

जो रमणी एक पुरुष से विवाह कर किसी दूसरे पुरुष को प्रेम करती होगी, उसकी समस्या कितनी भयंकर है—पुराने काल में यह अन्तर्द्वन्द्व न था, यह इसी नवीन शताब्दी की देन है—उसका हृदय कितने भाव बदलता रहता होगा, यह आजकल के कवियों ने खूब दिखाया है; एक ओर पुराना परिचय और प्रेम, दूसरी ओर नवीन कर्त्तव्य तथा जीवन-निर्वाह ! संसार कितना

अव्यवस्थित है !! पुराने भारतीय आदर्श की नारी हृदय को इतना दबाती है कि पुरानी सभी बातें भुला दी जाती हैं,❀ प्रायः ध्यान भी नहीं रहता उन चंचल सम्बन्धों का; परन्तु यदि पश्चिमी-सभ्यता का थोड़ा सा प्रभाव भी हुआ तो पुरानी स्मृति एक दम ही भुलाई नहीं जा सकती। इस द्वंद्वभरे वातावरण का चित्र भी नूरजहाँ में सुन्दर मिलता है:—

"तुम्हें दूर से देख विलग रह-रह रोना जीवन है।×
मिलना संभव नहीं, तुम्हारा छूना मुझे मरण है॥"

परन्तु नारी का सुन्दरतम चित्र तो शायद श्रीमती महादेवी वर्मा की लेखनी से जितना सुन्दर उतरा है उतना किसी पुरुष कवि के हाथ से नहीं। नारी की वह चिरन्तन समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। जिस घर में उसका लालन-पालन होता है उससे उसको अलग होजाना पड़ता है और नये घर में प्रायः

श्रीमती महादेवी वर्मा

❀मिलाइये—

"नहीं पिता-माता से नाता, नहीं कुटुम्बी जन से।
नहीं शेष संबंध रहे अब उस चंचल शैशव के॥
शेष याद यदि रही पुरानी मर्यादा के भीतर।
सुस्थिर कर सकती है रमणी नये भाग्य को पाकर॥"

—अतीत : श्रीप्मार्त्त।

× मैं तुमको दूर से देखकर केवल रो रोकर अपना जीवन काट दूँगी; परन्तु मैं तुमसे मिल नहीं सकती, तुम्हारा मुझको छूना भी मेरी मृत्यु से बढ़कर है।

आज की नारी

के सदैव शिशु, कर्म में वयस्क, और अपनी असहायता में निरीह"१ बतलाया है, "नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है"२; उसका हृदय बालकों के समान भोला होता है इसलिये वह शीघ्र ही विश्वास में आ जाती है, शीघ्र ही उत्तेजित हो जाती है और शीघ्र ही पिघल जाती है, उसका प्रेम स्वयं एक आश्चर्यजनक घटना है—उसके "प्रेम का रहस्य"३ समझ में नहीं आसकता। परन्तु "प्रणयवञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े—विघ्नों—को दूर करने के लिये वज्र से भी दृढ़ होती हैं"४! प्रत्येक कुमारी के हृदय में प्रेम की टीस निवास करती है, परन्तु "स्त्री का मुँह कुछ बातों के लिये बन्द रहता है"५ "हमारी स्त्रियों की जाति इसी में मारी जाती है। वे मुँह खोलकर सीधा-सादा प्रस्ताव नहीं कर सकती। परन्तु संकेतों से अपनी कुटिल अंगभंगियों के द्वारा प्रस्ताव से अधिक करके पुरुषों को उत्साहित किया करती है।—तब वे अपना सर्वस्व अनायास ही नष्ट कर देती हैं"६। इस भाँति स्त्री और पुरुष की पारस्परिक समस्याएँ सदा विषम ही रही हैं;७ अस्तु "स्त्री और पुरुष सम्बन्धी समस्त अंतिम निर्णय करने में समाज कितना ही उदार क्यों न हो, दोनों पक्ष को सर्वथा सन्तुष्ट नहीं कर सका और न कर सकने की आशा है"८; परन्तु "पुरुष और स्त्री को विवाह करना ही चाहिए। एक-दूसरे के सुख-दुख और अभाव-आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे"९।

१—कंकाल २—कंकाल ३—इरावती ४—स्कंदगुप्त ५—इरावती ६—कंकाल ७—देखिये हमारा लेख "प्रसादजी के स्त्री-पात्र" ८—चूड़ीवाली (कहानी) ९—तितली

प्रेमचंदजी का मत है कि "नारी-हृदय धरती के समान है, जिससे मिठास भी मिल सकती है, कड़ुवापन भी। उसके अंदर पड़ने वाले बीज में जैसी शक्ति हो"१०। धन ने आज तक किसी नारी के हृदय पर विजय नहीं पाई, और न कभी पायेगा"। जब स्त्री चंचल तथा अस्थिर स्वभाव वाली होती है तो मानो उसका यह स्वभाव प्रतिक्रिया स्वरूप है जो सच्चा प्रेम न मिलने के कारण वैसा बन जाता है। पुरुष तथा स्त्री के स्वभाव तथा क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं, "पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है"११। वे विवाह को शुद्ध भारतीय आदर्श पर आत्म-समर्पण मानते हैं; "मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता...जो, मेरी रचनाओं के प्रूफ देख सके। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरी जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे अपने प्रेम और त्याग से"!

गुप्तजी की ये दो पंक्तियाँ आज भी सत्य हैं:—

"अबला-जीवन हाय! तुम्हारी यही कहनी।
अंचल में है दूध भरा नयनों में पानी॥"

उनकी उर्मिला और यशोधरा दोनों का यही इतिहास है। जो करुणा और स्नेह उसके मानस में होता है उसका बदला भी उसको नहीं मिल पाता। फिर भी नारी सन्तुष्ट है, वह आत्म-समर्पण कर देती है, परन्तु उसके बदले में वह कुछ नहीं चाहती। यही भारतीय आदर्श है:-

"प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही, हम सब कुछ भर पाती हैं।
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं', यही ध्यान में लाती हैं॥"—पंचवटी।

१०-और ११-गोदान।

उस काल की नारी का सबसे बड़ा सौभाग्य और अभिमान यही था कि उस का पति उसके रूप और प्रेम पर आसक्त होकर उसका दास हो गया है, स्त्रियाँ अपनी सखियों से इस बात को कहते बड़ा सुख माना करती थीं:—

"आपने हाथ सों देत महावर आपुहिं बार सिंगारत नीके।
आपुनही पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौलसिरी के।
हौं सखि लाजन जात गड़ी मतिराम सुभाय कहा कहौं पी के।
लोग मिलें घर घेरे कहैं अबही तें ये चेरे भये दुलही के॥"

वस्तुतः रीतिकाल के राजा तथा सरदार तो पूरे विलासी थे ही, सामान्य जनता भी इसी लुका–छिपी में अपने जीवन का सुख समझती थी। पुरुष भोगी तथा स्त्री भोग्या मात्र थी, पतिभक्ति या पत्नीव्रत की तो ऐसे समय में चर्चा व्यर्थ है, उनका सारा सुख ही इन्द्रिय परितुष्टि पर निर्भर था। बहुत हुआ तो कोई नारी साधारण रमण से ऊपर उठकर नंदलाल पर कुर्बान होने लगी, परन्तु था यह सब यौवनोद्रेक की अधम–तृप्ति ही।

परन्तु भूषण ने एक नया आदर्श लिया था, वे शृंगार के विरोधी तथा वीर रस के कवि थे। उन्होंने भी नारियों का वर्णन किया है। उनकी नारी वीर नहीं है, और चाहे अधिक विलासी न रही हो, उसमें कोमलता तथा सुकुमारता ही अधिक है, वह भयभीता तथा अबला है—कम से कम "मुगलों की हरमें" इसी स्वभाव की थीं:—

भूषण की नारी

(१) सौंधे को अधार किसमिस जिनको अहार,
चारु अकलंक मुख चंद के समानी है।
ग्रीषम की तपती की विपती न कान सुनी,
कंज की कली सी बिनु पानी मुरझानी है।

(२) अंदर तें निकसी न मंदिर कों देख्यौ द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पायँ जाती हैं।
हवा हू न लागती ते हवा तें बिहाल भईं,
लाखन की भीर में सम्हारती न छाती हैं॥

अस्तु रीतिकाल में मुसलमानी प्रभाव के कारण नारियों की सुकुमारता, इनको परदे के भीतर रखना× तथा उनकी हर समय इत्र, फुलेल आदि से लीप—पोत कर रखना एक गौरव की बात थी–इस भावना का कारण यह है कि वह नारी केवल विलास की बस्तु थी, इससे अधिक और कुछ नहीं।

आधुनिक साहित्य में नारी के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। भिन्न-भिन्न आदर्शों को लेकर अनेक कवियों ने नारी का आदर्श प्रस्तुत किया है। यहाँ हम प्रसाद, प्रेमचंद, मैथलीशरण गुप्त तथा गुरुभक्तसिंह के विचारों को देखकर सामान्य सिद्धान्तों पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। प्रसाद ने नारी को "वय के हिसाब

× मिलाइए:—

पलंग-पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥
सिय बन बसहिं तात केहि भाँती।
चित्रलिखित कपि देखि डराती॥

—तुलसी।

उसका जीवन दुःख तथा करुणा से खारा हो जाता है+—

क्या नई मेरी कहानी ?

विश्व का कण-कण सुनाता प्रिय वही गाथा पुरानी ।

× × ×

जन्म से मृदु कंज-उर में,
नित्य पाकर प्यार लालन ।
अनिल से चल पंख पर फिर,
उड़ गया जब गंध उन्मन ।
बन गया तब सर अपरिचित,
होगई कलिका विरानी ।
निठुर वह मेरी कहानी ॥
चीर गिरि का कठिन मानस,
वह गया जो स्नेह निर्झर ।
ले लिया उसको अतिथि कह,
जलधि ने जब अंक में भर ।
वह सुधा सा मधुर पल में,
होगया तब क्षार पानी ।
अमिट वह मेरी कहानी ॥

अपने घर में माता-पिता जिसको हृदय का टुकड़ा समझते हैं, वही जब समय आने पर युवावस्था में किसी दूसरे घर जाती है

+ जिस कुल से वे आती हैं, उस पर से ममता हटती नहीं; यहाँ भी अधिककार की कोई संभावना न देखकर वे सदा घूमनेवाली हृदयहीन अपराधी जाति की तरह प्रत्येक कौटुम्बिक शासन को अव्यवस्थित करने में लग जाती हैं। (प्रसादः तितली).

(यह जाना उसके जीवन में अनिवार्य है) तो उसको बड़े समा-रोह से "अतिथि कह" नये घर में लिया जाता है; परन्तु फिर (कुछ समय बीतने पर) वह सुधा सी स्नेहभरी बालिका क्षार (नमक) बनकर उपेक्षणीय बन जाती है—यही उसकी अमिट और पुरानी कहानी है।

हिन्दी-टीचर

(१) आपने हिन्दी टीचरी क्यों की ?

(२) नियुक्ति की कठिनाई.

(३) प्रथम दिन स्कूल में जाना.

(४) कक्षा में आपकी दुर्गति.

(५) मास्टरों में आपकी खिल्ली उड़ना.

(६) ट्यूशन पर आपका कटु अनुभव.

(७) वेतन के विषय में.

(८) आपका छुटकारा.

एम० ए० पास करने के बाद आपको मालूम हुआ कि आपको सरकारी नौकरी तो मिल ही नहीं सकती। कारण यह नहीं कि आप ओवर-एज× हैं, या आपमें आवश्यक योग्यता नहीं है। प्रत्युत यह कि सरकारी नौकरी वैभागिक व्यक्तियों (Departmental Candidates) को दी जाती है, फिर कमी में आये हुये (Retrenched) व्यक्तियों को, फिर युद्ध से लौटे व्यक्तियों (War Service Candidates) को, फिर राजनीति-पीड़ितों (Political Sufferers) को, फिर शरणार्थियों को

× (Overage) जिसकी आयु अधिक होगई हो।

और फिर रोजगार के दफतर (Employment Excharge) में रजिस्टर्ड व्यक्तियों को। शेष जो लोग लेने होते हैं उनमें विशेषत दीजाती है हरिजनों को और फिर पहुँचवालों को। आप, क्योंकि

आपने हिन्दी टीचरी क्यों की ?

एक साधारण ग्रामवासी हैं, इन हथकंडों को भी नहीं जानते और न काम नि-... देने वाले लोगों से आपकी जान-पहिचान हो सकती है। एक और भी दोष है आपमें कि आप तो एम० ए० पास हैं और हमको एक हाईस्कूल पास व्यक्ति की आवश्यकता है, जो साइकिल चलाना भी जानता हो, कारपेंटरी (बढ़ईगीरी) भी जानता हो और सिगरेट मोल लेना भी जानता हो। बात करना भी तो आपको नहीं आता, आप कम बोलते हैं और नौकरों से गाली बकने का भी आपको अभ्यास नहीं है।

अस्तु, एक हितैषी मित्र की सम्मति मानकर आप हिन्दी की अध्यापकी करने पर तैयार हो गये। आपको किसी भी हाईस्कूल में हिन्दी-टीचरी (अध्यापकी) मिल जावेगी। आपके मुँह में तो पानी भर आया। इतना सरल नहीं है यह काम भी। हाँ यदि आप के ससुर के साले के दामाद के छोटे साढ़ू मैनेजर साहब के बड़े पुत्र के मित्र के बहिनोई हैं, तो बहुत कुछ संभावना है आपकी नियुक्ति

नियुक्ति की कठिनाई

की; और मैनेजर साहब जब अपनी गल्ले (अनाज) की दूकान से दोपहर के २ बजे उठकर आये तो उन्होंने अपनी धोती से अपने मैले हाथ पोंछकर बड़ी-बड़ी खिजाबवाली× मूँछों पर हाथ फेरते हुये कहा:—

"एक आदमी और है अपने पास जो एक कोई बड़ा इम्तहान

× बालों पर लगाने का रंग.

पास है और खादी पहिनता है, वह ५५) रुपये पर काम करने को तैयार है। एक दूसरा आदमी विशारद२ पास है, विवाह भी पढ़ लेता है, और मुनीमी३ भी जानता है, उसने ५०) रुपये माँगे हैं। आप घर के आदमी हैं (मैनेजर साहब "बारहसैनी"४ हैं, यह आपको भी ज्ञात है) आपको एक घंटे रोज दूकान का बहीखाता भी लिखना होगा और हम आपको ६०) रुपये महीने स्कूल से देंगे।"

फिर एक दूसरे सदस्य से बोले:—

"सेठ अल्लोमलजी, मुझको हिन्दी से बड़ा प्रेम है। जब मैं लड़का था तभी सारा हनूमान-चालीसा५ पढ़ लेता था, अब भी कभी-कभी गोपी नाई को बुलाकर उससे राधेश्याम६ की रामायण सुनता हूँ। अपना जंगी७ मिडिल फेल है "लेकिन लाला साहब, एम० ए० वालों को दो महीने पढ़ा देगा।" प्रबन्धकारिणी समिति (Managing (Committee) में एक सज्जन साहित्य से भी प्रेम रखते थे, पूछने लगे—

"क्यों भाई जी, आपने खद्योत८ की "भजनावली (नई तर्ज)" पढ़ी है?" आप सोचने लगे कि यू० पी० की किसी यूनीवर्सिटी९ में तो यह पुस्तक है नहीं, शायद नागपुर में हो, क्योंकि वहाँ से हर एक आदमी एम० ए० दे सकता है, और साहस कर बोले—

"जीहाँ, मुझको बड़ी अच्छी लगी।"

२—हिन्दी की एक साधारण परीक्षा. ३—बहीखाता लिखने का काम. ४—बनियों की एक जाति. ५—हनूमान् की स्तुति की एक छोटी सी पुस्तिका ६—गाने के ढंग पर रामायण की कथा लिखने वाले. ७—लालाजी का भतीजा. ८—साधारण गीतों का कल्पित लेखक. ९—विश्वविद्यालय.

वे सज्जन तुरंत मैनेजर साहब से बोले—

काकाजी, या तो 'छबीलदे भटियारी का किस्सा१०' ही है या यही पुस्तक है,, एक-एक भजन११ सौ-सौ रुपये का है, देखिये:—

देखो ये भारत की नारी।
इननें शर्म-हेया१२ तजि डारी॥
छोरन१३ के संग पढ़िवे जातीं,
सबकाहू सों बात बनातीं,
इंग्रेजी१४ पढ़ि के इतरातीं -
बीस बरस तक रहे कुआरी१५।
इननें शरम-हेया तजि डारी।
देखो ये भारत की नारी॥

पहिले दिन जब आप स्कूल जाने लगे तो न जाने क्या सोचकर आपने अपनी नीली कमीज और खाकी पैंट पहिन ली; फिर जब दर्पण के सामने खड़े हुये तो अपको कोट की आवश्यकता जानपड़ी; अस्तु ससुराल से मिले हुये उस नये कोट को डाटकर आप स्कूल पहुँचे। स्कूल को खोजने में आपको कोई कठिनाई न हुई क्योंकि

प्रथम दिन स्कूल में जाना

जब नगर के एक कोने पर चलकर पक्की सड़क भी शायद साम्यवाद को मानने के कारण, कच्ची सड़क से बराबरी करने लगी थी और जब कोट तक पहुँचने वाली धूल में आपने कुछ-कुछ वैसी

१०—पुराने ढंग की एक कहानी. ११—एक विना पढ़ों का प्रिय छंद. १२—लज्जा. १३—लड़कों के संग. १४—अंग्रेजी. १५—कुआरी=कुमारी.

गंध सूँघी जैसी कि आपके कालेज के पेशावर से पहली बरसात की सन्ध्या को आया करती थी, तो आपने समझ लिया कि सामने के छप्पर स्कूल के ही प्रतिनिधि हैं। हेडमास्टर जी ने आपको एक रजिस्टर दिया तथा कक्षा का नाम बतला दिया और घंटा बजते ही आप रुमाल मुँह पर लगाकर खाँसते हुये एक 'कमरे' में घुसने का साहस करने लगे।

एक दम एक लड़के ने, आपको एक नया मास्टर समझ कक्षा में घुसते देख, छींक दिया; दूसरे ने कहा—"धत तेरे की सगुन बिगड़ गया"। आपने बाहर रुकना ठीक न समझा और लड़कों की ओर देखते हुये लगे बढ़ने कि एक लड़का पूछ बैठा,—"कहिये साहब; किसे× देखने आये हैं? आप बोल भी न पाये थे कि दूसरी ओर से उत्तर आया—"तू ही क्वारा है÷ तुझी को देखने आये होंगे।" तब तक आगे की सीट+ पर के एक लड़के ने बनावटी सहानुभूति दिखाते हुये आपकी ओर से कहा—"भाइयो चुप, आप हमारे यहाँ मास्टर बन कर आये हैं"। तत्काल ही पीछे

कक्षा में आपकी दुर्गति

से आवाज आई—"यही सूरत है"। जरा इधर तो दिखाइये"। इतने में आप कुर्सी तक पहुँच गये, मेज पर जोर से रजिस्टर पटक दिया और हाथ उठाकर बोले—"साथियो, मुझे आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई; यह हिन्दी का घंटा है, मैं आपको हिन्दी पढ़ाया करूँगा"। लड़कों में से एक मुँह पर हाथ रखकर जोर से बोला—"सूट तो बड़ा अच्छा है, क्या ससुराल

× विवाह के लिए ठीक करने.

÷ कुमार—बिन ब्याहा.

+ बैठने का स्थान.

से मिला था ?" आपको आश्चर्य हो रहा था कि इस कक्षा के छात्र ज्योतिष भी जानते हैं। आपकी दयनीय दशा और भी बार-बार की गई प्रार्थना पर दया कर सब लड़के चुप होगये, तो एक ने प्रस्ताव किया कि 'मास्टर जी कविता सुनाइए'। आपको दुःख हो रहा था, अपनी मूर्खता पर...हिन्दी का अध्यापक यदि कविता न करना जाने तो उसको कहीं डूब मरना चाहिए। अस्तु संधि होगई कि आप एक कहानी सुनावेंगे और अपनी ओर से आपने उदारता दिखाने के लिये यह प्रतिज्ञा कर दी कि किसी को अनुपस्थित ग़ैरहाजिर (Absent) न बनावेंगे और छुट्टी भी दे दिया करेंगे, जो लड़का काम करके न लावेगा, उससे भी कुछ न कहेंगे।

पहिला घंटा समाप्त होने पर जब आप स्टाफ रूम× की ओर लौट रहे थे तो +ड्रिल मास्टर; दूसरी ओर मौलवी साहब को संबोधित करके बोले– "कुछ और भी सुना है आपने ?"

मौलवी साहब ने समझा शायद जिस प्रकार उर्दू उठती जारही है उसी प्रकार ड्रिल के भी दिन आगये, अतः प्रसन्न होकर बोले—

'साहब सुनाइये तो क्या हाल है ?" ड्रिल मास्टर सेल्यूट÷सा करते हुए बोले—" वे सज्जन जो जारहे हैं; आपके यहाँ हिंदी-टीचर होकर आये हैं, सुना है डिप्टी कलक्टरी की छाँट में आगये थे, पर दो महीने काम करके उसे छोड़ दिया"।

मौलवी साहब को मानो जाड़ा मार गया—"हिन्दी का मास्टर

× Staff Room अध्यापकों के बैठने का कमरा.

+ Drill Master शारीरिक व्यायाम का अध्यापक.

÷ Salute सलाम (अभिवादन).

और ऐसा सूट° इसी पर कहते हो कि हिन्दुस्तान❀ आजाद* हो गया है !! क्या इन लोगों में से अंगरेजियत की बू§ कभी न जायगी ? ”

मास्टरों में आपकी खिल्ली उड़ाना

यह कहते-कहते वे अपनी तुर्की टोपी हाथ में ले स्टाफरूम में आगये । यहाँ आपका सबसे परिचय हुआ । एक ने कहा—“यह बड़े हर्ष की बात है कि आप जैसा योग्य तथा सुन्दर व्यक्ति हमारे बीच में आगया” । दूसरे ने पूछा—“क्यों साहब, आप एल-एल० बी० भी पास हैं क्या ?” ड्रिल मास्टर बोले—“पंडित जी आप आई० सी० एस० की छाँट में क्यों न गये, आप तो अवश्य ही आजाते ” । इसपर मौलवी उनका हाथ दबाते हुये बोले—“इस वर्ष बैठ रहे हैं; कलक्टर हो जावेंगे तो हम लोगों के भी दो काम निकलेंगे ” ।

पंडित गंगाप्रसाद भूगोल पढ़ाते थे, ‘पंडित जी’ शब्द पर चौंके और पूछने लगे—“कहिये पंडित जी, आप सनाढ्य£ हैं या गौड£ ? आप कानपुर के हैं न शायद कान्यकुब्ज ब्राह्मण होंगे ?”

आप यह न सोच पारहे थे कि किस बात का उत्तर दें और किस का न दें; आप यह भी न जानते थे कि इस स्कूल के लड़के अधिक शैतान हैं या मास्टर; परन्तु आपने यह निश्चय कर लिया था कि अपने नाम के सामने “गुप्त” शब्द बढ़ा लेंगे जिससे कोई आपको ब्राह्मण समझकर आपका गोत्र पूछने का कष्ट न करे ।

° Suit पेंट तथा कोट.

❀ भारत.

* स्वतन्त्र.

§ गंध.

£ ब्राह्मणों के गोत्र.

आप अपनी भूल पर पछिताये भी कि धोती कुरता पहिन कर क्यों न स्कूल आये, यह सारी दुर्दशा इस अभागे सूट के ही कारण तो हुई, इन लोगों का दोष नहीं, पहिले दिन ही जब ससुराल में इस कोट को पहिना था तब भी सालियों ने यही कहा था कि "जीजाजी, तुम तो डिप्टी कलक्टर से लगते हो"।

आपका भाग्य शायद अच्छा था इसलिये शहर के बनियों में आपका नाम होगया—स्कूल में अकेले आप ही तो एम० ए० पास जो थे। एक सेठजी ने सोचा कि क्यों न आपको एम० ए० से कुछ लाभ उठाया जावे, इसलिये जब रविवार को हेडमास्टर उनसे मिलने गये, तो उन्होंने कहा—"मास्टरजी हमारे बड़े कुँवर साहब दो वर्ष से फेल होरहे हैं, क्यों न नये पंडित को पढ़ाने को कह दिया जाय ?" हेडमास्टर ने सोचा कि अभी केवल २० दिन हुये हैं, अभी से ट्यूशन मिलने लगे, तो यह आसमान से बात करने लगेगा, बोले—"जी, मेरी समझ में तो पंडित गंगाप्रसाद ठीक रहेंगे, वे अंग्रेजी मास्टर हैं, और यह तो हिन्दी मास्टर है, पढ़ाना क्या जाने"। परन्तु सेठजी सेठ जी ही थे, वे अपना पैसा ब्राह्मण

ट्यूशन पर आपका कटु अनुभव

को क्यों देते जबकि उनको अपनी जाति का न सही अपने वर्ण का (सेठ जी अग्रवाल थे आप बारहसैनी—दोनों वैश्य) ही एक व्यक्ति मिल सकता था, रौब से बोले—"तुम भी क्या बिना पढ़ों की सी बातें करते हो, गंगाप्रसाद बी० ए० पास है और मदनगोपाल× एम० ए० है; रही हिन्दी की बात सो आजकल कांग्रेस का राज्य है जैसी हिन्दी वैसी अंग्रेजी। कल से आने को कह देना।"

× आपका नाम।

स्कूल में हेडमास्टर ने आपको बुलाकर कहा—"तुम तो मेरा अहसान ही नहीं मानते। कल एक ट्यूशन तय कर आया हूँ, सेठ धन्नामल के बड़े नाती का है। शाम को चले गये और २ घंटे पढ़ा आये। हालांकि मैं एम० ए० नहीं हूँ परन्तु बहुत से एम० ए० वाले मुझसे पढ़ने आते हैं, मैं सदा योग्य आदमी की सहायता करता रहता हूँ"।

आप पढ़ाने जाते तो किसी दिन कुँवर साहब घूमने चले गये होते, किसी दिन सोरहे होते आपको प्रतीक्षा करनी पड़ती एक दिन आपके सामने ही उन्होंने नौकर से चाय मँगाई और २० मिनट तक पीते रहे, आप बराबर उनके मुँह की ओर देख रहे थे। एक दूसरे दिन कुँवर साहब तो न थे उनकी बड़ी बहिन आकर बोलीं "मास्टर राजाभैया तो अभी है नहीं तुम मेरी एक चिट्ठी लिख दो आपने पूछा कि किसको भेजनी है तो वे लजाती हुई बोलीं—"और कौन मेरे दस-बीस यार हैं, उन्हीं को भेजती हूँ, मुझे लिवाले जायँ तुम्हारी कसम बड़ी याद आती है, कल की रात तो रो-रो कर काटी"। एक दिन कुँवर साहब खाना खा रहे थे इस-लिये उनकी माताजी, जो सामने बैठीं प्रतिदिन आपका पढ़ाना देखती रहती थीं आपसे बोलीं—"मास्टर, नौकर तो कहीं चला गया है, तुम बैठे ही तो हो दौड़कर चार पैसे के पान ले आओ; क्या बतलाऊँ आज निबट गये, राजा खाना खाकर क्या खावेगा?" आपने विचार किया कि मास्टर का काम यह तो नहीं है, इतने में वे फिर बोल पड़ीं—"तुम्हें घर का समझती हूँ इसलिये तुमसे हर एक काम के लिये कह देती हूँ; आखिर अपने लिये भी तो तुम सब चीजें बाजार से ही लाते होगे"।

जब आपको काम करते हुये एक मास से अधिक बीत गया

तो आप वेतन मिलने की प्रतीक्षा करने लगे; आपने सोचा कि शायद हिसाब बनने में देर हो गई है, इसलिये अभी तक पैसे नहीं मिल रहे। प्रतीक्षा में १० दिन बीत गये फिर पन्द्रह दिन और फिर २० दिन। २१ ता० को स्कूल के अधिकारियों की बैठक हुई जिसमें यह निश्चय हुआ कि इस बार वेतन शीघ्र ही दे देना चाहिए जिससे मास्टर लोग छोड़कर भाग न जावें, अस्तु अगले महीने की २२ ता० को वेतन मिलने की बातें सुनाई पड़ने लगीं। सबका नंबर आता गया। किसी को आधी मिली, किसी को तिहाई आपका नाम उस दिन न था। दूसरे दिन जब हेडमास्टर ने आप को बुलाकर आपके सामने रजिस्टर हस्ताक्षर करने के लिये रख

वेतन के विषय में

दिया, तो आपका हृदय बाँसों उछल रहा था; आपसे ६०) रुपये तय हुए थे और यहाँ पर आपके नामके सामने १००) रुपये लिखे हुये हैं !! वस्तुतः सबर× का फल मीठा होता है !! संसार में गुण ग्राहकों का अभाव नहीं है !! आपने बिना देखे ही हस्ताक्षर कर दिये, तब हेडमास्टर ने कहाः—

"हमारा स्कूल बेईमानी नहीं करता, आपसे ६०) रुपये तय हुये थे. ६०) ही मिलेंगे परन्तु सरकारी सहायता आजाने पर। इस समय आप १५) रुपये ले लीजिए, बाकी का हिसाब हो जावेगा। किसी को आधे या तिहाई से अधिक रुपये नहीं मिले। आप क्योंकि अकेले ही रहते हैं और क्योंकि आपको ट्यूशन के भी १० रुपये मिल जावेगें, इसलिये आपको भी वही औसत पड़ गया।"

पीछे आपको और अध्यापकों से ज्ञात हुआ कि प्राइवेट स्कूलों का यह तो जन्मसिद्ध अधिकार है कि जितने रुपये वेतन के हों,

× सब्र सन्तोष।

उनसे दुगुने पर हस्ताक्षर करावें, ऐसा करने से उनको सरकारी सहायता+ अधिक जो मिल जाती है।

नवंबर में नगर की म्यूनिसिपालिटी÷ में एक कर्ल्क❋ का स्थान खाली हुआ। आपने बड़ी दौड़-धूप और खुशामद से चेयर मैन साहब को खुश कर लिया; और चुंगी के 'अफसर' बन गये वेतन ४५) रुपये था २४) रुपये महँगाई के थे; और चुंगी की स्थायी नौकरी थी। तीसरे दिन हेडक्लर्क साहब ने आपका परिचय कराते हुये कहा:—"बा० मदनगोपाल गुप्त एक हँसमुख तथा परिश्रमी ग्रेजुएट£ हैं। आप की योग्यता तथा तत्परता देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि आपका सहयोग हमारे आफिस¶ को नई शक्ति प्रदान करेगा।"

आपका छुटकारा

आपने नम्रता से हाथ जोड़कर सिर झुका लिया और इस प्रकार की एक ठंडी साँस ली मानो आप नाई की मंडी के गंदे नाले से भागकर अशोक रोड के खुले मार्ग पर आगये हों।

\+ गवनमेंट एड (Government aid) ¶ कार्यालय.

÷ चुंगी

❋ लेखक

£ बी० ए० पास

यथार्थवाद तथा आदर्शवाद

(१) साहित्य समाज का यथार्थ चित्रण होता है
(२) समाज एक रूप नहीं होता—विभिन्न मार्ग
(३) यथार्थवाद का पारिभाषिक अर्थ.
(४) आदर्शवादी दृष्टिकोण.
(५) विरोध.
(६) प्राचीन भारतीय साहित्य में.
(७) आधुनिक साहित्य—पश्चिमी प्रभाव.
(८) उपसंहार.

यदि हम किसी भी देश के साहित्य और इतिहास का साथ-साथ अध्ययन करें तो हमको यह ज्ञात होगा कि इतिहास उस देश की जिन सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है उनका चित्रण साहित्य में मिलता है। यह ठीक है कि साहित्य कल्पना प्रधान होने के कारण इतिहास से नितान्त भिन्न है, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि समाज का जैसा चित्र साहित्य में मिलता है वैसा इतिहास में भी नहीं मिल सकता। इतिहास यह बतलाता है कि अमुक राजा ने उस समय तक राज्य किया, उसके राज्य में

साहित्य समाज का यथार्थ चित्रण होता है

प्रजा बड़ी सुखी थी, साहित्य उस प्रजा के सुखी जीवन का एक जीता-जागता दृश्य आपकी आँखों के सामने उपस्थित कर देगा। वेद काल के विषय में इतिहास कुछ नहीं बतला सकता, परन्तु साहित्य

उस समय के समाज का वास्तविक रूप रख देता है। साहित्य से ही हम तुलसीदास के समय की घोर अव्यवस्था, धर्महीन राजा, कर्त्तव्यच्युत प्रजा तथा पाखंडी साधुओं के विषय में जान सकते हैं, जिसको अकबर के ऐतिहासिकों ने लिखा तक नहीं है। इतना ही नहीं, साहित्य यह भी बतलाता है कि पर-नारी पर बुरी दृष्टि रखने के कारण प्रतापशाली रावण का भी बड़ा करुण अंत हुआ; केवल एक बार असत्य बोलने के कारण युधिष्टर को नरक के दर्शन करने पड़े; द्यूत (जूआ) की बुरी प्रकृति होने के कारण राजा नल को वन-वन भटकना पड़ा; माता-पिता की सम्मति के बिना ही राजा दुष्यन्त से गान्धर्व* विवाह कर लेने के कारण गर्भवती शकुन्तला को अनेक कष्ट सहने पड़े। इस भाँति साहित्य का क्षेत्र दो प्रकार का हुआ। प्रथम तो सामाजिक दशा का तात्कालीन चित्रण (जिसका बहुत कुछ संबंध इतिहास से है), दूसरा उस काल के व्यक्तियों का कर्म और उसका फल (जिसका फल नीति-शास्त्र या आचार-शास्त्र (Moral Philosophy) से है। यह निश्चय है कि दोनों ही क्षेत्रों में वह समाज का ही चित्र खींचता है—पहिले उसका चित्र खींचता है फिर उसका मूल्य निर्धारण (Valuation) करता है।

---

*हिन्दू धर्म शास्त्रानुसार एक प्रकार का विवाह (Love marriage) जिसमें माता-पिता की सम्मति की आवश्यकता नहीं पड़ती; कन्या और वर एक दूसरे के रूप को देखकर ही पति-पत्नी बनने को तैयार हो जाते हैं:—

> इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
> गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भः॥

परन्तु एक काल में भी, एक देश में भी, समाज का एक ही रूप नहीं होता। सभी युगों में सभी प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। वैदिक काल में भी गायों को चुरानेवाले असुर थे, इन्द्र को उनका संहार करना पड़ता था; 'वेश्या' तथा 'जार'* शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। त्रेतायुग× में रावण ही नहीं, उसके से और भी बहुत से लोग थे, स्वयं सुग्रीव का भाई बाली अपने ही भाई पर अत्याचार करता है। महाभारत काल में जहाँ धर्मराज+ के शासन में सुख तथा शान्ति थी वहाँ हस्तिनापुर में ही स्त्रियों को भरी सभा में नंगी करने वाले दुःशासन भी थे। आजकल कलियुग में भी अनेक सत्यनिष्ठ तथा धर्मात्मा मिल ही जाते हैं।

समाज एकरूप नहीं होता

इस भाँति समाज की साधारण प्रवृत्ति भले ही कुमार्ग अथवा सन्मार्ग की ओर जाती हुई दिखाई पड़ती हो, यह मानना ही पड़ता है कि पारस्परिक विरोधी❀ गुणों, स्वभावों तथा प्रवृत्तियों का प्रचलन सभी कालों तथा सभी देशों में देखने को मिलता है। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि विरोधी गुणों की सत्ता अनिवार्य है, इसके बिना मूल्यांकन हो ही नहीं सकता—पाप के बिना पुण्य का कोई मूल्य नहीं, अधर्म के बिना धर्म की कोई पूछ नहीं, असत् के बिना सत् का कोई अस्तित्व ही नहीं। अनुभव तथा इतिहास भी यही बतलाता है।

समाज का चित्र-विचित्र रूप तो मिलता ही है, मूल्यांकन

---

* परस्त्रीगामी।

× रामायण काल।

\+ युधिष्ठिर।

❀ विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
—कुमारसम्भवम्।

भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र तथा सर्वदा धर्म की विजय हो तथा अधर्म की पराजय हो; सज्जन सुख से रहें तथा असज्जन दुखी रहें; कर्मों का सत् तथा असत् फल प्राप्त ही हो जावे। प्रत्युत, यदि इतिहास को ही आधार न मानें, अनुभव से ही देखें तो यह पता लगता है कि इस संसार में जो कोई छल, कपट, झूँठ, बेईमानी, अत्याचार, अनाचार आदि का व्यवहार करता है वही सुखी रहता है; इसके विपरीत जिसने सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा, सदाचार आदि का व्रत लिया उसको भटक-भटक कर प्राण दे देने पड़ते हैं—न वह सुखी रहता है न उसकी संतान। और क्यों न हो जो सम्पन्न है उसके सारे पाप पुण्य बन जाते हैं, जो विपन्न है उसका भाग्य भी उसका साथ नहीं देता। फिर हम किस प्रकार कर्मों का मूल्यांकन अपने साहित्य में कर सकते हैं? निश्चय ही हमारी कोई भी कसौटी पूरी नहीं उतर सकती।

मूल्यांकन तो और भी अधिक भिन्न होता है

यदि समाज का चित्रण तथा कर्मों का मूल्यांकन ज्यों का त्यों-कहीं अच्छा, कहीं बुरा—कर भी दिया जाय तो समाज का यथार्थतः काम चलाऊ रूप हमारे साहित्य में अवश्य रह सकता है। परन्तु 'यथार्थवाद' इतने से ही सन्तुष्ट नहीं; वह सत् तथा असत् दोनों को स्वेच्छानुसार महत्व देने भर को अपना उद्देश्य नहीं मानता। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यथार्थवादी यह कहता है कि समाज में जो कुछ बुरा है, घृणित है, हीन है, असत् है उसको साहित्य में स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि अच्छा, सुन्दर उत्तम तथा सत् तो केवल कल्पना में ही है, वास्तविक जीवन में नहीं—यदि है भी, तो इतना कम कि हम उसको व्यर्थ या अत्यल्प

समझकर छोड़ भी सकते हैं। वह यह भी कहता है कि प्रत्येक

यथार्थवाद का पारिभाषिक अर्थ

देश तथा काल में यह देखा गया है कि जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं उन्हीं की सदा जीत होती है, वे ही सदा सुख तथा चैन से अपना जीवन बिताते हैं। जो कोई संसार में बड़ा हुआ है वह अनेकों की गरदन पर पैर रखकर ही बढ़ सका है, विजय का अर्थ ही है कमजोर को दबा देना; प्रासाद का निर्माण ही गरीबों की कुटियों को नष्ट करके होता है।× जो विजयी होता है उसको धर्मात्मा मान लिया जाता है, जो पराजित हो जाता है उसको दुष्ट, असुर, पापी आदि कहा जाता है।+ वस्तुतः पाप और पुण्य कुछ नहीं है; कम शक्ति होने के कारण "जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं; परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है"÷ । जो महापुरुष है वह "भला लगने के लिये--कोई काम नहीं करता···भलाई तो··· कामों की कसौटी है"❀। इसलिये यह निश्चय हुआ कि साहित्य में केवल "यथार्थ"—असत, घृणित, कुत्सित—को ही स्थान मिलना चाहिए, सत्, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। यथार्थवाद का पारिभाषिक अभिप्राय (Technical Sense) शाब्दिक अभि-

---

× क्षुद्रों की बलि-वेदी पर, पनपी है सदा महत्ता।
निर्धन कुटियों को ढाकर, विकसी महलों की सत्ता॥—
—साकेत-संत।

+ The rebel is the patriot who fails, the patriot is the rebel who prevails—C.E.M. Joad.

÷ प्रसाद : कंकाल। ❀ प्रसाद : चन्द्रगुप्त।

प्राय (Literal Sense) से नितांत भिन्न है, वह यह मानता हुआ कि समाज में असत्यं, अशिवं तथा असुन्दरं का ही बोलवाला है सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं का नहीं, इसी प्रकार के चित्रण को ही साहित्य-कला का चरम उद्देश्य समझता है; उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य है—उसका जीवन से कोई संबंध नहीं।

दूसरी ओर एक दूसरा सम्प्रदाय है जो ठीक दूसरी कोटि पर पहुँच सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं को अनुकरणीय ही नहीं बतलाता प्रत्युत असत्यं, अशिवं तथा असुन्दरं को साहित्य में कोई स्थान ही नहीं देना चाहता। इस सम्प्रदाय को "आदर्शवाद" कहते हैं। आदर्शवादियों का मत है कि संसार में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, धर्माधर्म, ऊँच-नीच, सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव आदि द्वन्द्वों के रहने

आदर्शवादी दृष्टिकोण

हुये भी सुख, पुण्य, धर्म, सुन्दर तथा शिव ही जीवन का प्राप्य है, साहित्यकार उसी का चित्रण करता हुआ पाठकों के सामने इनका ही एक अनुकरणीय आदर्श रखे; उसे असुन्दर, अशिव तथा असत्य का चित्रण करना ही न चाहिए। इस भाँति "आदर्शवाद" का भी एक पारिभाषिक अर्थ है जो "यथार्थवाद" का ठीक विरोधी है।

यथार्थवाद तथा आदर्शवाद यदि एक दूसरे के विरोधी न होते तो बड़ा अच्छा समन्वय होता, परन्तु दोनों दो सीमाओं खड़े न होकर एक दूसरे को ललकार रहे हैं। यथार्थवाद आदर्श को कोई स्थान नहीं देना चाहता, आदर्श से पाठक वास्तविक जीवन को भूल काल्पनिक संसार में उड़ने लगता है, उसमें उसी प्रकार की निष्क्रियता आ जाती है जिस प्रकार की कि "तोना मैना

की कहानी" पढ़ने वालों में होती है; जो स्वर्ग हमको कभी देखने का नहीं मिल सकता उसकी सम्पत्ति तथा उसका विलास हमारे यहाँ आश्चर्य तथा पूजा का स्थान हो सकता है, उत्तेजित तथा उत्साह का नहीं; सच पूछो तो जो लोग स्वर्ग की कल्पनाओं का आनन्द लेने लगते हैं वे संसार के लिये निकम्मे हो जाते हैं; उनमें यह आलस्य, अज्ञान तथा हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) आजाती है; कितना दीन तथा दयनीय है वह जीव ! अनेक कल्पनाएँ करते हुऐ किसी भविष्य में अज्ञात

विरोध—यथार्थ का तर्क

लोक में रहकर उस सुख को भोगने की कल्पना !! कितना अज्ञान है !! कितनी बुद्धिहीनता ! जितने भक्त, श्रद्धालु तथा अति धार्मिक होते हैं वे अपना सारा जीवन इसीलिये तो तप—गरीबी, कष्ट सामाजिक अत्याचार तथा राजनीतिक अनीति—में बिताते रहते हैं कि उनको 'स्वर्गभोग' का अवसर मिलेगा। "वे सुखी हैं जो गरीब तथा दीन है क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है" बाइबिल का यह कथन कितना निस्सार है। आदर्शवादी प्रायः भाग्यवादी होता है, वह वास्तविक स्थिति में परिवर्तन की बात सोच ही नहीं सकता। जिन लोगों का सांसारिक जीवन सुख में नहीं होता वे अपने को धोखा देते हुये, अपने को संतोष देने के लिये किसी मिथ्यावादी का उपदेश सुन लेते हैं÷ और "उच्च जीवन" विताने के इच्छा से दब्बूपन का जीवन विताने लगते हैं।

÷ In order to demonstrate their superiority men must learn to master their appetites and restrain their passions. The plain men listened

एक और भी दोष है आदर्शवाद में ! जब तक हमारे साहित्यकार सामाजिक तथा राजनीतिक दोषों एवं कुरीतियों का यथार्थ चित्रण न करेंगे तब तक सामान्य पाठक उनको जड़ से खोदने की क्यों चिन्ता करने लगा ? उदाहरण के लिये आजकल के समाज में बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वृद्ध विवाह, दहेज प्रथा, जाति प्रथा आदि अनेक ऐसी कुरीतियाँ हैं जिनका दूरीकरण भी तो हमको ही करना है। यदि हम साहित्य में इन कुप्रथाओं का चित्रण न पावेंगे तो इनकी ओर हमारा ध्यान भी आकर्षित न होगा, क्योंकि साधारण व्यक्ति तो अपनी आँखों से ही सारी बातें नहीं देख पाता। यदि दीनों का क्रन्दन, दुःखियों का आर्त्त-नाद, बालकों का विलाप तथा अबलाओं का हाहाकार हमको साहित्य में न मिलेगा तो कहाँ मिलेगा। इस प्रकार का यथार्थ साहित्य अनेक क्रान्तियाँ करा सकता है—अनेक परिवर्त्तन कर सकता है। इसीलिये आदर्श के स्थान पर यथार्थ चित्रण ही साहित्य का उच्च उद्देश्य होना चाहिए।

प्रत्येक कथा को पढ़ने वाला यदि पुरुष हुआ तो उस कथा के नायक और स्त्री हुआ तो उसको नायिका से अपना एकीकरण कर लेता है। यदि कथा वास्तविक जीवन की है तो उसकी समस्याएँ वे ही होंगी जो हमारे जीवन में नित्यप्रति हुआ करती हैं। उदाहरणार्थ यदि प्रेमचंदजी के उपन्यास "निर्मला"× को लिया

---

to the words of the flatterer, and aspiring to live a higher life transformed himself from a savage into a clerk.

—C. E. M. Joad.

× स्व० मुंशी प्रेमचंद का एक सामाजिक उपन्यास।

जाय तो निर्धनता के कारण वृद्ध के साथ विवाह, एक-एक करके सब लड़कों का हाथ से निकल जाना, वकील साहब की भी अप्रसन्नता, डाक्टर साहब का इतना निर्मम अंत आदि सारी घटनाएँ हमको नित्यप्रति देखने को मिलती हैं। पुरुष-पाठक अपने को प्रायः मुंशी तोताराम की परिस्थिति में डाल देता है और स्त्री-पाठक अपने को निर्मला की परिस्थिति में; कुछ पाठक सुधा, रुक्मिणी, तथा कृष्णा की परिस्थिति में भी रहते होंगे। लेखक ने इस कथा का बुरा से बुरा अंत दिखाया है, यदि वह आदर्श की ओर मुड़ता कि कुछ विधवा बहिनें भी दूसरी वधू को समझाकर सुखी होती हैं, या कुछ वृद्ध भी स्वभाव तथा शक्ति में युवक ही रहते हैं, या कुछ स्त्रियाँ भी वृद्ध पति को पा उसकी सेवा में ही अपना सुख समझती हैं आदि-आदि; तो कथा इतनी न बढ़ती, एक आदर्श अंत होता जिसमें चित्रण यथार्थ न बनकर आदर्श बन जाता। परन्तु पाठक वृद्ध-विवाह या दहेज प्रथा के घोर परिणाम को न जान पाते। इस भाँति यह निश्चय हुआ कि भले ही संसार में कुछ व्यक्ति आदर्श प्रवृत्ति के हों, साहित्यकार को यथार्थ चित्रण ही करना चाहिए जिससे पाठकों में सुधार की भावना जग उठे।

परन्तु आदर्शवादियों का कहना है कि यदि लेखक पाठक के सामने समाज का यथार्थ चित्रण ही खींचकर एक घटना का करुण अवसान कर देता है, तो पाठक के ऊपर उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। यह बात नहीं कि संसार असत्य, असुन्दर तथा अशिव है ही नहीं, है अवश्य और बहुत मात्रा में है; परन्तु इसलिये तो साहित्य में इसको स्थान न मिलना चाहिए क्योंकि

विरोध—आदर्शवाद का तर्क

प्रत्यक्ष जीवन में तो हम दिन-रात असत्य अधर्म तथा अनाचार को देखते ही रहते हैं, यदि साहित्य में भी यही देखने को मिलेगा तो हमारा मन एक दम घबरा उठेगा; हमको यदि इस नरक से साँस लेने की भी छुट्टी न मिलेगी तो हमारे पैर उखड़ जावेंगे, हमारा जीवन भार हो जावेगा, हम संसार से डरने और भागने लगेंगे। दिन भर के थके मनुष्य को साहित्य में एक सुख तथा आनंद का वातावरण मिलना चाहिए जिससे जीवन के प्रति उसकी रुचि बढ़े, वह बादलों के बीच भी चपला के चंचल आलोक को अपनी आँखों से देख सकें।

दूसरी बात यह है कि साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन होते हुये भी कोरा मनोरंजन तो नहीं है। यदि समाज का ज्यों का त्यों चित्र भी खींचा जावे तो पहिले असत्य, अशिव तथा असुन्दर से हमारा मनोरंजन न होगा—बालकों का हाहाकार, दीनों का आर्त्तनाद तथा विधवाओं का विलाप क्या किसी का मनोरंजन कर सकता है? नहीं, हाँ यह अवश्य देखा गया है कि कुछ नीच प्रवृत्ति के लोग वेश्याओं, कुलटाओं आदि की बातें कहते तो सुधार के नाम पर हैं, परन्तु उनको उनके कहने में बड़ा आनंद मिलता है—इनमें हमारी पाशविक वृत्तियाँ जो उत्तेजित हो उठती हैं। ऐसे लोग भी हैं जो एक दीन विधवा की करुण कथा इसीलिये सुनना चाहेंगे कि उनको उसका रूप तथा यौवन बड़ा आकर्षक लगता है। यह कुप्रवृत्तियों का उत्तेजक साहित्य—जैसा कि आज के प्रगतिवाद का प्राण-सा है—हमारे समाज को नहीं चाहिए। हम तो अपनी वासनाओं को संयत कर मानव के आदर्श जीवन पर पहुँचना चाहते हैं। बहुत से सिनेमा इसीलिये बुरे माने जाते हैं, और हम

स्वयं भले ही उनको देखने चले जावें, अपनी बहिनों तथा पुत्रियों को ले जाना पसंद नहीं करते।

यदि साहित्यकार केवल एक पारदर्शक (Transparant) सीसा होता तो वह संसार का ज्यों का त्यों चित्र पाठक के सामने उपस्थित कर देता; परन्तु वह इससे कुछ अधिक है। वह साहित्य में सक्रिय भाग लेता है। वह पाठक को उसकी इच्छा पर नहीं छोड़-देता, स्वयं उँगली पकड़कर उसको अंधकार से निकलने का मार्ग दिखाता है। समस्याओं का उठाना तो सभी कलाकार कर मकते हैं, परन्तु उनका सन्तोपजनक समाधान कलाकार की सफलता का द्योतक है। स्व० प्रसादजी❀ की "ध्रुवस्वामिनी" में एक स्त्री का उस व्यक्तिसे विवाह न होना जिसको वह प्रेम करती है, प्रत्युत एक नपुंसक पुरुष से हो जाना—स्वयं एक महान् समस्या है। चतुर लेखक ने विवाह-विच्छेद (Divorce तलाक द्वारा उसका सुन्दर समाधान करा दिया है; इसी प्रकार, प्रेमचंदजी ने "प्रेमाश्रम" में जमींदारों द्वारा स्वयं जमींदारी का अंत दिखाया है, "गोदान" में डा० मेहता द्वारा मालती के सत्स्वरूप की खोज कराई है। यह सब आदर्शवाद है। आदर्श साहित्य सामाजिक तथा राजनीतिक अंधकार में निरीह भटकने वाले पाठक को सुपथ पर लाकर उसको उद्धार की प्रेरणा देता है; यथार्थ साहित्य ऐसा नहीं कर सकता।

इसीलिये हम देखते हैं कि प्राचीन साहित्य में आदर्श की ओर अभिरुचि थी। सारे भारतीय साहित्य को देख जाइये, सारे नाटकों को देख लीजिये कहीं भी अश्लील, अनुकरणीय, गर्हित दृश्य देखने को न मिलेगा, नाटकों में तो इस बात का इतना

❀ स्वर्गीय जयशंकर "प्रसाद"।

ध्यान रखा जाता था कि इसके लिये नियमविशेष बने हुये थे। वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, मृत्यु, रति, नखक्षत; दन्तक्षत, शयन, अधरपान आदि के दृश्य वर्जित थे;※ इतना ही नहीं नाटक का नेता सदा देवता, या कोई महापुरुष ही हुआ करता था*; उस नाटक में घात-प्रतिघात कितने ही दिखला दिये जावें

प्राचीन भारतीय साहित्य में

परन्तु अवसान सुख में ही होता था। इन सब बातों का कारण स्पष्ट है कि पाठकों, दर्शकों तथा श्रोताओं पर उन पात्रों के आचार का प्रभाव अवश्य पड़ता है, जिनकी कथा उनके सामने है। इसी सिद्धान्त को मानते हुये आज सिनेमाओं में से कोई विशेष अंश या कोई-कोई पूरा चित्र ही अनुचित समझकर हटवा दिया जाता है, विशेषतः नवयुवकों के चरित्र को दूषित करने वाली, या समाज में पारस्परिक विद्वेष फैला नेवाली÷ या राजनीतिक विप्लव की

※दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
शयनाधरपानादि नगराद्युपरोधनम्॥ —साहित्यदर्पण।

*प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥ —साहित्यदर्पण।

÷ "दूसरी शादी" के प्रसिद्ध गीत "कोई बहाना करके आजा, भंगिनि को छोकरिया" ने कई स्थानों पर हरिजनों तथा सवर्ण जनों में झगड़ा करा दिया।

संभावना वाली× फिलमों+ के स्थान पर उत्साह; सुख तथा शक्ति की प्रेरणा देने वाले† चित्र अधिक रुचिकर माने गये हैं। यह बात नहीं कि संस्कृत के नाटकों में सभी दृश्य अच्छे ही हैं; बुरे हैं ही नहीं। उनमें द्यूत (जुआ) दिखलाया गया है, चोरी है मदिरा है, वेश्यागमन है, स्त्री हरण है—परन्तु यह सब ऐसे पात्रों का काम दिखाया गया है जो नायक के विरोधी (जैसे प्रतिनायक) हैं और जिनका अंत परम करुणाजनक होता है, जिनसे इसी हेतु सामाजिकों को प्रीति नहीं हो सकती, घृणा अवश्य होगी। इतना शक्तिशाली तथा प्रतापशाली था लंका का राजा रावण, परन्तु वह अत्यचारी था इसलिये उसके कुटुम्ब में कोई न नाम लेने-वाला रहा न फलने फूलने वाला❀। कर्मों के सदसत् फल का भोग¶ तथा बुरे का अंत बुरा तथा भले का अंत भला ‡ दिखाना ही, "यतोधर्मस्ततो जयः"* की घोषणा करता हुआ, प्राचीन

× "शहीद" चित्र बहुत दिनों तक इसी हेतु बंद रख गया।

+ चलचित्र।

† "स्वयंसिद्धा", "गृहस्थी", "अपना देश", "आग" आदि इसी दृष्टि से अच्छे माने गये हैं।

❀ एक लख पूत, सवा लख नाती।
ता रावण घर दिया न बाती ॥ —कबीर।

¶ अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं शुभाशुभम् !

‡ "गर्ल्स स्कूल" नामक चलचित्र में यही दिखलाया गया है:—"साँचे का है बोल-बाला जगत में झूँठे का मुँह काला ॥"

* जहाँ धर्म है वहीं जय होती है।

भारतीय साहित्य का मूल सिद्धान्त है।

परन्तु आज संसार बदल गया है। प्राचीनता में कम विश्वास करने वाले तथा पाश्चात्य सभ्यता को ही सब कुछ समझने वाले लोगों ने बिना सोचे-समझे सभी प्राचीन आदर्शों को ठुकराकर अपना नया "वाममार्ग" बना लिया है। "प्रगति" के नाम पर कुछ "नवीन विचार वालों" ने साहित्य में भी कुछ वर्जित बातों को भर दिया है। यह प्रवृत्ति केवल पश्चिमी प्रभाव से ही आई है इसलिये पश्चिम से आई हुई कहानी (Short Story) में इसका प्रचलन सबसे अधिक है। लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की बात जाने दीजिये। जितने "नये लेखक" उठते हुए दिखाई पड़ते हैं उन्होंने मानो अपनी सारी कुप्रवृत्तियों तथा दूषित वासनाओं को पाठकों पर लाने का ठेका ही ले लिया है; किसी कहानी की पत्रिका को उठा लीजिये— "माया", "मनोहर कहानियाँ", "नई कहानियाँ", "रसीली कहानियाँ", "सजनी", "अप्सरा",—सबमें प्रधानतः वासनामय प्रेम के अत्यन्त हेय चित्र देखने को मिलेंगे; सारी कहानियों का एक ही सार है कि उनको देखकर हम उनसे प्रेम करने लगें और या तो वे स्वयं हमारे प्रेम को ठुकराती हैं, या उनके माता-पिता या समाज।

आधुनिक साहित्य-पश्चिमी प्रभाव

ऐसे ही दृश्यों को पढ़कर नवयुवक प्रायः अपना जीवन ही नष्ट कर लेते हैं, और जब नवयुवतियाँ पढ़ती हैं, तो उनको तो तलाक-बिल (विवाह-विच्छेद का राज नियम) बनवाने की आवश्यकता पड़ती है। मेरी समझ में नहीं आता कि यदि प्रेम में बाधा आती है तो ऐसा प्रेम करते ही क्यों हो, क्या और कोई काम नहीं है जिधर देखो उधर तड़प-तड़प कर

मूँज की रस्सी बन गये। इसी प्रकार के प्रेम को देखकर मानो पश्चिम के एक प्रसिद्ध कलाकार ने "निरन्तर प्रेमी" (The Constant Lover) लिखकर एक ऐसे व्यक्ति का उपहासास्पद चित्र खींचा है जो सर्वदा प्रेम से तड़पता रहा, परन्तु यह नहीं जानता था कि वह किसको प्रेम करता है !!!

इसमें सन्देह नहीं कि श्रेष्ठ तथा स्थायी कलाकार आज भी अपने साहित्य में आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति ही रखते हैं। उदाहरण के लिये यदि हम स्व० प्रेमचंदजी के प्रसिद्ध उपन्यास "गोदान" के कुछ चित्रों को लें तो हमको कई स्थानों पर समाज के कुत्सित दृश्य दिखलाई पड़ेगें। प्रेम में पड़ी हुई झुनिया अपने पात्र गोबर को अपना कटु अनुभव सुनाती है :—×

"लगा हाथ जोड़ने पैरों पड़ने — एक प्रेमी का मन रख दोगी, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जायगा ? कभी-कभी गरीबों पर दया किया करो, नहीं भगवान् पूछेंगे, इतना रूप-धन दिया था, तुमने उससे एक ब्राह्मण का उपकार भी नहीं किया, तो क्या जवाब दोगी बोल मैं विप्र हूँ, रुपये-पैसे का दान तो रोज ही पाता हूँ, आज रूप का दान दो"।

इसी प्रकार ठा० झिंगुरीसिंह की पत्नी के चरित्र की ओर भी चतुर लेखक ने कितना यथार्थ संकेत किया है :—

"पति की आड़ में सब कुछ जायज है। मुसीबत तो उनकी है, जिसे कोई आड़ नहीं। ठाकुर साहब स्त्रियों पर बड़ा कठोर शासन रखते थे, और उन्हें घमंड था कि उनकी पत्नियों का घूँघट तक न देखा होगा; मगर घूँघट की आड़ में क्या होता है, इसकी उन्हें क्या खबर"। (परिच्छेद ११). इसी प्रकार "निर्मला" नामक

× गोदान, परिच्छेद ५.

उपन्यास में उन्होंने डाक्टर साहब की निर्मला के प्रति दुर्भावनाओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं कराया, केवल संकेत भर कर दिया है। तात्पर्य यह है यदि कोई ऐसी वस्तु है जो संसार में पाई तो जाती है; परन्तु उसका लिखना या प्रत्यक्ष दिखाना सामाजिकों के चरित्र को पतित करेगा, तो आदर्शवादी उसका संकेत भर कर देता है। प्रेमचन्दजी आदर्शवादी तो नहीं—हो भी किस प्रकार सकते थे, क्योंकि उनको तो अपने उपन्यासों में वर्त्तमान जीवन के ज्यों के त्यों चित्र खींच कर उसमें सुधार करना अभीष्ट था—परन्तु आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं; उनका यथार्थवाद आदर्श की ओर मुड़कर अंत में आदर्श ही बन जाता है; वे समस्याओं को उठाकर उनका समाधान भी बतलाते हैं "प्रेमाश्रम" में उनके प्रेमशंकर स्वयं ऐसी शिक्षा देते हैं कि मायाशंकर अपनी प्रजा को मुक्तकर "अपनी जोत का स्वयं जमींदार" बना देता है। स्व० प्रसादजी ने यद्यपि आजकल के वातावरण को व्यक्त रूप से कम ही स्पर्श किया है, परन्तु वे आदर्श की ओर ही झुके हुये थे, उनके सभी नायक आदर्श तथा अनुकरणीय हैं, उनमें क्षमा, उदारता, त्याग तथा उत्साह आदि गुणों का अक्षय कोप है; उनमें सत की असत् पर सदा विजय होती है; स्कन्दगुप्त ने स्वतन्त्रता को मोल न लेकर उसको बाहुबल से लिया और फिर आर्य-साम्राज्य की स्थापना कर स्वयं सन्यास ले लिया; चाणक्य भी गुप्त-साम्राज्य को सुदृढ़ बनाकर विरक्त हो जाता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का भी प्राप्य आदर्श ही रहा है, वे कला में यथार्थवाद को कोई महत्व नहीं देते और सर्वदा राष्ट्रीयता, जातीयता, रामराज्य तथा उदारहृदयता आदि अनुकरणीय गुणों को प्रोत्साहित करते हैं। इस भाँति हिन्दी के वर्त्तमान प्रमुख कलाकार भी आदर्श की अवहेलना नहीं करते ॥

कवि निष्क्रिय व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत वह बड़ा क्रान्तिकारी होता है। साधारण व्यक्ति से अधिक समझदार होने के कारण उसको भविष्य द्रष्टा कहा जाता है। यदि वह दलदल में पड़े हुये व्यक्ति को बाहर निकलने का उपाय न बतला सके तो उसकी कला का क्या मूल्य होगा? काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं, प्रत्युत रमणीयता के वातावरण में "कान्तासम्मित"× उपदेश देना है, इसलिये उसमें आदर्श तो उपस्थित होना ही चाहिए; हाँ यदि वह सुधार को लेकर चलता है तो उसमें कुत्सित समाज का चित्र भी हो सकता है परन्तु यह देख लेना चाहिए कि उस कुत्सित चित्र से दुर्वासनाओं की अभिवृद्धि तो नहीं होती, अन्यथा—

उपसंहार

"गाडर लाई ऊन कूँ, लागी चरन कपास"+ वाली युक्ति चरितार्थ हो जावेगी।

× जिस प्रकार एक रमणी अपने पति को इतने मनोहर शब्दों में (Curtain Lectures) समझाती है कि वह भले ही माता-पिता, मित्र आदि की वात न माने, उसकी बात नहीं टाल सकता; उसी प्रकार काव्य रमणीय उपदेश देता है।

+ भेड़ तो इसलिये लाई गई कि उससे ऊन मिलेगी, परन्तु उसने आकर कपास को भी खा डाला।

व्यंग्य लेख—

प्राइमरी स्कूल

(१) दर्शन की आवश्यकता.
(२) कहाँ पर बना हुआ है ?
(३) पाठशाला का भवन.
(४) पाठशाला के कमरे.
(५) कमरों की किवाड़ें.
(६) कमरों में फरनीचर.
(७) अध्यापक तथा अध्यापन.
(८) उपसंहार.

यद्यपि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड× की सड़कों का सौन्दर्य किसी भी पथिक से छिपा नहीं है तो भी हमारे इन अधिकारियों (जिला-बोर्ड के अध्यक्ष तथा मन्त्री आदि) के प्रबन्ध का उत्तम निरीक्षण ग्रामीण प्राइमरी-पाठशालाओं में ही हो सकता है। चुंगी के प्राइमरी स्कूल भी इन्हीं नंदनवनों+ के सजातीय होते हैं और वे नागरिक वातावरण में रहकर भी नागरिकता में उसी भाँति निर्लिप्त÷ रहते हैं जिस भाँति महात्मा लोग संसार में अथवा कमल का पत्ता जल में। संभव है आपके मानस में उत्सुकता का अभाव हो और और आप नगर-पाठशालाओं को देखकर ही ग्रामीण पाठशालाओं के आनंद का, अपनी कल्पना द्वारा, अनुभव करना चाहें; किन्तु

× District Board. + स्वर्ग के वन. ÷ अलग.

दर्शन की आवश्यकता

मैं तो आपसे हठ करूँगा और आपको उस प्राइमरी यूनीवर्सिटी❀ के हाल¶ में खड़ा करके पूछूँगा कि "क्या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्राइमरी स्कूल स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं ?" आइये, यह एक अद्वितीय अवसर है, फिर उठी पैंठ£ आठवें दिन लगती है।

सात-आठ के ग्रामों के बीच किसी भी एक ग्राम में, जहाँ चेअरमैन साहब† के साले की ससुराल है, एक प्राइमरी स्कूल है। ग्राम के एक कोने पर ठाकुर साहब की गढ़ी* है। दूसरे कोने पर आपका बाग तथा सीर है। ग्राम में ५ घर ठाकुरों के, ३ बनियों के तथा दो ब्राह्मणों के हैं; शेष २० घर दूसरी जातियों के हैं। ग्राम की दूसरी ओर, जहाँ कुम्हार, काछी तथा कंजरों की 'कोठियाँ' हैं घूरे× के बिलकुल पास ही एक बिन मठ+ के कच्चे

कहाँ पर बना हुआ है ?

कूप के समीप ही हमारा 'कालेज'÷ है। एक ओर एक पोखर इसके चरणों का उसी प्रकार प्रक्षालन§ करती रहती है जिस प्रकार कि भगवती भागीरथी शैव नगरी काशी के चरणों का। सड़े हुये कूड़े, वारे= में पड़े हुये मैले० तथा निरंतर उठते हुए ग्राम के सुगंधित धूम्र¶ को देखकर

❀ विश्वविद्यालय। ¶ Hall एक बड़ा कमरा।

£ बाजार। † अध्यक्ष (Chairman)। * निवास-स्थान।

× जहाँ ग्राम का कूड़ा इकट्ठा होता है।

+ कूप की जगत (परकोटा).

÷ विद्यालय। § पखारना। = ग्राम के पास।

० पाखाना आदि। ¶ धुआँ.

हमको आज भी आर्यों के पावन तपोवन की याद आकस्मात् आ जाया करती है।

परकोटे के भीतर घुसते ही हमको पाठशाला के दर्शन होते हैं£। काञ्ची के भव्य भवन इसके सम्मुख अपने सौन्दर्य पर लजा जाते होंगे। अस्तु बिल्डिंग§ में तीन कमरे हैं···अथवा दो···अच्छा ढाई ही समझ लीजिये। दोनों की बनावट एक सी ही है। एक ही कमरे में तीन प्रकार की

पाठशाला का भवन

भीतों÷—एक कच्ची ईंट की पुती हुई भूरी::, दूसरी गोंद° की लिपी हुई और तीसरी देशी चिकनी मिट्टी की बनी हुई—का समावेश इसी भाँति हो जाता है जिस भाँति कि उत्पत्ति, पालन तथा संहार तीनों क्रियाओं की क्षमता ब्रह्म में अथवा ब्राह्मण, क्षत्री एवं वैश्य तीनों वर्णों का समावेश आर्य द्विज जाति में।

कमरे पटे हुए हैं या नहीं? यह स्वयं हमारी ही समझ में नहीं आता। केवल इतना समझ लीजिये कि जब इस पाठशाला का जन्म हुआ था तब श्रीमती···नहीं, नहीं,···कुमारी भित्तिदेवी* ने पूरे अठारह महीने तक एक पैर खड़े होकर सूर्य भगवान् की अराधना की थी। अतः जिस प्रकार दिवाकर÷ भगवान् ने कुन्ती× को कर्ण का दान दिया था उसी भाँति भित्ति भगवती को उनके जीवन के सहारे महर्षि पर्ण❀ का दान दिया। उसी दिन

£ प्राचीन सुन्दरतम नगरी। § भवन (इमारत)। ÷ दीवार.
:: सफ़ेद। ° कच्ची मिट्टी। * भीति=दीवार।
÷ सूर्य। × पाण्डु की पत्नी। ❀ पर्ण=फूस-पत्ता।

पाठशाला के कमरे

से महर्षि पर्णदेव छप्पर के रूप में एकचित होकर अपनी मनोहारिणी माता की सेवा में आज तक कमर कसे हुये खड़े हैं। १२ वर्ष तक जाड़ा, गर्मी तथा वर्षा सहन करने से यद्यपि आपका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया है, किन्तु वाह रे मनस्वी ! अभो उसके मानस में शक्ति अवशिष्ट !!

किवाड़ों में छेदों का होना तो शायद इसीलिये होगा कि कमरे में स्वच्छ वायु का प्रवेश होता रहे। हाँ, साँकर+ के भीतर से बन्द होने पर भी बाहर से ही खुल जाने में एक रहस्य है पंडित जी की परेशानी को बचाना; क्योंकि जब सारे ग्राम में सन्नाटा छा जाता है तो पंडितजी के ही एक नींद ले लेने में क्या बुराई

कमरों की किवाड़ें

है ? अस्तु, उन्हें चारपाई छोड़ कर जूआ वालों के लिये साँकल खोलने नहीं जाना पड़ता; और सज्जनता के नाते अथवा शिष्य होने के नाते जुआवाले स्वयं ही साँकर खोल लेते हैं और स्वयं ही बंद भी कर जाते हैं।

हाँ आश्चर्य होता है इस शिल्पकार की ज्योतिर्विज्ञता पर। शायद वह राज× जिसने इस भवन का निर्माण किया था ज्योतिषी भी रहा होगा, नहीं तो उसने यह कैसे जान लिया कि भित्तियों गवाक्षों (झरोखों) की आवश्यकता नहीं, उनकी पूर्ति तो कुछ समय उपरान्त छप्पर के छिद्र* ही कर देंगे !!

फर्नीचर के विषय में समझ लीजिये एक टूटी चारपाई और

+ साँकर=जंजीर।

× भवन बनाने वाला मजदूर।

* छेद।

एक जराजर्जरित× साढ़े तीन पाई; प्रत्येक एक-एक कमरे में रखी हुई है। उनकी ÷काँसनिर्मित जेवरी+ स्थान-स्थान पर बाँध दी गई है और कहीं-कहीं पर श्यामा कुम्हार ने बालों को बटकर उस जेवरी के स्थानापन्न कर दिया है। कमरे के भीतर चारपाइयाँ

कमरों में फरनीचर‡

उसी भाँति अचल रहती हैं जिस भाँति विन्ध्य पर्वत अपने स्थान में; वस्तुतः महान् आत्माओं का चित्त हमारे समान चंचल नहीं होता। आप कहते होंगे कि इससे लाभ ही क्या है? महाशय! बुद्धि तो लड़ाइये, क्या इससे जीवधारियों का पालन नहीं होता? मान लिया कि मच्छर किसी भी कोने में पड़े रह सकते हैं और ढींगरों (जूँ) के लिये अध्यापकों के वस्त्र ही पर्याप्त हैं; किन्तु खटमलों के लिये तो खाट के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही नहीं है। अस्तु, इस महाविद्यालय में सभी जीवधारी स्वच्छन्तापूर्वक निवास करते हैं।

अब आपको देर हो रही हो तो भी आकर एक बार अध्यापन-विधि का निरीक्षण कर लीजिये, क्योंकि ऐसे तीर्थों के दर्शन बार-बार नहीं होते।

पाठशाला में दो अध्यापक हैं—एक हैडमास्टर पंडितजी तथा दूसरे सहायक ठाकुर साहब (मुंशी जी)। घर दूर होने के कारण पंडितजी यहीं रहते हैं किन्तु मुंशीजी का घर एक पास के ग्राम में ही है अतः वे प्रतिदिन चले जाया करते हैं।

× बुढ़ापे से जर्जर।

÷ काँस—एक जंगली घास।

+ चारपाई बिनने की रस्सी।

‡ मेज कुर्सी आदि।

अध्यापक तथा अध्यापन

पाठशाला का समय ७ बजे से है किन्तु जब मुंशीजी ही—जो सहायक हैं—घर से १० बजे आ पाते हैं, तो पंडित जी—जो अध्यक्ष हैं—१२ बजे से पहिले पढ़ाना किस प्रकार प्रारम्भ कर सकते हैं ?

अध्यापन का कोर्स❋ समझना केवल एक अनुभवी व्यक्ति का ही काम है। दो-तीन गणित के प्रश्न, एक पट्टी नकल, कभी-कभी भूगोल का पाठ, सारे ग्राम की आलोचना, अपने-अपने पुराने अनुभवों को दुहराना, कुछ सरकार की बुराई, पड़ौस की बुढ़िया की शिकायत, तथा लड़कों को थोड़ा-सा गालियों का अभ्यास करना ही प्रतिदिन का कार्यक्रम है।

हो सकता है आप जैसे सड़ी बुद्धिवाले लोग समझें कि अध्यापक अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं करते; परन्तु नहीं वे करते हैं और अवश्य करते हैं। परन्तु आपको ध्यान रहे कि जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा; जब उनको वेतन तथा महँगाई मिला कर कुल ३७) रुपया मिलता है, तो ३८) रुपये की बुद्धि कैसे खर्च कर सकते हैं ? हाँ, ट्रेनिंग* पास करने से वे पटु अवश्य हो जाते हैं और सदा छात्रों के साथ डिडक्टिव मैथड÷(Deduc-

---

❋ Course पाठ्य विषय।

* Training अध्यापकी की शिक्षा।

÷ एक मत जिसके अनुसार अध्यापक को सारी वस्तुएँ स्वतः छात्रों के मस्तिष्क से ही निकलवानी चाहिए, वह अपने आप उनको बताकर रटवा न दे।

tive Mathod) का ही व्यवहार करते हैं ; परन्तु उनका एक मात्र मन्त्र वही मोटा सोटा है, जिसकी सहायता से वे छात्रों के सिर में से जो चाहें वही निकलवा सकते हैं। परीक्षाफल के विषय में अधिक चिन्तित रहने की आवश्यकता नहीं, इसकी विधि "कलदार-कीर्त्तनम्"× में इस प्रकार कही गई है:—

" सर्व देवान् परित्यज्य, ये च ते शरणं गताः।
भूरि सम्पत्ति दाता त्वं, तत्काल फलसाधकः॥"

अर्थात हे कलदार महाराज ! जो लोग सब देवताओं को छोड़कर तुम्हारी शरण में आते हैं, उनको तुम तत्काल फल देते हो और अनन्त सम्पत्ति देते हो।

इस संक्षिप्त निरीक्षण से आपको विदित होगया होगा कि हमारी प्रारंभिक शिक्षा का प्रबंध कितना सराहनीय है। सुकुमार बुद्धि वाले बालकों का विद्या के क्षेत्र में यह पहिला पदक्रम+ होता है, और यदि वे इससे घृणा भी करने लगते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य !! अपने प्रतिदिन उगने और प्रतिदिन नष्ट होने वालों (केशों), वस्त्रों, आभूषणों आदि का जहाँ हमारे पास अच्छे से अच्छा तथा रमणीय से रमणीय प्रबंध है वहाँ अपने हृदय के टुकड़े—अपनी संतान, जिसके लिये हमको अपना सर्वस्व होम कर देना चाहिए, जिसके द्वारा हम संसार में अमर हो सकते हैं—के लिये जिसकी मानसिक उन्नति के लिये हम

उपसंहार

× कलदार=रुपया। कीर्त्तन=प्रशंसा।

+ पदक्रम=कदम (Stop).

कितनी उदासीनता लिये हुए हैं !! विदेशों में तो प्रारंभिक शिक्षा विश्वविद्यालयीय शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है, पत्तों की खूराक से जड़ की खूराक अधिक उत्तम बनाई जाती है, परन्तु हमारे देश में इतनी पतित दशा ! आश्चर्य ! महदाश्चर्य !!

कबीर और बौद्ध मत

(१) कबीर की परिस्थितियाँ.
(२) बौद्धधर्म का प्रवाह.
(३) बुद्धमत तथा संतमत की कुछ सामान्य मिलती-जुलती बातें.
(४) समानता-(१) दुःखवाद.
(५) ———(२) दुःख हेतु.
(६) ———(३) अनित्यता.
(७) ———(४) ज्ञानमार्ग.
(८) ———(५) मध्यम मार्ग.
(९) ———(६) मार्ग तथा उद्देश्य.
(१०) हिन्दू-धर्म के पौराणिक स्वरूप का अति परिचय.
(११) सूफियों का प्रभाव.
(१२) योगवालों का प्रभाव
(१३) उपसंहार

विक्रम संवत् की १० वीं शती तक आते-आते भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति पर्याप्त परिवर्त्तन देख चुकी थी। एक ओर तो राजपूतकालीन कला अपने चरम विकास पर पहुँच कर साहित्य तथा वास्तु-कला में नवजीवन भर रही थी; दूसरी ओर सामान्य जनता पतनोन्मुख हो गई थी—साधारण व्यक्ति का उस समय के जीवन में कोई सहयोग न था। संभवतः

जनता को कुछ वर्षों तक अपनी हीन दशा का ज्ञान न होता और वह आडंबरी साधुओं, पाखंडी पंडितों तथा विलासी भूमिपालों को मन ही मन, ईश्वरदत्त महानता का अधिकारी समझकर, नमस्कार करती रहती। परन्तु मुसलमानों के आगमन ने चिन्तन को एक विशेष मार्ग दिखाया। जो पंडित तिलक और छापे लगा-कर अपने उच्च वंश की घोषणा करते थे, वे ही इन विदेशियों (जिनका आचरण शूद्रों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं था) को छूते, उनको सिर झुकाते और उनको उच्च आसन देते थे।

कबीर की परिस्थितियाँ

इतना ही नहीं जो शूद्र कल तक अछूत था, जिसकी छाया भी अपवित्र थी, वही आज अपना नाम और वेष बदल कर—मुसलमान होकर—श्रद्धा तथा सत्कार का अधिकारी हो जाता। जनता का वर्णाश्रम प्रथा से विश्वास उठने लगा। जिन मंदिरों का वह अपने नेत्रों से ही विनाश देख चुकी थी उनके देवताओं का अब उसको कोई भरोसा न रहा। फलस्वरूप पृथ्वी के भीतर जो एक क्षीण भूकंप धीरे ही धीरे चल रहा था उसने ज्वालामुखी का रूप धारण कर भयानक विस्फोट की तैयारी कर दी। सन्तमत एक ऐसा ही रक्तहीन विद्रोह था, जिसने कबीर के नेतृत्व में सामाजिक क्रान्ति की सुस्थिर नींव जमा दी।

भारत में इस प्रकार की सामाजिक क्रान्ति इतिहास में प्रथम बार ही दिखाई पड़ती हो, ऐसी बात नहीं। विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भी एक ऐसा ही उफान आया था, जिसने अनेक भूपालों तथा श्रेष्ठियों (सेठों) का सहयोग प्राप्त कर सारे जम्बु द्वीप (एशिया) को विचार-स्वातन्त्र्य का पथ प्रदर्शित किया था वह प्रचंड प्रवाह बौद्ध-धर्म का; जिसने ब्राह्मण-धर्म की संकीर्ण

तथा संकुचित मनोवृत्ति को सत्य की कसौटी पर कसकर, इस क्षणिक संसार के क्षणभंगुर वैभव में अपने को भूल न जाने की सम्मति बड़े बड़े अभिमानियों तथा दंभियों को दी।

बौद्ध धर्म का प्रवाह?

यह भी जनता की पुकार थी, और विकासोन्मुख सामाजिक क्रान्ति का अचंचल प्रारंभ था; परन्तु ध्यान रहे कि संतमत के समान इसके ऊपर कोई बाहरी प्रभाव न था; फलतः उसकी विचारधारा केवल प्रतिक्रिया (Reaction) मात्र ही बनकर ध्वंसात्मक (Destructive) नीति को ही न मानती रही, प्रत्युत कुछ क्रियात्मक (Constructiv) सृष्टि भी संभव बना सकी।

एक सामान्य दृष्टिपात से ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रवाह उस समय की सामाजिक परिस्थिति के विरोध में थे। दोनों ने अपनी विचारधारा स्वीकृत से भिन्न एक नई भाषा में प्रसारित की—बौद्धमत ने पाली में, तथा संतमत ने सधुकड़ी भाषा में। दोनों ही जन्मतः महत्ता के विरोधी थे, न कबीर जन्मजात उच्चता को मानते थे, न बुद्ध। दोनों ने धार्मिक ग्रंथों—वेदों—का पढ़ना व्यर्थ ही बतलाया; बुद्ध स्वयं भी वेदों के ज्ञाता थे या नहीं यह विचारणीय है; और कबीर तो अनपढ़ थे ही। दोनों ने अपने उपदेश मौखिक ही दिये, ग्रंथों का सृजन उनके उपरांत उनके शिष्यों ने किया। दोनों का प्रचार प्रायः 'नीच' वर्ग में ही हुआ; यह दूसरी बात थी कि बुद्ध के पास कुछ स्वाभाविक राजकीय प्रभाव भी था; इसलिये कई बड़े-बड़े राजा भी उनके अनुयायी हो गये थे। दोनों ने 'संतों' (या भिक्षुओं) के लिये ही प्रधानतः उपदेश

बुद्धमत तथा संतमत की कुछ सामान्य मिलती-जुलती बातें

दिये हैं; या कम से कम दोनों का प्रचार अगृहस्थों में ही अधिक हुआ। तथा दोनों सामान्य बातों का ही प्रचार करते थे, न बुद्ध किसी का धर्म-परिवर्त्तन कर उसको अपने मत में दीक्षा देने के पक्षपाती थी, न कबीर ने ही वैसा किया; हाँ उनके द्वार सदा सब के लिये खुले रहते थे।

परन्तु इन बातों के अतिरिक्त भी उन दोनों मतों में समानता पाई जाती है। यह सभी जानते हैं कि गौतम बुद्ध के राज्य-त्याग का कारण यह था कि देवताओं ने उनके मार्ग में क्रमशः वृद्ध, रोगी, मृत तथा प्रव्रजित (सन्यासी) को भेजा; + प्रथम तीन से तो उनको यह ज्ञान हुआ कि संसार दुःखमय है और अंतिम से यह प्रकाश मिला कि छुटकारा पाने का पथ सन्यास ही है। फल यह हुआ कि बुद्ध ने "चार आर्य-सत्य" में

समानता—
(१) दुःखवाद

"दुःख—सत्य" को सबसे पहिला स्थान दिया है×। उनके अनुसार जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, रोग भी दुःख है, और मृत्यु भी दुःख है; अ-प्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुःख है÷। इस दुःख से छुटकारा पाने के लिये हम केवल मन में थोड़ा सा परिवर्त्तन करके इन

\+ Chance on will of the gods set in his path on old man broken and decrepit, a sick man a dead man and a wandering ascetic.

—S. Radhakrishnan : Gautama the Buddha.

× राहुल सांकृत्यायनः बौद्ध-दर्शन, पृ० ५।

÷ अप्पियानां दस्सनं दुक्खं, पियानां चादस्सनम्।

कारणों को एक नवीन दृष्टिकोण से देख सकते हैं÷। कबीर भी यही मानते हैं कि इन दुःखों का रहना तो अवश्यम्भावी है, सब पर रहते हैं और सदा रहेंगे, इनको कोई दूर नहीं कर सकता:—

"कबिरा मैं तो तब डरौं, जो मुझ में ही होय।
मीचु, बुढ़ापा, आपदा, सब काहू पै सोय॥"

(ध्यान देना होगा कि कबीर ने भी मृत्यु (मीचु), वृद्धावस्था (बुढ़ापा) तथा रोगादि (आपदा) को ही दुःख का रूप माना है)

वे यह भी मानते हैं कि ये दुःख सभी देहधारियों को भोगने पड़ते हैं, यदि इनसे बचना है तो ज्ञान की दृष्टि से देखो, ये दुःख दुःख न रहेंगे :—

"देह धरे का दंड है, सब काहू पै होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय॥"×

(जो देह धारण करता है उसका दंड—दुःख—तो उसको भोगना ही पड़ेगा, हाँ, यदि वह ज्ञानी है तो ज्ञान से उसको भुगत लेगा (उसको दुःख का अनुभव न होगा) यदि अज्ञानी है तो रो-

---

÷ To make ourselves happy all that is necessary is to make ourselves a new heart and see with new eyes.

—Radha Kirshnan.

× तुलना कीजिये:—Birth and Death. Suffering and love are universal facts.
(S. Radhakrishnan : Gautam the Buddha)

रो कर भोग करेगा)❋

अस्तु बुद्ध तथा कबीर की विचारधारा की मूल में एक ही दुःखवाद है और उससे छुटकारा पाने की भी एक ही विधि दोनों ने स्वीकार की है।

दुःख सत्य का विवेचन करने के अनुसार बुद्ध ने दूसरे आर्य-सत्य "दुःख हेतु" की विवेचना की है। उनके मतानुसार तृष्णा (पाली-तन्हा) ही दुःख का हेतु है। यह तृष्णा तीन प्रकार की देखी जाती है—काम (भोग) की तृष्णा। भव की तृष्णा तथा विभव की तृष्णा। कबीर ने भी इस विश्वव्यापी दुःख का कारण आशा

(२) दुःखहेतु

तथा तृष्णा को ही माना है, इसी से गृहस्थ तथा सन्यासी सभी आक्रान्त रहते हैं :—

"जो देखा सो दुखिया देखा।
तन धर सुखिया कोई न देखा।

जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आशा तृस्ना सब घर व्यापै, कोई महल नहीं सूना॥"

जिस प्रकार बुद्ध ने तृष्णा के तीन रूप माने हैं, उसी प्रकार कबीर ने भी; और कनक तथा कामिनी को तो उन्होंने मार्ग की दो

❋ दुःखवाद का इतना प्रचार हुआ कि भक्ति में तो इसका आगमन एक महा शुभ चिन्ह माना गया। कवीर का यह दोहा ;—

हँसि—हँसि कंत न पाइया जिन पाया तिन रोइ।
हाँसी खेलैं पिउ मिलैं, कौन दुहागिनि होइ॥

"गुरुग्रन्थसाहब" में भी ज्यों का त्यों सम्मिलित कर लिया गया।

दुर्गम घाटियों बतलाया है×। कामिनी की जितनी निन्दा इन्होंने की है उतनी और दूसरे संतों ने भी नहीं की+। दुःख विनाश भी इसीलिये, जैसा की बुद्ध ने माना है, इन तृष्णा के विषयों से अलग रहना माना गया है÷। दुःख विनाश का आर्य-अष्टांगिक मार्ग' बुद्ध धर्म का कार्यात्मक पक्ष है; जिसके अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि; सम्यक् संकल्प; सम्यक् वचन; सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका; सम्यक् प्रयत्न; सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि आते हैं। कबीर की साखियों से भी उदाहरण देकर यह दिखाया जा सकता है कि कबीर ने इन बातों पर बड़ा जोर दिया है और यद्यपि वे केवल इन्हीं को नहीं मानते थे तथापि उनके मत में, अज्ञात रूप से ही सही, इनका भी महत्व प्रतिपादित होगया है।

बुद्ध-मत में "अनित्यता", "दुःख" तथा "अनात्म" इन तीन बातों पर ही जोर दिया गया है। यह हम देख चुके कि कबीर ने भी दुःख को एक कट्टर तथा अनिवार्य सत्य माना है। अनित्यता भी कबीर के मत का प्राण है। वस्तुतः अनित्यता तथा दुःख दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

(२) अनित्यता

कबीर ने वैराग्य की उत्पत्ति के लिये संसार की असारता तथा अनित्यता के

× एक कनक अरु कामिनि, दुरगम घाटी दोय।

\+ { नारि नसावै तीन गुन, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान मैं, पैठि सकै नहिं कोय ॥१॥

{ जहाँ जराई कामिनी, तू जनि जाइ कबीर।
उड़ि के धूलि जो लागसी, मैला होइ सरीर ॥२॥

÷ { मैं भँवरा तोहि बरजिया, बन-बन बास न लेइ।
अटकैगा काहू बेलि से, तड़पि-तड़पि जिय देइ ॥

प्रत्यक्ष दर्शन को ही अपना हथियार बनाया था। वे बार-बार यही कहते हैं कि संसार तो काल का चबैना है, वह धीरे-धीरे खाता चल रहा है❀। एक बार मिलकर*बिछुड़ जाने के ध्यान से हमारा मन धर्म की ओर अधिक आकर्षित होता है×। जिस प्रकार पानी का बुदबुदा थोड़ी देर में नष्ट हो जाता है या प्रभात में तारे देखते ही देखते छिप जाते हैं, वैसे ही हम सब एक दिन मर जावेंगे÷। जब इस शरीर की ही नाड़ी अपनी नहीं तो घर की नारी का क्या भरोसा+ ? इसलिये मनुष्य को न तो व्यर्थ अभिमान करना चाहिए और न भोगों में लिप्त रहना चाहिए। इस क्षणभंगुर संसार में यही कर्त्तव्य है :—

(१) माता-पिता, बंधु, सुत, तिरिया, संग नहीं कोउ जाइ सका रे।
जब लगि जीवे, हरि गुन गाले, धन-जोबन है दिन दस का रे।
चौरासी जो तरना चाहे; छोड़ कामिनी का चसका रे॥

(२) मानता नहिं मन मोरा साधो, मानत नहिं मन मोरा रे।
बार-बार मैं कहि समझावौं, जग मैं जीवन थोरा रे।
या काया का गरब न कीजै, क्या साँवर क्या गोरा रे ?

❀ जगत चबैना काल का कछु मुख में कछु गोद।

* बिछुड़ जाने का कहीं-कहीं आध्यात्मिक पक्ष भी लिया है:—
मिलना जग में कठिन है, मिलि बिछुड़ौ जनि कोइ।
बिछुड़ा साजन तेइ मिले, जेइ माथे मनि होइ॥

× पात झरंता यो कहै, सुनि तरुवर बनराइ।
अबके बिछुड़े ना मिलैं, दूरि परेंगे जाइ॥

÷ पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
देखत ही छपि जायगी, ज्यों तारा परभात॥

+ एक दिन ऐसा होयगा, कोइ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी नाहिं॥

भारतीय पद्धति के अनुसार ज्ञान, कर्म तथा उपासना—ये तीन मार्ग ईश्वर-प्राप्ति के माने गये हैं। बुद्ध कर्मकांड का तो साक्षात् विरोध करते ही थे, भक्ति में भी उनका विश्वास न था; वे "ज्ञान और बुद्धिवाद" को ही महत्व देते हैं। कबीर में भक्ति

(४) ज्ञान मार्ग

अवश्य मिलती है; परन्तु जोर ज्ञानमार्ग पर ही है, साधु की परीक्षा ही ज्ञान की होती है❀। परन्तु ज्ञान का अर्थ शास्त्र-ज्ञान न था*, शास्त्र ज्ञान को तो दोनों ही काँव-काँव समझते हैं। ज्ञान का अर्थ सत् तथा असत् का विवेक; कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य की पहिचान। हाँ, दोनों ही प्रत्यक्ष जीवन के सत्कर्मों में अवश्य विश्वास करते थे; बुद्ध के संबंध में हम 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' की चर्चा कर चुके हैं; उस समय यह भी कह चुके हैं कि अहिंसा, आस्तेय, सत्य, अव्यभिचार, अलोभ, अकपट आदि बातों को सदाचार मानकर कबीर ने भी बड़ा सराहा है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार बुद्ध उपदेश में विश्वास न कर प्रत्यक्ष उदाहरण को मानते थे×, उसी प्रकार कबीर को भी "कथनी" से परहेज था और "करनी" से रुचि थी÷।

❀ जाति न पूछौ साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करौ तलवार को, पड़ी रहन दो म्यान॥

* पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ॥

× He not merely preached, which is easy, but lived the kind of life which he taught men should live. (Gautama the Buddha).

÷ कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष ते अमृत होय॥

समाज की कट्टरता को देखकर बुद्ध ने यह नियम बनाया था कि "अतिवाद" का त्याग कर "मध्यम मार्ग" (पाली—मंझिम माग्ग) का ही अनुसरण करना चाहिए। न तो कामसुख में ही अत्यन्त लिप्त रहना उचित है, और शरीर को अति पीड़ा देकर उसको सुखा देने से कोई लाभ है। बुद्ध को दोनों अतियों (Extremes) का कटु अनुभव था—वे राजसुख की निस्सारता को भी देख चुके थे और कठिनतम तप के भी उनको कोई सार न मिला था। इसलिये उन्होंने इन दोनों के बीच का सर्वसुलभ मार्ग "मध्यम मार्ग" निकाला, जिससे सर्वसाधारण को भी धर्मलाभ हो सके। कबीर भी बहुत सी बातों में इसी प्रकार का बीच का मार्ग निकालना चाहते थे—

(५) मध्यम मार्ग

"अति का भला न बोलना, अति का भला न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥"

यह ठीक है कि बुद्ध का मध्यम मार्ग दूसरी चीज है और कबीर का यह मध्यम मार्ग एक दूसरी ही, परन्तु हमको तो ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने, जान बूझकर या अज्ञान से ही, उस मध्यम मार्ग को एक दूसरा ही व्यावहारिक अर्थ दिया है।

जीवन में प्राप्य क्या है, उसका क्या रूप तथा गुण है, इस पर बुद्ध ने अपना समय नहीं व्यय किया, वे इन प्रश्नों को उत्तर देने के योग्य न समझते थे। परन्तु वे यह जानते थे कि जो लोग ब्रह्म के विषय में बढ़-बढ़कर बातें भी करते हैं, उन्होंने उसको देखा भी नहीं है, वे उस व्यक्ति के समान हैं जो प्रेम तो करता है

(६) मार्ग तथा उद्देश्य

परन्तु यह नहीं जानता कि यह किस सुन्दरी को प्रेम करता है। इसी प्रकार कबीर भी मानते हैं कि सभी लोग ब्रह्म के पास चलने की बात करते हैं और शायद जायेंगे भी, परन्तु उनका परिचय तो है ही नहीं पहुँचेंगे किधर :—

"चलन-चलन सब कोई कहै, मोहि अन्देसा और।
साहेब सों परिचय नहीं, पहुँचेंगे केहि ठौर ॥"

इस भाँति हमने देखा कि बाहरी बातों के अतिरिक्त भी बुद्धमती तथा कबीरमत में विचार-साम्य मिलता है कारण यह नहीं कि कबीर ने बुद्धमत का अध्ययन किया हो या भिक्षुक की संगति की हो, परन्तु यह कि दोनों का प्रादुर्भाव लगभग एकसी ही परिस्थितियों में हुआ था। इन दोनों में पर्याप्त विरोध भी मिलता है; जिसके कारण उनके स्वरूप में इतना अन्तर होगया।

कबीर पर हिन्दू धर्म का इतना प्रभाव पड़ा कि वे पौराणिक धर्म की निन्दा और विरोध करते हुये भी इससे पीछा न छुड़ा सके। आलोचकों ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है, और ठीक भी है, कि कबीर ने मुसलमान धर्म की केवल बाहरी बातों की ही कुछ आलोचना की है और हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों को भी ताल ठोक दी है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे हिन्दू-धर्म से

---

† The teachers who talk about Brahma have not seen him face to face. They are like a man in love who cannot say who the lady is.
Radhakrishnan.

हिन्दू धर्म के पौराणिक स्वरूप का अति परिचय

अधिक परिचित थे। फल यह हुआ कि उनको आस्तिकता तथा आत्मवाद में तो पूर्ण विश्वास था ही, वे उस ब्रह्म को "राम" कहकर संबोधित भी करते थे और उसके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा भी रखते थे। उनका ब्रह्म कई बातों में पौराणिक रूप वाला है, वह सबका न्याय करता है, कर्मों का लेखा-जोखा करता है, सब देवताओं का स्वामी तथा माया का पति है। इसीलिये उसकी पूजा करनी चाहिए, उससे डरना चाहिए, उसको अप्रसन्न न करना चाहिए, इसीलिये अहिंसा का मार्ग ग्राह्य है, इसीलिये माया त्याज्य है। वह सबका बनाने-वाला और पिता है, चींटी से लेकर हाथी तक सारे जीव उसी के हैं;× जो उस अपने पिता को भूल जाता है वह उस वेश्या के पुत्र के समान है जो किसी से भी 'पिता' नहीं कह सकता+। यह सब बातें बुद्ध के मत में नहीं मिलतीं क्योंकि वहाँ तो "अहंकार मूलक आत्मवाद" का साक्षात् खंडन है।

सूफियों का प्रभाव

कबीर पर सूफियों का भी प्रभाव पड़ा; परन्तु जैसा कि डा० वर्थ्यवाल÷ ने माना है यह प्रभाव सिद्धान्तों पर न था केवल भावाभिव्यक्ति पर था; अर्थात् कबीर ने सूफियों से यह सीखा कि परमात्मा तथा जीवात्मा के आपस के संबंध को बतलाने के लिये पति-पत्नी का संबन्ध सबसे अधिक मधुर रहता है (यह बात दूसरी है कि सूफी ब्रह्म को माशूक (प्रेमपात्र या पत्नी) मानते थे और

× साँई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोइ।
+ वेश्या केरा पूतरा, कहै कौन सौं बाप।
÷ Barthwal Nargun School of Hindi Poetry

अपने को आशिक (प्रेमी या पति) परन्तु कबीर ने प्रायः अपने को पत्नी माना है और ब्रह्म को पति—कहीं कहीं तो ब्रह्म को साला तथा ससुर तक कह दिया है]। इसलिये परमात्मा का ध्यान भी पतिव्रता के ध्यान के समान ही माना है,× और उसका रिझाना भी उसी प्रकार का है—:

"नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥"

आत्मा का उद्‌बोधन भी कवि ने उसी मनोहर ढंग पर किया है:—

"जागि पियारी अब का सोवै।
रैनि गई, दिन काहे को खोवै॥
तैं बौरी, बौरापन कीन्हा।
भरि जोवन पिय आपु न चीन्हा॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध के मत में इस प्रकार की मधुरता को कोई स्थान हो ही नहीं सकता था; वे जो कुछ कहते थे सीधे रूप (Straight Forward) में कह देते थे या दृष्टान्त देकर समझाते थे, भले ही उनके मत में उपदेश की सी शुष्कता दिखाई पड़े।.

कबीर पर एक तीसरा और प्रभाव भी पड़ा था और वह था बुद्धधर्म के विकृत रूप हठयोगी तथा सिद्धों का। भोली भाली जनता को चमत्कारों द्वारा चक्कर में डालना सभी धर्म-प्रचारकों का काम रहा है। हठयोगी तथा सिद्ध लोग भी यही कहा करते थे

× नाम न जपा तो क्या हुआ, जो अंतर है हेत।
पतिवरता पति को भजै, मुख से नाम न लेति॥

योगवालों का प्रभाव

और कबीर ने भी यही किया, और जी खोलकर किया। इनकी उलटबाँसियाँ प्रसिद्ध ही हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि समुद्र में आग लग गई, नदियाँ जलकर कोयला होगईं और मछ-लियाँ वृक्षों पर चढ़ गईं, तू अब भी चेत जाः—

"समुदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई।
जागि कबीरा जागि, मछियाँ रूखों चढ़ि गईं॥"

यह तो हम पहिले कह ही चुके हैं कि बुद्धधर्म बुद्धिसम्मत मत था इसलिये उसमें इन बुद्धिहीन बेसर-पैर की बातों को आदर देने की आवश्यकता ही न थी।

इस भाँति हम यह देखते हैं कि बुद्धमत तथा कबीरमत में बाहरी साम्य तो है ही, कुछ तात्त्विक बातों में भी समानता पाई है—कबीर ने अपने मत तक लाने के लिये लोगों को दुःखवाद,

उपसंहार

दुःख हेतु, अनित्यता, क्षणभंगुरता आदि का वही मार्ग दिखलाया जिस पर होकर वे बुद्धमत की ओर जाया करते थे। हाँ कबीर का मार्ग बुद्ध से नितान्त भिन्न है, क्योंकि वह तो पौरा-णिक हिन्दू-धर्म का ही एक परिस्थितिजन्य रूप है। और उसमें आकर्षण आगया है सूफियों की मधुरता का तथा हठयोगियों की बेकार की हठ का। अस्तु, अपनी स्वतंत्र सत्ता न बना सकने के कारण उसको उतना भी स्थायित्व न मिला जितना बुद्धमत को मिल सका था।

---

*"परिवर्त्तन ही यदि उन्नति है, तो हम बढ़ते जाते हैं।"

(१) प्रस्तावना—भारत की परंपराप्रियता तथा रूढ़िवाद.
(२) सुधारवादी परिवर्त्तन तथा सनातनी विचार.
(३) व्यापक परिवर्त्तन या क्रान्ति.
(४) भय का आधार क्या है ?
(५) भारत किधर जारहा है ?
(६) गांधीवाद का प्रयत्न.
(७) उपसंहार.

उत्तर में हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ और दक्षिण में गहरा हिन्द-महासागर; पूर्व में बंगाल की कानन-कन्दराएँ तथा पश्चिम में समुद्र का खारा जल—भारत की यह प्राकृतिक सीमा विधाता का एक कठोर विधान था; जिसकी मनोहर परिस्थितियों में पलकर एक ओर तो ज्ञान के रत्न-महोदधि उपनिषदों का अद्-भुत विकास हुआ, दूसरी ओर रूढ़िवाद तथा परंपराप्रियता की सदोष जड़ जम गई। अन्य देशों तथा सभ्यताओं का स्वाभाविक संसर्ग संसार की नवीनतम क्रान्तियों, नये-नये प्रचारों तथा परि-

---

* "परिवर्त्तन ही यदि उन्नति है,
तो हम बढ़ते जाते हैं।
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे,
पूर्व-भाव ही भाते हैं।"
—मैथिली शरण गुप्त (पंचवटी)

वर्त्तनों से सर्वदा स्वच्छन्दतापूर्वक होता रहा है। संसार की दूसरी सभ्यताएँ उठीं, विकसित हुईं और क्षय को प्राप्त हुईं। परन्तु भारत का सुदृढ़ किला काल कराल कठोरता से करारी टक्करें लेता हुआ भी आज अभिमानी नवयुवक के समान उन्नत मस्तक खड़ा है। परन्तु यदि जलाशय में बाहरी अपवित्रता को न आने दिया जायगा, तो क्या भीतर जन्म लेने वाले जन्तुओं की उत्पत्ति भी रोकी जा सकती है? यह सत्य है कि प्रकृति ने, तथा इसीलिये हमारे महर्षियों ने, सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के ऐसे कट्टर नियम बनाये कि काल की गति बाहरी आक्रमणों से उन पर कोई प्रभाव न डाल सकी; परन्तु समय गतिशील है कोई भी वस्तु एक क्षण भी अपने पुराने रूप में नहीं रह सकती, इस नियम के अनुसार उन्नति के चरम विकास पर पहुँचकर हमारी संस्कृति में भी परिवर्त्तन हुआ जब आगे बढ़ने का मार्ग न था तो पीछे ही लौटना पड़ा—इसमें दोष उत्पन्न होते गये। परन्तु आज हमारे सनातनी (पुराने विचारों वाले) भाई उन दोषों को भी दूर करन को तैयार नहीं !!

प्रस्तावना—भारत की परंपराप्रियता तथा रूढ़िवाद

हमने देखा कि परिवर्त्तन के दो कारण तथा, इसीलिये, दो भेद हैं। पहिला परिवर्त्तन तो अपनी प्राचीन व्यवस्था की छाया में वर्त्तमान व्यवस्था को देखकर उसमें सुधार कर लेना है; और दूसरा है नवीन संस्कृति के संसर्ग से अपनी व्यवस्था की कमियों को समझकर उनमें आंशिक या पूर्ण परिवर्त्तन। विचार करने पर यह भी विदित होता है कि सुधारवादी परिवर्त्तन (प्रथम प्रकार-का) तभी सूझता है जब हमको आत्म-विश्लेषण का अवसर मिले

और आत्म-विश्लेषण (Self-analysis) उसी समय होता है जब हम दूसरे की महत्ता से चमत्कृत हो उठें—अर्थात् जब एक सभ्यता दूसरी सभ्यता की महत्ता का अवलोकन कर आत्म-विश्लेषण करती हुई अपने प्राचीन इतिहास को देखती है, तो उसमें कुछ नवीन उत्पन्न दोषों को त्याग कर प्राचीन अप्रचलित सिद्धान्तों को फिर से अपनाने की इच्छा जगती है। इतिहास साक्षी है कि मुसलमानी सभ्यता के संसर्ग से भी भारत ने एक सुधारवादी पक्ष सामने रखा था (यद्यपि इससे चिरपूर्व होने वाला बुद्धमत भी एक सुधार ही था) और अनेक सन्त तथा उनके सम्प्रदाय एवं प्रसिद्ध सिक्खमत का जन्म हुआ; फिर पश्चिमी सभ्यता आई और ईसाई मत तथा यूरोपीय प्रभाव से राजाराममोहन जैसे सुधारक उत्पन्न हुये; आगे चलकर 'आर्यसमाज' देव-समाज आदि का भी बोलबाला रहा; इन सबमें 'आर्यसमाज' का प्रयत्न अधिक स्थायी तथा व्यापक था। मूर्त्ति-पूजा, पर्दा, बाल-विवाह, जाति-पाँति, छुआछूत, तीर्थयात्रा आदि वेदविहित नहीं हैं—ये विकार हैं न कि विकास—इसलिये इनको त्याग देना चाहिए, केवल ऋषियों के बनाये हुए ग्रंथों को ही पढ़ना चाहिए। भारत ने इसको अपनाया, नये विचार वालों ने ईसाईमत के स्थान पर (As a substitute) तथा पुराने विचार वालों ने वेद के नाम पर—वेद ईश्वरकृत जो हैं। यह स्पष्ट है कि यह मत ऐसे लोगों को अधिक रुचा जो इसके अभाव में ईसाई हो गये होते।

सुधारवादी परिवर्त्तन तथा सनातनी विचार

परन्तु आर्यसमाज का उत्साह बहुत दिनों तक न चल सका। शीघ्र ही कार्यकर्त्ताओं ने अनुभव किया कि रोग का निदान

बाहरी लक्षणों पर ही हुआ, उसकी आन्तरिक परीक्षा किसी और ही चिकित्सा की ओर संकेत करती है। प्राचीन सभ्यता के पोषक आर्यसमाजी राजनीतिक क्षेत्र में आगये और 'भारतीयता का नारा केवल धर्म के क्षेत्र में ही न रहकर 'राजनीतिक' में भी आया। कांग्रेस के कुछ नेता लोग कट्टर आर्यसमाजी रह चुके थे। परन्तु समय के अनुसार कांग्रेस ने भी अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाया; भारतवासी मात्र अपनी प्राचीन संस्कृति को चाहने लगे वह संस्कृति अनार्ष से भिन्न आर्ष (ऋषियों द्वारा व्यवस्थित) न रहकर अपश्चिमी या अविदेशी (अंग्रेजों से पूर्व तक की) बन गई। फिर भी आदर्श पुराना ही चल रहा था; "रामराज्य" का धुँधला सा चित्र खींचकर सब लोग स्वतन्त्रता तथा सुख की कामना करने लगे। महात्मा गांधी भी धार्मिक व्यक्ति थे, उन्होंने वेदोत्तर सभ्यता के तीन मूल्यों (Values) सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य को अपनाया। हम देखते हैं कि उनके देखते ही देखते इन बातों का भी कोई अर्थ न रहा।

व्यापक परिवर्त्तन या क्रान्ति

मनुष्य कितना सनातनी है; समय उसको परिवर्त्तन सिखाता है, परन्तु वह 'परिवर्त्तन' शब्द से चौंकता है। इतिहास बतलाता है कि भारतीय सभ्यता ने भी रूप बदले और बदलती चली जा रही है। वेदयुग का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन आज कहीं देखने को मिलता है ? पुराना भवन आज नहीं रहा, उसके खंडहर रह गये हैं, परन्तु हम उन खंडहरों की रक्षा या पूजा भले ही करते रहें, उन पर जल चढ़ाकर भी उनको हरा-भरा नहीं कर सकते; हमको नवीन भवन का निर्माण करना होगा भले ही वह

इन खंडहरों के ऊपर हो। परन्तु ध्यान रखिये जो विशाल भवन काल-कीट के कर्त्तन से धूल में मिलकर आज कहानी मात्र रह गया है, उसके खंडहरों पर कितना भरोसा? जब सारा कानन उजड़ गया तब कुछ सड़े हुये ठूँठों से ही क्या आशा? जो विष-ज्वाला हमारे रक्त को पीगई वह हमारी अस्थियों को बचा देगी, इस बात को हम नहीं मानते। और यदि ग्राम में बच भी गया एक अंधा और एक कोढ़ी तो क्या उनसे फिर पुराने वैभव की आशा की जा सकती है?

हमारे सनातनी (Orthodox) भाई राजनीतिक क्षेत्र में तो सुधार चाह सकते हैं; परन्तु सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में उनको परिवर्त्तन रुचिकर नहीं—वे पूँजीवाद का नाशकर समाजवाद का प्रसार चाहते हैं, मोटे पेट वाले सेठों पर चोर-बाजारी के बदले खुले बाजार में कोड़े पड़ते देखकर उनको भी हर्ष होगा; परन्तु वे इन तीर्थों तथा मंदिरों के महन्तों के विलास में कोई कमी नहीं होने देना चाहते, वे नहीं चाहते कि अछूत हमारे बराबर बैठें, विधवाओं का उजड़ा घर फिर बसा दिया जावे, जाति का अस्वाभाविक बंधन तोड़ दिया जावे। परन्तु जैसा कि सभी मार्क्सवादी मानते हैं मंदिर, तीर्थ, पंडित, पुरोहित जाति तथा धर्म सभी तो पूँजीवादियों का है। 'चोरी मत करो' क्योंकि ऐसा करने से पूँजीपति की पूँजी छिन सकती है, 'शास्त्रों की आज्ञा मानो' क्योंकि ऐसा न करने से स्वतन्त्र चिन्तन विकसित होकर क्रान्ति करा सकता है, 'ईश्वर से डरो' क्योंकि

भय का आधार क्या है?

ऐसा न करने से पूँजीपति (Capitalist) की कुशलता चक्कर में पड़ सकती है। अतः यह निश्चय हुआ कि जो लोग सुधार चाहते भी हैं वे

व्यवस्था में परिवर्त्तन न कर उसके कुछ आविर्भूत अंगों में ही सुधार करेंगे—वे विषवेलि की जड़ को न काटकर उसके पत्तों को उजाड़ना चाहते हैं—वे पूँजीवाद को ज्यों का त्यों रखकर उससे उत्पन्न सामाजिक तथा धार्मिक दोनों को दूर कर देना चाहते हैं। और यदि उनको यह ज्ञान हो जावे कि पत्तों तथा डालियों को काटते-काटते भी माली एक दिन मूल तक पहुँच सकता है तो वे माली को डालियों का भी अभ्यास न होने देंगे। सुधारवादियों का भय स्वाभाविक है। आज वे संकुचित दृष्टिकोण से केवल राजनीतिक दोषों को ही देख पा रहे हैं, कल की संतान अधिक स्वतन्त्र विचार वाली होगी और सामाजिक व्यवस्था तथा धार्मिक विश्वासों को भी मूलतः नष्ट करने में उसको कोई संकोच न होगा—जिसकी कल्पना आज भयावह है वही कल के प्रत्यक्ष जीवन का सत्य होगा।

परन्तु समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, जो समय के साथ चला चलेगा वह भी बढ़ जायगा, जो बिछुड़ जावेगा वह पीछे रोता रह जावेगा। भारत में भी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन होने लगा है—उसका बीज जमने लगा और यह परिवर्त्तन जान बूझकर नहीं किया गया, प्रत्युत समय ने अपने बल से करा लिया है। जाति-पाँति का भेद आज उठ गया, अपने ग्राम में रहते हुये भले ही आप अपने को सनाढ्य ब्राह्मण घोषित करते रहें परन्तु संसार में आकर आपको उसी पंक्ति (Queue) में लगना होगा जिसमें भंगी, चमार; ईसाई और मुसलमान सभी लगे हैं; नहीं तो आप अकड़े हुये अलग पड़े रहिये कोई आपकी बात नहीं पूछता। तीर्थों का आज महत्व उठ गया, मार्ग में यातायात की कठिनाइयाँ आपको बाध्य करती हैं कि आप सप्तधाम का चक्कर

न काटें; यदि ऐसा करते भी हैं तो अपनी मूर्खता स्वरूप या तो बच्चों को बीमार कर लाते हैं, या जेब कटवा लाते हैं, या कपड़े खो आते हैं। आज मन्दिरों का कोई मूल्य नहीं; पुजारियों की दुश्चरित्रता, उपासकों की रसिकता तथा सेवकों का नशा हमको घृणा न सिखावे तो कम से कम सुधारवादी तो बना ही देता है। इतना ही नहीं मशीन के इस युग में हम जूते पहनकर खाना खाने लगे, हड्डियों से शुद्ध की गई चीनी के लिये लड़ गये, चरबी मिले हुये घी तथा अंडे से स्वादिष्ट बने बिस्कुट भी हमको प्रिय हैं; शराब औषधि के रूप में तो सभी पीते हैं और मछली का तेल पीने तथा लगाने में, आँतों की बीमारी के कारण मांस तथा अंडा खाने में किसी को भी संकोच नहीं। दहेज के बढ़जाने से हम पुत्रियों का अन्तर्जातीय संबंध कर सकते हैं, गरीब होने के कारण अपनी पत्नी से नौकरी करा सकते हैं। और तो और जितने धर्माधिकारी सेठ तथा पूँजीपति हैं सभी के कारखानों में क्रूम का चमड़ा (जो छोटी उम्र वाले बछड़ों को काटकर तैयार किया जाता है) प्रयोग में आता है और हम उसकी कोमलता तथा सुन्दरता की प्रशंसा करते हुये २२) रुपये में बड़ी शान से मोल ले आते हैं। हो सकता है कि साधारण आदमी इस बात को न जानता हो कि उसके सुख की सामग्री आज अनेकों मनुष्यों तथा पशुओं के गरम रक्त तथा कोमल मांस से बनी हैं, परन्तु अपने रुपये से मन्दिर तथा धर्मशाला बनवाकर धर्मरक्षक बनने वाले सेठों से यह बात छिपी नहीं कि उनके हलुआ तथा रबड़ी में गरीबों का गरम खून ही स्वाद दे रहा है।

भारत किधर जारहा है?

भविष्य के लिये भी सोचना होगा। आज राजनैतिक व्यवस्था के अनन्तर आर्थिक व्यवस्था सामने आगई और भूखों मरने वालों ने यह मान लिया कि भारत को यूरोप बनाये बिना काम नहीं चल सकता। फलत: कलों (मशीनों) का प्रयोग दिन-दिन बढ़ाया जा रहा है; परन्तु इससे सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा? खेती में मशीनों का प्रयोग बैलों को बेकार कर देगा, यातायात में बस (Bus), मोटर तथा बाइसिकलों का प्रयोग घोड़ों को बेकार कर देगा; दूध तथा घी शुद्ध न मिलने से ज्यों ज्यों हम वनस्पती घी‡ का व्यवहार करने लगेंगे त्यों त्यों गायों तथा भैंस का काटना अधर्म न रहेगा—परन्तु इन पशुओं का क्या होगा? गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट तथा हाथी कहाँ जावेंगे? निश्चय ही हम इनको खा डालेंगे और धीरे-धीरे इनका वंश नष्ट होता जावेगा। पक्षिजगत् की भी यही दशा होगी, जब बिजली के खिलौने तथा यन्त्रों के पक्षी हवा को अधिक सस्ते तथा सुन्दर मिल सकते हैं—जब कोकिल से मधुर ध्वनि हमको हारमोनियम दे सकता है, तोते से सुन्दर रंग हमको विज्ञान दे सकता है तो पक्षियों की क्या आवश्यकता है; हम केवल एक लाभ उठा सकते हैं कि उनको भूनकर खावें या उनके अंडों का कलेवा करें, और कोई तीसरा उपयोग आज दिखाई नहीं देता। आप सोचते होंगे मरे पशु तथा पक्षी, मानव तो सुखी रहेगा; परन्तु नहीं, आपने भूल की स्थिति को समझने में। जब मशीनों का प्रयोग होने लगा

---

‡ "भारत-भारती" में गुप्तजी ने लिखा था कि कलों से खेती हो सकती है, पर क्या वे दूध भी दे देंगी; आज यह तय हो गया कि मशीनें घी तो दे ही सकती हैं, शायद भविष्य में दूध भी दे सकें।

तो करोड़ो मजदूर बेकार होजावेंगे—एक ओर धनवानों के विलास की मात्रा बढ़ेगी, दूसरी ओर गरीबों की फाकेमस्ती चलेगी। भारत में एक बात और भी है, कुछ काम बुरे समझे जाते हैं और कोई भी उनको करना नहीं चाहता, उनके स्थान पर मशीनें आवेंगी! हाँ, तो एक ओर विलास, दूसरी ओर भुखमरी (Starvation)। मरता क्या न करता, फल होगा रक्तपात, रूस तथा फ्रांस की सी रक्तरंजित क्रान्तियाँ—और उन क्रान्तियों में तो विनाश के अधिक साधन न थे, आज तो देखते ही देखते संसार को स्वाहा किया जा सकता है। यह मत सोचिये कि अमरीका तथा रूस का आदर्श इस रक्तपात—प्रलय—को बचा लेगा। इन देशों का संतुलन (Balance) यदि चल भी रहा है तो भी उस समय तक जब तक कि संसार में एशिया, अफ्रीका जैसे अपार महाद्वीप विद्यमान हैं जिनके बल पर सभ्य देश काम चला रहे हैं—जब एशिया तथा अफ्रीका भी "सभ्य" होकर मशीन-मय हो जावेंगे तो कहाँ आपके माल की खपत होगी, कहाँ आप अपनी सेना भेजेंगे, कहाँ आपको सुखी माना जावेगा, कहाँ आपके देशवासी जीविका की खोज में जाकर अपनी धाक जमा सकेंगे, किस जगह आप अपना साम्राज्य फैलावेंगे? भारत का कलयुगी अभ्युत्थान सारे संसार का अभ्युदय होगा, उस समय घोर मशीन राज्य फैल जावेगा, भौतिकता का बोलबाला होगा, मनुष्य का कोई मूल्य न होगा; पैसा ही सारे संबंधों का मूल होगा, स्वार्थ का साम्राज्य होगा, सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य देखने को भी न मिलेंगे, मांस का भोजन, शराब का पान, मशीन की सवारी तथा कृत्रिम जीवन ही उस युग की पहिचान है; उस समय स्त्री केवल विलास का साधन, माता—पिता केवल जन्मदाता, मित्र केवल

काम चलाने के लिये तथा पति केवल पैसा ऐंठने के लिए माने जावेंगे। मनुष्य में आत्मिक तथा मानसिक शक्ति तो रहेगी ही नहीं शारीरिक शक्ति भी न रहेगी—वह देखेगा (चश्मा लगाकर) सुनेगा (Ear Drum से) तथा चाखेगा भी मशीन से, उनके फेफड़ों में बनावटी वायु होगी; उनकी धमनियों में बनावटी रक्त होगा; उसकी हड्डियाँ भी बाहर से लगाई हुई होंगी। माता-पिता का कोई भी अंश संतान में न रहा करेगा। संक्षेप में वह दुनिया आज के यूरुप से भी चार कदम आगे बढ़ी हुई होगी।

इस घोर अव्यवस्था को रोकने का प्रयत्न भी समय-समय पर होता आया है। यूरुप में भी इसको रोकने का काफी दिनों तक विचार रहा, और फिर एशिया में भी। चीन के विचारकों ने किसी सीमा तक इसको रोका भी। परन्तु योरुप में तो इसका रोकना संभव ही न हुआ, और चीन में इसका रुकना क्या फल लाया यह आज की स्थिति—चीन का गृह युद्ध (Civil War) दिखलाती है; यदि चीन में इस परिवर्त्तन को रोका न जाता तो चीन की दशा तुर्किस्तान जैसी हो जाती और गृह-युद्ध का अवसर ही न आता। भारत में महत्मा गांधी ने यह देखा कि पाश्चात्य

गांधीवाद का प्रयत्न

मशीनी सभ्यता आध्यात्मिक जीवन की घोर विरोधिनी है, इसलिये उनका प्रयत्न ग्रामीण जीवन, घरेलू उद्योग धंधे तथा आध्यात्मिकता की ओर रहा—वे खादी का प्रचार करते थे, त्याग तथा तप का जीवन बिताते थे, उन्होंने घरेलू धंधों को उन्नत बनाने, पशु पालने तथा ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया। संभव था एक बार फिर ग्रामों की ओर (Back to the villages) जाकर हम इस भावी अव्यवस्था को बचा सकते, परन्तु ऐसा संभव

न हो सका भारत ने एकस्वर में मशीनों का समर्थन किया, प्रत्येक ग्रामवासी बिजली तथा रेलगाड़ी का स्वप्न देख रहा है, प्रत्येक मजदूर कुल्हाड़ी तथा फाँवड़े के स्थान पर इंजिन की कामना कर रहा है; आज वनस्पती घी ग्रामों में भी जाकर बिक रहा है। नगरों की संख्या तथा जनसंख्या दिन दूनी तथा रात चौगुनी बढ़ती जा रही है; ग्रामों में रहना मानो आज कितना अर्थहीन है। बड़े नगरों में कोई किसी का नहीं, घरों को लूटा जाता है, लड़कियाँ भगाई जाती हैं, लड़कों को पकड़ लिया जाता है, सभी अपने-अपने काम में व्यस्त; स्वार्थ होने पर तलवे चाटने वाले, काम निकल जाने पर चश्मा लगाकर भी न पहिचानने वाले !! क्या यही मानव-जीवन है ? क्या यही महात्मा गांधी की जय है ?

आज हमारे देश में मतभेद इस बात का नहीं है कि हम नगरों को पश्चिमी सभ्यता के आधार पर बढ़ते चलें या भारतीय आदर्श पर ग्रामों का पुनरुद्धार करें— इसे सभी मानते हैं कि ग्रामों से हम समय के साथ न चल सकेंगे; इसीलिये शान्ति, आध्यात्मिकता, सुख तथा अहिंसा और सत्य का प्रचार करते हुये यूरुप तथा अमरीका में "वाह वाह" लूटने वाले भी भारत में मशीनों का दिनों दिन प्रयोग करा रहे हैं। समय के साथ चलने में हमको संकोच नहीं परन्तु यह सबको विदित हो जावे कि या तो सत्य, अहिंसा, तथा ब्रह्मचर्य ही रहेंगे या मशीन ही रहेगी; या तो ग्राम ही रहेंगे या शहर ही; या तो प्रेम तथा सहानुभूति ही रहेगी या स्वार्थ तथा चालबाजी ही; या तो भारतीय संस्कृति ही रहेगी या पश्चिमी सभ्यता ही; या तो आध्यात्मिकता ही रहेगी या भौतिकता ही; या तो भारत ही रहेगा

उपसंहार

या यूरोप ही—जाड़ा तथा गर्मी; त्याग तथा वासना; तप तथा काम; न्याय तथा अत्याचार एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। हम पूर्व तथा पश्चिम पर एक पुल नही बाँध सकतें; हम योगी तथा वेश्या का विवाह कर एक को भी सुखी नहीं बना सकते।

अस्तु, ठीक ही है कवि के परिवर्त्तन के विरुद्ध भयभीत पुकार; परन्तु यह निष्प्रयोजन है, हम प्रयत्न भी करें तो क्या सफलता मिल सकेगी? क्या हम संसार को मशीनों के विमुख कर मानवता की ओर ले जा सकते हैं? क्या आपके शास्त्रों में कहे हुये घोर कलियुग को आप टाल बता सकते हैं? क्या मनुष्य काल से भी बली है? नहीं, कदापि नहीं। हम कितना ही प्रयत्न करें संसार मशीनों को अपनावेगा और मशीनें भौतिकता मात्र का ही साधन हैं, फिर क्यों न संसार में अनाचार, अधर्म तथा नास्तिकता का प्रचार हो? संभव है कुछ महान् आत्माएँ विश्व की गति में परिवर्त्तन कर सकें परन्तु हम जैसे निराशावादी को कमर कसने में संकोच है। जो भी हो समय के साथ चलते रहना भी एक प्रकार का विकास है—इस परिवर्त्तन में कोई बुराई नहीं:—

"यदि बदल रहा है जग सारा,
मैं भी बदला क्या हरज हुआ?"

रहस्यवाद, छायावाद तथा प्रगतिवाद

(१) "वादों" का वर्त्तमान युग—साहित्य के क्षेत्र में
(२) रहस्यवाद तथा उसका अर्थ.
(३) प्राचीन कवियों में रहस्यवाद.
(४) नवीन कवियों में रहस्यवाद.
(५) छायावाद—एक नई उपज.
(६) वास्तविकता.
(७) कुछ विशेषताएँ.
(८) तीसरा पदन्यास—प्रगतिवाद.
(९) शाब्दिक तथा पारिभाषिक अर्थ.
(१०) प्रगतिवाद का भविष्य.
(११) उपसंहार.

संसार ज्यों ज्यों ज्ञान से विज्ञान की ओर चलता गया त्यों त्यों उसमें श्रद्धा का अभाव तथा तर्क की प्रचुरता आती गई; मनुष्य हृदय या भावना की अपेक्षा बुद्धि तथा चिंतन पर अधिक जोर देते गये। हमारा वर्त्तमान काल भी बुद्धिवाद का एक महत्वपूर्ण समय है। आज हम किसी भी बात को उस समय तक नहीं मानते जब तक उसको बौद्धिक कसौटी पर कसकर पूरा न पा लिया जावे। इतना ही नहीं, हममें तर्क तथा सन्देह की प्रवृत्ति

"वादों" का वर्त्तमान युग साहित्य के क्षेत्र में

इतनी प्रबल हो गई है कि किसी भी मत का विरोध कर अपना एक नया सिद्धान्त खड़ा कर दिया करते हैं; नये नये मत; नये नये समाज, नये नये सिद्धान्त तथा

नये नये "वाद"(Isms) इसी युग की उपज है। यह प्रवृत्ति राजनीति तथा समाजशास्त्र से साहित्य में भी आगई और गांधी-वाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि के समान रहस्यवाद, छाया-वाद तथा प्रगतिवाद आदि का नाम भी साहित्यिकों की जिह्वा पर नाचने लगा। विवादग्रस्त वादों के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी सम्मति दी है और उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस लेख में हम हिन्दी-साहित्य के तीन प्रसिद्ध वादों को देशकाल की परिस्थितियों से उद्भूत स्वाभाविक प्रवाहों के रूप में देखने का प्रयत्न करते हैं।

रहस्यवाद का नाम भले ही नया हो; परन्तु है यह हिन्दी-साहित्य की पुरानी चीज। हाँ, भक्तिकाल से पूर्व इसके दर्शन नहीं होते, क्योंकि वीरगाथाकाल ने कवियों को मनन का अवसर ही न दिया था। अस्तु, कबीर तथा जायसी हिन्दी के आदि रहस्य-वादी हैं। इनके सिद्धान्तों की वयाख्या करते हुये विद्वानों ने यह माना है कि रहस्यवाद अद्वैतवाद का भावात्मक या काव्यमय रूप है। बात यह है कि वैदिक ऋषि चिरकाल तक मनन करने के उपरान्त उपनिषद्-काल में इस सत्य पर पहुँचे थे कि संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भी दूसरा तथ्य नहीं है; वह ब्रह्म ही हमको, माया के कारण, भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है। "द्वैत" के अभाव की घोषणा करते हुये जब यह सिद्धान्त एक ओर ब्रह्म तथा जीव की एकता तथा दूसरी ओर ब्रह्म तथा जगत की एकता स्थापित करने लगा, तो इसका नाम "सर्ववाद" होगया—जिसकी ध्वनि "सर्व

रहस्यवाद तथा उसका अर्थ

खल्विदं ब्रह्म"* सूत्र में सुनाई पड़ती है। ज्ञानियों ने इस सत्य का प्रकाशन तर्क तथा दृष्टान्तों से किया था, परन्तु साधारण जनता का वहाँ तक पहुँचना संभव न था, यह काम "कान्ता-सम्मिति"* उपदेश देने वाले कवियों द्वारा पूरा हुआ।

परन्तु सर्ववाद का यह भारतीय रूप, भले ही आज के समालोचक तुलसी तथा सूर में भी रहस्यवाद खोजते फिरें हिन्दी-साहित्य में नहीं मिलता। यहाँ तो उस अद्वैतवाद का फारसी (फारस में प्रचलित) रूप ही अधिक दिखलाई पड़ता है। अस्तु, कुछ परिवर्त्तन रूप में भी, वातावरण के कारण, होगया। सूफियों का रहस्यवाद, कबीर का रहस्यवाद तथा पीछे के प्रेमी कवियों का रहस्यवाद, मूलत; एक भी भले ही रहा हो, वाह्यरूप में भिन्न भिन्न ही कहा जावेगा।

सूफी कवियों का रहस्यवाद हमको उनके प्रतिनिधि कवि जायसी में मिलता है, जिसका प्रकाश उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "पद्मावत' में है। पद्मावती ब्रह्म है, तथा रत्नसेन जीवात्मा; सुआ-गुरु के उपदेश से उस परम सुन्दर ब्रह्म (पद्मावती) का वर्णन सुन वह जीवात्मा (रत्नसेन) विरक्त हो, राज-घाट घर-परिवार स्वजन-परिजन सबको छोड़ उसकी प्राप्ति के लिये चल पड़ता है, और अनेक कष्ट तथा परीक्षाओं के अनन्तर उसको प्राप्त कर लेता है;

प्राचीन कवियों में रहस्यवाद

पीछे शैतान (राघव) माया (अलाउद्दीन) के द्वारा उस जीवात्मा (रत्नसेन) से उस ब्रह्म (पद्मावती) को अलग करने का प्रयत्न भी करता है; संघर्ष (युद्ध)

---

*यह सब (दृश्यमान जगत भी) ब्रह्म ही है।

*प्रिया के समान मधुर मोहक वाणी से, उपदेश (Curtain lectures).

चलता है और हम इस विचार में पड़ जाते हैं कि जीवात्मा (राजा) तथा ब्रह्म (रानी) की फिर एकता (मिलन) हो

सूफी कवि जायसी

पावेगी भी या नहीं; परन्तु अंत में दोनों इस प्रकार (शरीरों को नष्टकर) मिल जाते हैं की फिर बिछुड़ने का प्रश्न ही नहीं आ सकता। ब्रह्म तथा जीव को दाम्पत्य (पति-प्रेम में होनेवाले) प्रेम में बद्ध दिखला कर उनका स्थायी मिलन कराना सूफियों की एक भावुकता रही है, जिसने काव्य का बड़ा उपकार किया, इसमें संदेह नहीं। नारी की रमणीयता ब्रह्म में आकर्षण का विषय बनाकर उसका लोकोत्तर वर्णन कवि ने किया है, संसार में जो कुछ सुन्दर है, जो कुछ प्रकाशपूर्ण, जो कुछ रागयुक्त है, वह सब उसी पद्मावती (ब्रह्म) की छाया है; उसकी प्राप्त करने के लिये ऐसा वैराग्य होना चाहिए जिससे अपने शरीर तक को हँसते-हँसते निछावर कर दिया जाय; उससे प्रेम करके फिर किसी दूसरी (लक्ष्मी तक) का सौन्दर्य आँखों को नहीं भाता। संक्षेप में इस्लामी मत में खुदा तथा बंदे (जीव) को एक न मान सकने के कारण सूफियों ने उस एकता को प्रेमी (आशिक) तथा प्रेयसी (माशूक) के मिलन के रूप में लिया है; जायसी ने समग्र संसार को ही उस पद्मावती (ब्रह्म) के रूप से रूपवान् मानकर ब्रह्म तथा दृश्य जगत् की एकता का भी प्रतिपादन किया है।

कबीर रहस्यवाद कुछ बातों में भिन्न था। वे सूफियों से उनकी मनोरम शैली को अपनाते हैं, उनके सिद्धान्तों को नहीं। कबीर के अधिकतर दृष्टान्त भारतीय वेदों से लिये गये हैं; और उनका वैराग्य× प्रेम के कारण नहीं प्रस्तुत प्रेम वैराग्य के कारण है।

× दे० इसी संग्रह में हमारा लेख "कबीर और बौद्धमत"

संसार के खोखलेपन को अपने चर्म-चक्षुओं से देखकर कबीर के मन में जो "दरार"+ पड़ जाती है वह कभी जुड़ती नहीं, और वे पर्वत-पर्वत÷ किसी तथ्य को खोजते फिरते हैं। जब गुरु की दया से उनको उस "अनूप"❀ की प्राप्ति हो जाती है तो वे सर्वत्र उसी की लाली£ को देखने लगते हैं। यहीं प्रेम का प्रारंभ होता है। एक बार प्रिय को पहिचान कर फिर उससे मिलने को व्याकुल रहना कबीर के पतिव्रत की विशेषता है:—

कबीर का रहस्यवाद

"बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको यह सन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे।
अन्न न भावे, नींद न आवे, गृह बन धरे न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी, ज्यों प्यासे को नीर रे॥"

यहाँ संबंध प्रेमी (आशिक) तथा प्रेयसी (माशूक) का न होकर पति तथा पत्नी का है; ब्रह्म माशूक नहीं पति है, और जीव

+ मेरे मन में पड़ गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक पखांण ज्यूं, मिला न दूजी बार॥

÷ पर्वत-पर्वत मैं फिरा, नयन गँवाये रोय।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जाथैं जीवन होय॥

❀ मिल गया तत्त्व अनूप।

£ लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी होगई लाल॥

आशिक नहीं पत्नी है—यह भारतीय पद्धति है जिसको आगे भी अपनाया गया।

यहाँ पर गोस्वामी तुलसीदास के प्रसिद्ध दोहे:—

"कामिनि नारि पियार जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
त्यों रघुवंश निरंतरहि, प्रिय लागहिं मोहि राम॥" ×

में रहस्यवाद देखना हमको नहीं रुचता, परन्तु रीतिकाल के प्रेमी कवियों ने जब अपना प्रेम सीमित (संसार का कोई प्राणी) से असीम (ब्रह्म, जिसकी कि छाया उस प्रेमपात्र प्राणी में है) की ओर मोड़कर भगवत्प्रेम में तल्लीन रहना सीख लिया तो वे रहस्यवाद के बहुत कुछ समीप आजाते हैं। अंतर अवश्य है जिसका

प्रेमी कवियों का रहस्यवाद

प्रधान आधार है अवतारवाद। कबीर तथा जायसी निराकार के प्रेम का प्याला पीकर मतवाले बन गये थे, परन्तु मीरा, ताज, घनानंद रसखान तथा दूसरे प्रेमी कवि कृष्ण की मनोमोहनी मूर्त्ति के ऊपर अपने को निछावर कर देते हैं। यद्यपि एक स्थान पर प्रेम का विषय अमूर्त्त (Abstract) है तथा दूसरे स्थान पर मूर्त्त (Concrete). परन्तु वही पति-पत्नी भाव की प्रेम-पद्धति मिलती है जिसका संसार से, पहिले कोई संबंध रहा हो तो रहा भी हो, अब नहीं दिखलाई पड़ता। मीरा की उपासना तो 'माधुर्य भाव' की प्रसिद्ध ही है; ताज भी उसी "नन्द के कुमार" की छबि पर कुरबान हो चुकी

×जिस प्रकार कामी को स्त्री प्रिय होती है, या जिस प्रकार लोभी को धन प्रिय होता है, उसी प्रकार मुझको भगवान् रामचन्द्र सदा प्रिय लगें।

मीं*; और जब मीरा के पदों में—

"आऊँ आऊँ कह गया साँवरा, कर गया कौल अनेक।
गिनते-गिनते घिस गई अँगुली, घिसी अँगुरि की रेख॥"

जैसी विरह तथा प्रतीक्षा की पंक्तियाँ मिलती हैं; और घनानन्द के चरणों में जब हम—

"जगत् के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन-
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।"

"जगत् के प्रान" का वियोग पाते हैं तो उनको भी शृंगारी न रहकर रहस्यवादी कहने को मन चाहता है।

यहाँ नवीन कवियों पर विचार भी स्वाभाविक है। खड़ीबोली में रहस्यवाद तथा छायावाद इतने आपस में घुल-मिल गये हैं कि अन्तर जानना एक टेढ़ी खीर है। प्रसादजी की ये पंक्तियाँ:—

नवीन कवियों में रहस्यवाद

"शून्य गगन में देखना,
जैसे चन्द्र निराश।
राका में रमणीय यह,
किसका मधुर प्रकाश।

× × ×

रसनिधि में जीवन रहा, मिटी न इस की प्यास।
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस॥"÷

---

* नन्द के कुमार क़ुरबान ताँड़ी सूरति पै,
ताँड़ैं नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं।

÷ स्कन्दगुप्त।

रहस्यवाद की ही मानी जावेंगी; इनमें ऊपर तो एक ब्रह्म की सत्ता का ही विश्व में सौन्दर्य प्रतिपादित किया गया है (जिस प्रकार चन्द्र यह सोचता है कि विश्व की फैली हुई चाँदनी न जाने किसकी है, उसी प्रकार जीव यह सोचता है कि विश्व में विस्तृत विभूति किसी दूसरे की है— यह अज्ञान है, अपनी सत्ता के ज्ञान को भूलना है); आगे चलकर भी ब्रह्ममय संसार में रहकर भी ब्रह्म के लिये व्याकुल रहने की विडम्बना का दर्शन है। इस गीत को हम शुद्ध—सूफी प्रभाव से हीन—रहस्यवाद का उदाहरण मान सकते हैं। इसी प्रकार उनका यह गीत भी:—

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप॥

जल-थल, मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं, पागल-प्रेम-विभोर॥

(स्कन्दगुप्त)

समझना चाहिए। श्रीमती महादेवी वर्मा का कुछ साहित्य तो छायावाद की प्रकार का माना गया है, परन्तु यह सबको मानना पड़ेगा कि उनमें उच्चकोटि का रहस्यवाद भी मिलता है:—

(१) मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश।
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित्-विलास।

(२) तुम अनन्त जलराशि, उर्म्मि मैं चंचल सी अवदात।
अनिल-निपीडित जा गिरती जो कूलों पर अज्ञात॥

(३) चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार।
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार॥ (यामा).

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल* ने महादेवी जी को उच्चकोटि का रहस्यवादी माना है; वस्तुतः वर्त्तमान युग में बुद्धि एवं भावुकता का इतना सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है; बंगभाषा में जो स्थान स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्राप्त है, हिन्दी में उसी पद की अधिकारिणी श्रीमती महादेवी जी हैं।

श्री० निराला× जी तथा पंतजी+ की रचनाओं को उदाहरण लेकर भी यह दिखलाया जा सकता है कि वर्त्तमान युग के कई कलाकार मनन के द्वारा ब्रह्म तथा जीव की एकता के जिस सिद्धान्त पर पहुँचे, उसको सर्वसाधारण के लिये काव्यमय रूप देकर उन्होंने सूफियों से भिन्न, परन्तु उच्चतम, रहस्यवाद को जन्म दिया। इनकी ऐसी रचनाओं को व्यक्तिगत समस्या कहकर नहीं टाला जा सकता, प्रत्युत सूफियों की सी मादकता न होने पर भी उच्चकोटि की भावुकता, इनके मानस के उच्च स्तर का एक अनुकरणीय चित्र उपस्थित करती है।

'छायावाद' वर्त्तमान युग की एक नई सृष्टि है; इसलिये विद्वानों ने, उचित ही, इसकी व्याख्या वर्त्तमान युग की नवीन परिस्थितियों की छाया में करना ठीक समझा; परन्तु वे इस बात को भूल गये कि कोई भी वस्तु न तो एकदम बाहर से ही आया करती है और न उसका कारण राजनैतिक ही हुआ करता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद के विषय में जो यह 'भ्रान्त' धारणा बनाई कि यह काव्य प्रणाली पश्चिम से बंगाल तथा बंगाल से हिन्दी में आई, उसमें आज अधिक सत्य नहीं माना जाता; किसी भाषा का

---

* दे० हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७१६.

× श्री० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"।

+ श्री० सुमित्रानन्दन पंत।

उसकी समवयस्क या उससे भी प्रौढ़ भाषा पर इतना प्रभाव पड़ सकता है कि एकदम बाढ़ सी आजावे, यह मानने को आज हम तैयार नहीं हैं। अस्तु डा० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल के "भ्रम"—

छायावाद—
एक नई उपज

विदेश के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद को शैली का एक प्रकार मात्र मानना—का निवारण करते हुये जो लिखा है कि÷ "प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिये अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा (?) है वहाँ काव्य टेकनीक मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है ?", उससे सभी विद्वान सहमत होंगे, ऐसी आशा है। परन्तु उक्त डाक्टर साहब का मत "राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य कि अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थी, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिये छाया चित्रों की सृष्टि कर रही थी।...आशा के इन स्वप्नों तथा निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।" शायद सबको मान्य न हो सके। इस में संदेह नहीं की जितना सत्य शुक्लजी के "भ्रम" में था उतना डाक्टर साहब के ज्ञान में भी है ही; परन्तु हम 'छायावाद' को एक भिन्न उपज के रूप में देखना चाहते हैं (पाठक हमारी धृष्टता को क्षमा करें)

इसे तो शायद सौभाग्य ही कहा जावेगा कि जो हिन्दी आज

÷ डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट० : "छायावाद की परिभाषा"।

स्वतन्त्र भारत की राजभाषा है उसका जन्म भी विदेशी आक्रमण-कारियों से समरभूमि में तलवार खटकाते हुये ही हुआ था; और फिर एक आशामय आत्म-विश्लेषण का अवसर आया जिसको भक्तिकाल कहते हैं; परन्तु यह चरम-विकास था इसके बाद पतन की करुण-कथा है रीतिकाल में जनता का एक भाग पूर्ण सम्पन्न था और उनके आश्रय में रहने वाले "कवि" भी सुखी थे; इसलिये शृंगार तथा प्रेम के विलासमय चित्र साहित्य में खींचे जाने लगे। किन्तु प्रेम की यह वासना मय प्यास केवल सम्पन्नता में ही नहीं विपन्नता में भी उतनी ही तीव्र रहती है×, इसलिये वर्त्तमान युग की विपन्नता भी शृंगार में ही सहायक हुई। आज का रहस्यवादी

वास्तविकता

कवि हृदय में अनेक आशाओं को लेकर जब जीवन में प्रवेश करना चाहता है तो उस को परिस्थितियों— आर्थिक कठिनाइयों—कुचलने का प्रयत्न करती है; उस चढ़ते हुये नशे में शायद वह यदि संपन्न होता तो रोमान्स का अधिक सुधार हुआ रूप अपनाकर ध्रुव की खोज करता, हिमालय की चोटियों पर चढ़ता नये आविष्कार करता या नवीन आंदोलन करता, परन्तु उसका टूटा हुआ हृदय इन सब मार्गों पर अर्थाभाव का ताला लगा देता है। अस्तु :—

"यह चिन्ता घेरे रहती है, कैसे बीतेगा जीवन।
नहीं हाथ में शेष रहा अब, निकल गया जो कुछ था धन।

× "This passion love hath its floods in the very times of weakness, which are great prsosperity and great adversity"—Bacon "on love".

टके-टके को मुँह तकते हैं, फिरते मारे-मारे हैं।
मेरी किस्मत है चक्कर में बिगड़े भाग्य सितारे हैं ॥"
(नूरजहाँ)

की करवट में वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को किसी प्रेयसी के के प्रेम में भुला देना चाहता है :—

"दरिया दिल हो जा वसंत है, आज लुटा रे मधुशाला।
देती जा अपने हाथों से, ढालूँ प्याले पर प्याला ॥"
(नूरजहाँ)

यही छायावाद का जन्म है, जिसका संबंध न तो आत्मा-परमात्मा से है, न प्रतीकवाद या अभिव्यंजनावाद से, और न राजनीतिक उथल-पुथल से ही। छायावादी किसी की स्निग्ध शीतल छाया में (अन्य सभी व्यक्तियों की भाँति) बैठ चुका होता है, परन्तु दूसरे लोग भूल जाते हैं छाया-वादी अपने दिनों के फेर× में उस सुख की याद करता है जो उसको मिल न पाया, परंतु जो आज मिल जावे तो भी उसके अव्यवस्थित जीवन को सुखी न कर सकेगा। सिनेमा घरों से बाहर निकलते हुये :—

"देखी जग की प्रीति, मीत सब झूठे पड़ि गये"
या "तुम्हें प्यार करने को जी चाहता है"
या "मोरे बालापन के साथी छैला भूल जइयो ना"

गा-गाकर झूमने वाले सभी नवयुवकों में पूर्व प्रेम अर्थाभाव के कारण अभिव्यक्ति चाहा करता है, यदि इनको प्रतिभा भी मिली

× कभी-कभी इस कुटिया की भी आकर कर लेना फेरी।
देख समय का फेर न लाना मन में निठुराई मेरी॥ —नूरजहाँ।

होती तो सभी उच्चकोटि के छायावादी कवि होते। इन लोगों को यदि सुखी करने के लिये, आप उस "वालापन के साथी" से मिला भी दें, तो भी वे सुखी न हो पावेंगे —उनका यह+ भ्रम है। जो वे यह सोचते हैं कि उसके साथ होने मात्र से ही उनका जीवन सुखी हो सकता था। यहाँ तक तो कवि तथा किसी अन्य साधारण व्यक्ति की मानसिक दशा एक ही आधार पर चलती रहती है, परन्तु आगे ध्यान देने योग्य परिवर्त्तन होता है। धीरे-धीरे प्रिय से अलग होकर, प्रिय से नहीं प्रस्तुत उसकी स्मृति से प्रेम करने वाला व्यक्ति; प्रिय के 'उस' रूप का ध्यान करने लगता है—आज न तो प्रिय वह रहा÷ और न हम उसके वर्त्तमान रूप से प्रेम कर सकते हैं; आज जीवन की विषमताओं ने उसके मानस के कोमल अंश को ठोक—ठोक कर कठोर बना दिया होगा*। इस भाँति हमारा प्रिय एक ज्ञात से अज्ञात तथा व्यक्त से अव्यक्त रूप धारण करने लगता है; हमारे मानस में जो वासना होती है वह भी शनैः-शनैः क्षीण होती हुई कुतूहल में बदल जाती है। छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद के बीच की चीज है उसमें दोनों के लक्षण तथा कारण मिलते हैं; रहस्यवाद का वासना रहित प्रेम एवं प्रिय का सामान्य (General) व्यापक रूप छायावाद में ग्रहण कर लिया

\+ छलना थी फिर भी मेरा, उसमें विश्वास घना था।
उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं बना था॥ —आँसू।

÷ I loved a being. The being whom I loved is not what she was; consquently as love pertains to mind not to body, she exist no longer.

—Aerial.

* 'अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी'—पलाशवन।

गया, तथा छायावाद का कारण आर्थिक विषमता के आगे चलकर प्रगतिवाद की काव्यधारा में अस्फुटिक हुआ — जो लोग केवल भावुक बनकर ही जीवन के दृष्टा× मात्र न बनना चाहते थे उनको प्रगतिवादी आंदोलन का अवसर मिला, जहाँ भावुकता का निरीह अभाव था।

इस भाँति छायावादी कविता के सामान्य लक्षण बन गये हैं, जिनके विषय में विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है। डा० नगेन्द्र जी ने अपने पूर्वोक्त निबंध "छायावाद की परिभाषा" में इन लक्षणों की बड़ी सुन्दर विवेचना की है। वे प्रधानतः ५ हैं÷:—

(१) व्यक्तिवाद— कवि संसार से विमुख तथा निराश होता हुआ अपने दृष्टिकोण को सीमित बना लेता है; वह एक ओर तो अपनी समस्याओं (प्रेम, विरह आदि) के ही गीत लिखता है:—

"निशा की धो देता राकेश, चाँदनी से जब अलकें खोल।
कली से कहता था मधुमास, बता दो मधु मदिरा का मोल॥
झटक जाता था पागल वात, धूलि में तुहिन कणों के हार।
सिखाने जीवन का संगीत, तभी तुम आये थे इस पार॥"
(महादेवी वर्मा : नीहार).

दूसरी ओर सारे संसार (प्रकृति पर भी) पर अपने उस सीमित

× I have been but an observer upon life, madam, while others were enjoying it — (She stoops to conquer).

÷ तीन लक्षण डाक्टर साहब के बतलाये हुये हैं शेष दो हमारे अपने हैं।

दृष्टि कोण का ही रंग चढ़ा देता है—सारी प्रकृति ही उसके उसी प्रेम रंग में डूबी हुई जान पड़ती है, रूपकों द्वारा वही वर्णन उसको अभीष्ट होता है+ ।

(२) शृंगारिकता—छायावाद के विकास में शृंगार का कितना हाथ रहता है यह हम ऊपर बतला चुके हैं । शृंगार के दो रूप हैं । एक तो सारी प्रकृति को नारी या प्रेयसी के रूप में देखना, अथवा प्रकृति में प्रेम की सारी क्रीड़ाओं का दिखलाई पड़ना :—

कुछ विशेषताएँ

" शशि को छूने मचली सी, लहरों का कर-कर चुंबन ।
बेसुध तम की छाया का तटिनी करती आलिंगन ॥
(नीहार)

प्राची के मृदुल कपोलों पर तव अधरों की लाली ।
मेरे ईर्ष्यालु दृगों में, छवि भर न सकी मतवाली ॥
(अतीत)

दूसरा रूप है नारी-सौन्दर्य का अमांसल चित्रण—वस्तुतः नारी में प्रकृति तथा प्रकृति में नारी को देखना ही छायावादियों की शृंगारमयी अभिव्यक्ति है । यह हर्ष की बात है कि इन कवियों में वासना का बहुत ही कम अंश दिखलाई पड़ता है ।

+ जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी —
निश्चल प्रेम- कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे ।
ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे—धीरे । (लहर).

(३) प्रकृति में चेतनता—एकाकी या निराश जीवन में प्रकृति बड़ी सहायक होती है। हमारे छायावादी कवियों ने दुखी जीवन को प्रकृति की गोद में विताकर उसको बड़ा महत्त्व दे दिया है; दूसरी ओर सारी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी प्रकृति की सहायता से ही होता है। वस्तुतः जहाँ मानव-जगत् की आवश्यकता नहीं, वहाँ वनस्पति-जगत् का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है।

(४) करुणा या वेदना—शृंगार की प्रधानता होते हुये भी छायावादी कविता में वेदना कूट-कूट कर भरी है; यदि इस वेदना में किसी व्यक्ति (प्रकृति नहीं) के प्रति विलास की वासना होती तो इस काव्य में वियोग शृंगार माना जाता, परन्तु क्योंकि प्रिय अव्यक्त है इसलिये सामान्य करुणा का ही प्रवाह मानना चाहिए।

(५) आलंकारिक शैली—छायावाद की शैली को हम भुला नहीं सकते। प्रकृति पर नारी का आरोप करने से कहीं रूपक, कहीं समासोक्ति तो सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं; साथ ही श्लेष की छटा भी मिल जाती है; अभिधा को अपेक्षा व्यंजना का अधिक महत्त्व है; शब्द प्रतीक बनकर अधिक उपकारी प्रतीत होते हैं:—

"शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये॥" (आँसू)

"संकोच-भरे सौरभ ने, कैसे अनुराग छिपाया ?
अपनी भुज-वल्लरियों में, क्यों पिक को जकड़ न पाया ?"
(अतीत)

अंत में बातें दो बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम तो

यह कि ऊपर लिखी हुई पाँचों बातें अलग-अलग नहीं मिल सकतीं प्रत्येक कविता में व्यक्तिवाद भी होगा, शृंगार भी होगा, प्रकृति में चेतनता का आरोप भी होगा, वेदना भी होगी और आलंकारिकता भी होगी—वास्तव में ये लक्षण भिन्न दृष्टिकोण के कारण ही भिन्न हैं वस्तुतः नहीं। दूसरी बात यह है कि इन कविताओं के बीच यत्र-तत्र सामान्य प्रेम की कविताएँ भी मिल जाती हैं (जिनका× विकास आगे चलकर नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों में हुआ); स्वयं प्रसादजी के 'आँसू' तथा 'लहर' और 'झरना' में प्रेमभरी कविताओं के उदाहरणों की कमी नहीं, इनको हम छायावाद की कोटि में नहीं रख सकते:—

"सूने नभ में आग लगाकर,
यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर,
जीवन सन्ध्या को नहलाकर,
रिक्त जलधि भरने वाले को।

अरे! कहीं देखा है तुमने,
मुझे प्यार करने वाले को?" (लहर)

छायावाद के दो प्रधान अंगों का वर्णन करते हुये हमने प्रेम तथा अर्थाभय का उल्लेख किया है। आगे चलकर ये दोनों अलग हो गये और इन्होंने अपने ऊपर से कला का मनोरम

× आज से हम-तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे।
दूर होंगे पर सदा को ज्यों नदी के दो किनारे।
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे?
(नरेन्द्र शर्मा : प्रवासी के गीत).

आवरण भी उतार कर फेंक दिया। प्रथम ने आजकल की असफल प्रेमभरी कविताओं को जन्म दिया; और द्वितीय ने प्रगतिवाद को। कवि बनने की इच्छा करनेवाला नवयुवक इन्हीं दोनों में से एक मार्ग में अपने हाथ दिखलाता है। प्रायः प्रथम मार्ग को अपनाकर ही फिर दूसरे मार्ग पर आना आजकल की रम्यता सी बन गई है; शायद इसलिये कि प्रथम मार्ग व्यक्तित्व की प्रधानता तथा सीमित दृष्टिकोण होने के कारण साधारण जनता उसका स्वागत कम करती है; इसलिये "मधुबाला" "मधुशाला," "निशा-निमंत्रण" आदि लिख चुकने वाला कवि× "बंगाल का अकाल" लिखने को बाध्य होता है। मानो उसका अब तक का शृंगार तथा प्रेम उसकी एक भूल थी। प्रगतिवादी समय के साथ-साथ अपने को बदलता हुआ यह मानता है कि अब तक पूँजीपतियों का समाज, साहित्य और कला थी अब समय बदल रहा है सत्ता श्रमजीवियों के हाथ में आ रही है इसलिये कला भी इन्हीं का गुणगान करेगी; जब समाज का तीन चौथाई से अधिक भाग पीड़ा और हाहाकर में पड़ा हुआ सड़ रहा है तो आपका विलास जीवन का चिन्ह नहीं; किसान तथा मजदूर समाज के वरेण्य नेता हैं उनका यशोगान साहित्य का उद्देश्य होना चाहिए; जब तक समाज में विषमता रहेगी, तब तक रोटी का प्रश्न हल नहीं हो सकता और न क्रन्दन तथा विलाप की मात्रा ही कम होगी। इस भाँति प्रगतिवाद समाज के कुत्सित अंग को दिखाकर उसमें परिवर्त्तन की आशा करता हुआ यथार्थवाद की भी घोषणा करता है।

तीसरा पदन्यास— प्रगतिवाद

× प्रसिद्ध कवि "बच्चन"।

'प्रगति' का शाब्दिक अर्थ है "विकास" या "उन्नति" इसलिये 'प्रगतिवाद' ऐसे सम्प्रदाय का द्योतक हुआ जो साहित्य में नवीन विकास का पक्षपाती है। परन्तु आजकल "प्रगतिवाद" एक विशेप पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। जो साहित्य सत्ताधारियों, पूँजीपतियों, धार्मिकों, देवताओं, आदर्शों आदि के स्थान पर मजदूरों, किसानों, अछूतों ग्रामीणों, अनाथों विधवाओं तथा भूखे-नंगों का वास्तविक या यथार्थ चित्रण करता है; वही प्रगतिवादी साहित्य है। यों तो साहित्य का जीवन से निकटतम संबंध होने के कारण इसमें नित्य ही प्रगति (Progress) होती रहती है—वीरगाथाकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल का साहित्य आज के साहित्य से नितान्त भिन्न तथा पुराना था-- परन्तु प्रगतिवादियों ने पूँजीवाद से श्रमजीवियों की ओर मुड़ना ही साहित्यिक प्रगति का चिन्ह माना है। संक्षेप में प्रगतिवादी साहित्य (अथवा हिन्दी प्रगतिवादी साहित्य की निम्नलिखित विशेपताएँ हैं:—

शाब्दिक तथा पारिभाषिक अर्थ

(१) समाज के कुत्सित तथा वर्जित अंग का चित्रण— जो श्रमजीवी (मजदूर) किसान तथा भूखे-नंगे समाज के प्राण हैं इनका वर्णन ही काव्य का विपय होना चाहिए। पूँजीपति, सत्ताधारी, नेता तथा दूसरे 'बड़े आदमी' या 'महापुरुषों' का यशोगान वर्जनीय है। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" का "भिक्षुक" तथा श्री० भगवतीचरण वर्मा की "भैंसागाड़ी" इसके दो दर्शनीय उदाहरण हैं:—

(१) "पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने की, भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ॥"
(भिक्षुक)

(२) वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे,
मानो वे मोरी के कीड़े ।
वे निपट घिनौने महापतित,
बौने, कुरूप, टेढ़े-मेढ़े ।
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा,
आहों हाहाकारों से ।
फाकों से लड़-लड़कर प्रतिदिन,
घुट-घुटकर अत्याचारों से ॥ (वमा)

एक ओर पूँजीपतियों का वैभव-विलास तथा दूसरी ओर श्रमजीवियों का दाने-दाने को तड़पना, जूठी पत्तल चाटने को लड़ना, रोगों में चिकित्साहीन मरजाना, गंदे और नीचे घरों में रहने से अल्पायु होना, शिक्षा का न होना, वस्त्रों का अभाव आदि सारी बातें समाज की आर्थिक विषमता को बतलाती हैं ।

(२) **यथार्थवाद**— इसलिये प्रगतिवादी आदर्श तथा आशामय चित्रण में विश्वास नहीं करता । जो आदर्श चित्र विलासी कवि सामने रखते हैं, इससे समाज की वास्तविक दशा सामने नहीं आती और न क्रान्ति के लिये भूमि ही तैयार हो पाती है । यथार्थ चित्रण द्वारा परिवर्त्तन तथा क्रान्ति के (Revolution) के लिये पाठकों को तयार करना, प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है । वह ऐसे राज्य की घोषणा करना चाहता

है जिसमें न आर्थिक विषमता (पूँजीपति तथा श्रमजीवी) हो, न सामाजिक विषमता (उच्च तथा अछूत), और न सत्तात्मक विषमता (नेता तथा अनुगामी) ही हो।

(३) कुत्सित भावनाएँ—वह भावनाओं पर किसी प्रकार का आवरण नहीं डालना चाहता। मनुष्य भी स्वभावतः पशु है। इसलिये उसकी पाशविक प्रवृत्तियों (Animal Natur) का चित्र खींचना प्रगति का चिह्न है। वह आहार तथा मैथुन की स्वाभाविक प्रवृत्ति नग्न नृत्य दिखाना, अपना पुरुषार्थ मानता है। यशपालजी के उपन्यास पिछली प्रवृत्ति के प्रोत्साहन में बड़े सहायक हुये हैं।

(४) कला का आवरण— जिस साहित्य की रचना विलास के लिये होती थी उसमें कला का ही महत्व था, क्योंकि कला सम्पन्न जीवन को सुखी बनाने का साधन है; परन्तु जिस साहित्य की रचना विपन्न जीवन का खोखला चित्र खींचने के लिये हो उसमें कला का कोई स्थान नहीं; यदि कला है भी तो स्वयं प्रगतिवाद ही एक कला है। प्रगतिवादी उपयोगितावाद के सिद्धान्त को मानता हुआ केवल उस कला को ही मान्य समझता है जो यथार्थ जीवन में दिखलाई पड़ती हो, इसके अतिरिक्त किसी अनावश्यक कला को वह काव्य का भूषण नहीं प्रत्युत दूषण मानता है; सच्ची तथा अनुभव की बात कहने के लिये अलंकारों के बंधन अस्वाभाविक हैं।

(५) भौतिकता—प्रगतिवाद का जन्म साहित्य में रहस्यवाद के विरोध स्वरूप हुआ था इसलिये प्रगतिवादी आध्यात्मिकता का विरोधी तथा भौतिकता का समर्थक होता है, वह स्थूल को

सफल देखे विना सूरज की ओर नहीं बढ़ सकता; जब तक भोजन वस्त्र की साधारण समस्याएँ सुलझ न जायेंगी तब तक चरित्र तथा मोक्ष की बात करना व्यर्थ है। जो व्यक्ति ईश्वर-प्रेम का साहित्य रचता है, वह या तो पिछड़ा हुआ है या पलायन-वादी है; हमारा उद्देश्य होना चाहिए भौतिक सुख तथा समृद्धि।

(६) जन तथा जीवन—प्रगतिवाद कठोर प्रत्यक्षवाद है; वह जीवन से भिन्न किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता तथा जन से बढ़कर कोई आदर्श नहीं मान सकता। काव्य सर्वजन-हिताय हो और उसका फल हो प्रत्यक्ष जीवन का भौतिक सुख। प्रकृति की उपासना भी उसको रुचिकर नहीं। इस भाँति जनवाद के इस युग में प्रगतिवाद एक राजनीतिक अनुप्राणित विषमता संपोषित सामान्य जन सुलभ काव्यधारा है।

इसमें सन्देह नहीं की कालक्रम की गति के साथ-साथ उसके स्वर में स्वर मिलाकर चलना, जीवित साहित्य का ही चिन्ह है; इसलिये प्रगतिवाद का पदन्यास हिन्दी-साहित्य में प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। परन्तु केवल यही कविता है, शेष तो पूँजी-पतियों का ढकोसला मात्र है, ऐसा करना उचित नहीं। आज राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से जिन विषयों का चित्रण आवश्यक हो जाता है वे मानव की चिरन्तन समस्याएँ न हुये तो उस चित्रण का कोई स्थायी महत्व न हो पावेगा। केवल कुत्सित दृश्यों का दिखाना जीवन का खोखलापन घोषित कर नवयुवकों को पलायन पर भी बना सकता है×। इसलिये साहित्यकार को केवल यथार्थ का निराशावादी चित्रण ही करके सन्तोष न कर लेना चाहिए;

प्रगतिवाद का भविष्य

× दे० इसी संग्रह में हमारा निबंध "यथार्थवाद तथा आदर्शवाद"

वह पाठक को उस अंधकार से प्रकाश का पथ भी दिखलावे तभी वह श्रेयस्कार कहलावेगा। प्रगतिवाद की यह एक कमी है कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक एक विशेष प्रकार की विचारधारा का प्रचार ही अपना उद्देश्य समझ बैठा है; स्थायी साहित्य सामाजिक समस्याओं पर नहीं टिक सकता; उसमें मानव हृदय के व्यापक तथा स्थायी रहस्यों का उद्‌घाटन होना चाहिए।

जीवन अनेक प्रकार की स्वतन्त्र विचारधाराओं का स्थूलरूप है, उसमें सदा परिवर्त्तन एवं विकास होता रहता है और क्योंकि साहित्य भी जीवन की एक मनोहर व्याख्या है, इसलिये उसमें भी विचार विभिन्नता तथा शैली वैचित्र्य का पाया जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य में अनेक स्वतन्त्र विचार परम्पराओं का विकास उसके जीवन का शुभ चिन्ह है

उपसंहार

रहस्यवाद, छायावाद तथा प्रगतिवाद की धाराओं का अलग-अलग विकास होना चाहिए। हाँ किसी विशेष रचना का स्थायित्व साहित्य की अपूर्व निधि है और स्थायित्व का निर्णय कला से होता है किसी "वाद" विशेष से नहीं। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि अमुक "वाद" की रचनाएँ स्थायी तथा अमर होंगी, दूसरे की नहीं॥

विनोद-लेख—

चिट्ठीरसा पोस्टमैन

(१) पोस्टमैन का बाहरी रूप.
(२) सर्वत्र सहर्ष स्वागत होता है.
(३) दर्शन के अन्य बहाने.
(४) परिचय में सहायक.
(५) जान-पहिचान से लाभ.
(६) कुछ बुराइयाँ.
(७) कटुता.
(८) पुराने युग में पोस्टमैनी.
(९) अंतिम बात.

यदि भारत में साम्यवाद फैल जावे और राज्य सारे कामों को अपने हाथ में लेकर, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार काम और बराबर वेतन दे; तो मैं तो प्रोफेसरी छोड़कर चिट्ठीरसा बन जाऊँगा। प्रोफेसरी तथा पोस्टमैनी में आज भी कोई विशेष अंतर नहीं है। जब सवेरे नौ बजे मैं अपने घर से कॉलेज को जाता हूँ तो मार्ग में दो-एक पोस्टमैन प्रतिदिन ही मिल जाता है। उसकी सरकारी खाकी वर्दी, सिर के बड़े साफे, गरदन पर पड़े हुये थैले और हाथ में लगे हुये चिट्ठियों तथा पुस्तकों आदि के गट्ठर को देखकर मेरी ललचायी हुई आँखें उसके पीछे बहुत दूर तक दौड़ती चली जाती हैं; परन्तु मेरे खादी के सूट और हाथ में लगी हुई पुस्तकों को देख उसको कभी ईर्ष्या हुई हो, ऐसा

मैंने आज तक नहीं देखा। अनेक बार सोचा है कि अब तो जो कांग्रेस है वही सरकार है, फिर क्यों न कांग्रेस के सभी लोगों को सरकारी वर्दियाँ दे दी जायँ, जिससे मुझ में और चिट्ठीरसा में कोई भेद न रहे, परन्तु न जाने किस संकोच ने मेरी जीभ पर ताला लगा रखा है।

जब मैं कालेज के द्वार से घुसने लगता हूँ तो जो छात्र अब तक खड़े हुये स्वतन्त्रतापूर्वक बातें कर रहे थे, हँस-बोल रहे थे, वे भी एकदम रुककर मुँह फेर लेते हैं जिससे उनको 'नमस्ते' न करनी पड़े। कक्षा के प्रकोष्ठ में घुसना तो और भी निराशापूर्ण है सब लोग मानो स्वागत करने खड़े तो हो जाते हैं, परन्तु उनकी वाणी इस प्रकार से शिथिल हो जाती है मानो किसी यन्त्र से उनके ऊपर अधिकार (कंट्रोल) कर लिया गया हो। जिस से बाहर निकल कर कोई हर्ष से स्वागत न करता हो, उसमें (कालेज में) घुसकर न जाने कितनी बार गोस्वामी तुलसीदास का यह दोहा:—

"आवत ही हरसे नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसै मेंह॥"*

मुझको याद आ चुका है। और जब यह देखता हूँ कि चिट्ठीरसा का स्वागत सभी घरों में एक ही उत्साह से होता है—किसी की बैठक के सामने वह कुछ रुकता हुआ सा दिखाई पड़े, तत्काल ही बाबूजी स्वयं न बाहर आजावेंगे तो बड़े बच्चे को भेजकर दिखलायेंगे कि पोस्टमैन चिट्ठी तो नहीं फेंक गया; और यदि

*जो आप के आते ही प्रसन्न न हो उठें और जिनके नेत्रों में आप के लिये प्रेम न हो, उनके यहाँ कभी भी मत जाइये, भले ही वहाँ स्वर्ण की वर्षा होती हो।

बिना बच्चे वाले हुये तो अपनी देवीजी से ही निवेदन तथा आज्ञा के मिश्रित स्वर में कहेंगे —"थोड़ा बाहर भी तो देख लिया करो, शायद कमला (देवी जी की छोटी बहिन) का पत्र है, नीला सा लिफाफा दिखाई पड़ा"। एक बार जब पोस्टमैन सड़क पर ही एक काटर (घर) के किनारे खड़ा होकर, काटरों के नंबरों को चिट्ठियों को देख रहा था तो एक सुकुमारीजी तो अपनी आधी गुँथी हुई चोटी को हाथ में पकड़ कर दौड़ती हुई बाहर आगई, उस दिन साहित्यिक होते हुये भी मुझे 'रघुवंश' तथा 'कुमारसंभव' के उन श्लोकों का ध्यान न आया जिनमें वर (दुलहा) और बारात को देखने के लिये रमणियों की उत्सुकता का वर्णन है, प्रत्युत मैंने कमरे में आकर अपने भाग्य को ठोका और बार-बार हृदय से यह प्रश्न किया कि पोस्टमैन तथा प्रोफेसर की एक ही राशि होने पर भी भगवान् ने मुझको प्रोफेसर क्यों बनाया, पोस्टमैन क्यों न बना दिया ?

पोस्टमैन के पास आपके दर्शन करने के कई बहाने हैं। मान लिया कि आपका कोई पत्र नहीं आया; मान लिया कि आपकी किवाड़ें और जंगले भी बंद हैं जिससे न पोस्टमैन आपको दिखाई पड़ेगा न आपका बाहर आना होगा। तब वह आपकी कुंडी (साँकल) खटखटा सकता है, और इससे पूर्व कि आप उससे कुछ पूछें वह आपकी ओर एक चिट्ठी बढ़ाता हुआ आपसे पूछ सकता है कि "बाबूजी (भले ही आप 'बाबूजी' न होकर 'देवीजी' ही हों) यह पत्र आपका तो नहीं है ?"; यदि आप पत्थर ही हो और आपके मुख से सूखा उत्तर "नहीं" ही निकला; तो भी वह निराश न होगा और अपने मुख पर चिन्ता की सी रेखाएँ दिखलाता हुआ कहेगा, "सभी क्वार्टरों में पूछ

आया हूँ, न जाने यह किसका पत्र है, नाम तो इसी सड़क का लिखा है ।"; आपको उस पर दया न आई तो श्रद्धा अवश्य हो जावेगी—बेचारा कितना कर्त्तव्य-परायण है, एक-एक चिट्ठी को ठीक-ठीक व्यक्ति के हाथ पहुँचाने के लिये परेशान रहता है !! यह भी देखा गया है कि कुछ पोस्टमैन, जो बाहर से अत्यन्त भोले-भाले दिखलाई पड़ते हैं, आपको बरामदे में खड़ा देखकर आपसे नम्रता पूर्वक किसी पत्र पर लिखा हुआ 'पता' पढ़ देने की प्रार्थना करते हैं, और इतना कष्ट देने पर आपको धन्यवाद तथा नमस्ते दोनों ही देकर जाते हैं । यदि आपके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है तो वह आपसे केवल यही पूछ लेगा कि क्या आपको मालूम है कि अमुक व्यक्ति कहाँ रहता है ।

यहाँ पर हम उन महापुरुषों को नहीं भूल सकते जो पोस्टमैन को पान और सिगरेट इसलिये खिलाते-पिलाते हैं कि जिस दिन उनका एक ऐसा लिफाफा आवे जिस पर उनकी पूरी उपाधियाँ (डिग्रियाँ) और पूरा परिचय लिखा हो, उस दिन पोस्टमैन महाराज पड़ोस के किसी एक क्वार्टर में उसको दे आवें जिससे पड़ोसियों पर उनके बड़े आदमीपन की धाक जम जावे । पोस्टमैन को कोई कठिनाई नहीं होती जिस दिन उनकी तीन-चार चिट्ठियाँ होंगी उसीदिन उनके बीच में लगाकर यह लिफाफा भी उनके कर कमलों में पहुँच जावेगा । हो सकता है कि वे स्वयं उस पत्र का पता देखकर ठीक व्यक्ति के पास न पहुँचाकर पोस्टमैन को ही लौटा दें, तब पोस्टमैन अपनी दस वर्ष की पोस्टमैनी में केवल पहिली भूल पर मन ही मन दुःखी होकर उसको लेता हुआ कहेगा कि आप सज्जन हैं आपने लौटा दिया, बहुत से ऐसे नीच होते हैं जो इधर-उधर फेंक देते हैं ।

परन्तु यह न समझिये कि पोस्टमैन इतना 'मन का गरीब' होता है कि व्यर्थ रसिकता और परिचय में ही अपना समय खोता रहता है। हम उसको दोष नहीं दे सकते। एक तो उसकी नौकरी (ड्यूटी) ही जन-सेवा की है, जिसमें अधिक से अधिक तथा अच्छे से अच्छे एवं बुरे से बुरे व्यक्ति से जान-पहिचान रखना ही सफलता का चिन्ह है। दूसरे आजकल का संसार ही जान-पहिचान है; चार भले आदमियां को सिर झुकाते रहने पर कभी न कभी वे काम दे ही जाते हैं। इसीलिये जिस प्रकार मूल से व्याज प्यारी होती है, पुत्र से नाती अधिक प्यारा होता है उसी प्रकार साहब होने की अपेक्षा साहब से जान-पहिचान रखना अधिक महान् माना गया है; क्योंकि साहव हो जाने पर तो आपके ऊपर अनेक भार आ जाते हैं और आप अपने बराबर वालों में आदरणीय नहीं हो सकते (क्योंकि सभी साहब हैं) परन्तु पोस्टमैन या साधारण आदमी होकर साहब लोगों से जान पहिचान रखना मानो सदेह स्वर्ग पहुँच जाना है।

हाँ, कुछ पोस्टमैन इतने अच्छे आदमी नहीं होते, यह भी मैं मानता हूँ। वे आपकी चिट्ठी को ठीक समय पर न पहुँचावेंगे; आपके पोस्टकार्ड को पढ़कर, उसमें कुछ आवश्यक बातें लिखी होने पर भी, उसको फाड़कर फेंक देंगे; आपके लिफाफे की टिकट छुटाकर पैसे बनाने वालों की भी कमी नहीं; और ऐसों को भी जानता हूँ जो किसी भी आकर्षक लिफाफे को खोले बिना अधिकारी के हाथ में नहीं पहुँचाते। एक पोस्टमैन मुझसे श्रद्धापूर्वक नमस्ते करने लगा था एक दिन उसने बतलाया कि—"आप तो मेरे बड़े भाई के समान हैं, आपसे झूँठ न बोलूँगा, आपके सुंदर लेख को देखकर मैंने आपका एक लिफाफा खोला था जो लखनऊ

किसी मित्र के लिये जा रहा था सच मानिये भाई साहब, ऐसा अच्छा पत्र मैंने आज तक नहीं पढ़ा"। एक दूसरा पोस्टमैन मेरा मित्र है जिसने एक लिफाफे में से १०) का नोट निकाल लिया था, और एक कागज़ पर "मनीआर्डर के पैसे बचाकर सरकार को धोका मत दो" लिखकर उसमें रख दिया था। परन्तु ये सारे अपराध क्षम्य हैं; युवावस्था में ऐसी उमंगें तो सब के हृदय में हुआ करती हैं।

आप कहते होंगे अपने मन में कि मुझको पोस्टमैन के कटु-जीवन का अनुभव नहीं है, परन्तु वास्तव में वैसी बात नहीं। मैं यह जानता हूँ कि कभी कभी चिट्ठीरसा आनंददायक समाचार नहीं लाता, किसी की मृत्यु, असफलता आदि का पत्र लाता है। परन्तु उसमें उस बेचारे का कोई दोष हम नहीं माना करते—यदि वह पत्र पढ़ लिया करता तो शायद हमारे पास लाता भी नहीं। इसलिये हम एक बार उससे अशुभ समाचार पाकर भी उसका स्वागत करने को तैयार रहते हैं।

पोस्टमैन इसी युग की उपज हो ऐसी भी बात नहीं। वेदकाल का तो मुझको अधिक ज्ञान नहीं, परन्तु रामायण-काल में सन्देश लाने और ले जाने की प्रथा थी, हनुमान् को भी आजकल की भाषा में हम राम का पोस्टमैन ही कह सकते हैं, और उद्धव भी कृष्ण के पोस्टमैन (संदेशवाहक) ही थे। हाँ, पुराने पोस्टमैनों तथा नये पोस्टमैनों में अंतर है। उस समय पूँजीपतियों (Capitalists) का अधिकार था और इस पद का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) न हुआ था; अर्थात् पोस्टमैन अपने-अपने अलग होते थे, राज्य की ओर से इसकी नियुक्ति न होती थी; इसलिये उस पद में गौरव तथा सम्मान न था। बहुत संभव है;

कि कामना न की हो, और इसीलिये आज ललचाते रह जाते हों। जो भी हो इस राष्ट्रीयकरण से एक लाभ तो यह हुआ कि पोस्टमैन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति को कृतज्ञ होना पड़ता है; और दूसरा लाभ यह हुआ कि हनुमान् तथा उद्धव के समान आज के पोस्टमैन को दुर्गतियों का भोग नहीं भोगना पड़ता।

यदि यह सत्य है कि बिना मरे स्वर्ग नहीं मिल सकता, तब तो पोस्टमैन बनने की हमारी यह अन्यतम अभिलाषा शायद इस जन्म में पूरी न हो सके। परन्तु यदि भगवान् हमारी मान लें तो हम तो यही प्रार्थना करेंगे कि जब तक यह तन है तभी तक हमको यह वरदान मिलना चाहिए। क्या हुआ कि अन्य साथियों की भाँति हम भी निराश होकर अंगूरों को खट्टा बताने लगे और हमारे हृदय की एक सद्भावना मिट्टी में मिल गई:—

"मूए पीछे मत मिलौ, कहै कबीरा राम।
लोहा माँटी मिलि गया, तब पारस केहि काम?"
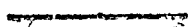
वर्तमान युग का प्रतिनिधि कवि*
जयशंकर 'प्रसाद'

(१) युग प्रतिनिधित्व से हमारा अभिप्राय.
(२) प्रसादजी की विचार-धारा.
(३) राष्ट्रीयता.
(४) आशावाद एवं त्याग.
(५) आर्यभाव.
(६) सुख तथा उसकी प्राप्ति
(७) आदर्शवाद तथा उसके अनेक रूप.
(८) यौवन तथा प्रेम.
(९) अन्य सामयिक समस्याएँ.
(१०) विशेष— उनका मूल्य और स्थान

स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के अमर कवि सूर और तुलसी की विवेचनात्मक आलोचना द्वारा जिस समालोचना सारिणी का शिलान्यास किया था वह अधिक दिनों तक न चल सकी; क्योंकि स्वयं शुक्ल जी प्रचलित प्रवाह के प्रसूत रत्न न थे साहित्य में उनका उदय समय से पूर्व ही हो गया था अतः उनके चारों ओर जो काँच के टुकड़े बिखरे पड़े थे उनसे उस रत्न की थोड़ी सी ज्योति प्रतिबिंबित हो सकी अपना स्वकीय प्रकाश उनमें न था; तथा काल की कालिमा ने उनकी धूमिल दृष्टि को इतना मंद बना दिया कि वह प्रतबिंब भी धीरे-धीरे अहमन्यता की

---

* इस लेख में "कवि" शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है, 'तुकबन्दीकार' के अर्थ में नहीं !!

गहराई में छिप गया। ऐसी दशा में यदि हम आज यह नहीं जानते कि वर्त्तमान युग का एक तारा इस निशा के अवसान पर भी साहित्याकाश को ज्योतिष्मान् करता हुआ ध्रुव-नक्षत्र के समान सर्वदा अपने स्थान पर अटल रहेगा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस युग के कवियों की अन्य विद्वानों ने भी विवेचना की है और निश्चय ही वे स्वर्गीय प्रसादजी के स्वरूप का बिंबग्रहण करने में सफल हुये हैं (इन विद्वानों की चर्चा हम इसी लेख में यथावसर करेंगे); परन्तु सस्ती समालोचना एवं छिछले साहित्य में जनता उसी प्रकार मुदित थी जिस प्रकार कि उथले जलाशयों के पंक-मलिन जल में लोट लगाकर ग्रामीण पशु अपने विश्रान्त जीवन को कृत-कार्य समझ लेते हैं। इसलिये अथवा इसलिये कि अभी तक केवल कुछ लेख आदि लिखकर ही समालोचकों ने अवकाश-ग्रहण (पेंशन) कर लिया है, आज का विद्यार्थी प्रसाद को समझने में असमर्थ रहता है। आज का युग प्रचार, आन्दोलन तथा समाचार पत्रों का है अवश्य, परन्तु किसमें साहस है कि दिनकर की प्रखर तेजोराशि का निरादर कर उस प्रचंड की अवहेलना कर सके ?

युग-प्रतिनिधित्व से हमारा अभिप्राय

अस्तु, जो विचारक आज के युग की समस्याओं का समीचीन अध्ययन कर उन पर देश-काल की परंपरा में विचार कर पाठक को एक नवीन जीवन का आशावादी सन्देश देता है, वही वरेण्य है। कवि-कर्म-विधान के दो पक्षों—भाव पक्ष तथा कला-पक्ष में से जिस कवि में एक ही मुख्य हो उसे उच्चकोटि का कवि नहीं कह सकते; श्रेष्ठ वही है जिसमें भाव और कला एक दूसरे का उपकार करते हुये एक-दूसरे को अधिकाधिक रमणीय

बनाते चलें। इस दृष्टि से आजकल के अनेक सूक्तिकार "राष्ट्रीय कवि" उसी प्रकार से थोथे दिखलाई पड़ते हैं जिस प्रकार कि केवल जेल जाकर शहीद बनने वाले नेता लोग। और जो लोग केवल कला को ही सब कुछ मानकर गलेबाजी को ही कविता का प्राण समझते हैं उनकी कविता भले ही उनके स्वरसहित ग्रामोफोन के रिकार्डों पर सुनने योग्य हो सके, परन्तु पक्के गानों के समान वह भी कलावंतों के काम आवेगी जीवन का सन्देश खोजने वालों के काम नहीं। हम तो ऐसे कलाकार का आदर कर सकते हैं जो हमारी विभिन्न समस्याओं पर आँख खोलकर विचार करता हुआ हमारे व्यथित मन को हरे-हरे कानन के मार्ग से ऐसे रमणीय स्थान पर पहुँचादे जहाँ जाकर हमको प्रत्यक्ष स्वर्ग का साक्षात्कार हो सके। "रचयिता की बौद्धिक तीव्रता और ग्राहिका शक्ति का आभास हमें इतने में भी मिल सकता है कि उसने अपने समय की विभिन्न सामाजिक प्रगतियों और मार्ग में आने वाली दिक्कतों को देखा है या नहीं। वह कोई उडंछू आदमी तो नहीं है"×।

प्रस्तुत निबंध में न तो हम आपको यह बतला सकेंगे कि प्रसादजी ने साहित्य के सभी अंगों—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि—की पूर्त्ति कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है; न यह कि उनमें देशव्यापी आन्दोलनों का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब मिलता है; न यह कि वे छायावाद के जन्मदाता थे; न यह कि उनमें नवीन और प्राचीन का सुन्दर समन्वय मिलता है; और न यह कि हिन्दूकाल के नाटक लिखकर उन्होंने न केवल ऐतिहासिक नाटकों का नया मार्ग ही चलाया प्रत्युत

× श्री नन्ददुलारे वाजपेयी : प्रगतिवाद।

महाभारत काल और राजपूतकाल के बीच की विस्मृत गाथा को सुनाकर इतिहास लेखकों का भी बड़ा भला किया है। कदाचित् हम इन बातों का कोई विशेष मूल्य न भी समझते हों, और प्रसादजी में इन सबको न पाते हों। हम तो उनकी विचार-प्रणाली (Idealogy), समस्याओं का ग्रहण तथा सुझाव एवं जीवन-सन्देश तक अपने को सीमित रखना चाहते हैं। परन्तु

विचार—प्रणाली (Idealogy)

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि प्रसादजी असाधारण प्रतिभा वाले व्यक्ति थे, इसलिये उन्होंने किसी शरीरी देवता (नेता) की जय बोलकर उस पर अपने पद्य-प्रसूनों की वर्षा नहीं की, प्रत्युत सारी समस्याओं का स्वतः अध्ययन कर वे मनन करते हुये जिस सत्य पर पहुँचे उसका निर्भीक प्रकाशन किया है, भले ही वह किसी मत के विरोध या अनुकूल पड़ता हो। जो लोग राष्ट्रीयता देखकर गांधी जी का प्रभाव और आर्यभाव देखकर स्वामी दयानंद का प्रभाव कह बैठते हैं, वे कहाँ तक न्याय करते हैं; स्वयं ही सोचें।

आजकल के युग की प्रधान विशेषता राष्ट्रीयता मानी गई है; सन् ५७ के विद्रोह में भले ही साधारण जनता में चेतनता न रही हो, परन्तु आर्यसमाज के पुनरुत्थान से अपनी प्राचीन संस्कृति तथा प्राचीन गौरव की एक झलक जनसाधारण को भी देखने को मिली; आगे चलकर कांग्रेस के आन्दोलनों ने इस राष्ट्रीयता (Nationalism) का एक अधिक उदार रूप सामने रखा और हिन्दी के अधिकतर कवि इसी हिन्दुस्तानियत में बह गये। प्रसादजी पौराणिक काल से पूर्व के आदर्श को लेकर चलते हैं—आजकल की शब्दावली में वे गांधी की अपेक्षा दयानंद के अधिक

राष्ट्रीयता

समीप थे; परन्तु उनका आदर्श वेदकाल की अपेक्षा उपनिषत् काल से अधिक मिलता-जुलता दिखाई पड़ता है। वे इस बात को नहीं मानते कि आर्य-लोग भी मुसलमान, हूण आदि के समान बाहर से आये थे और यहाँ के आदि निवासियों को हरा-कर आर्यों ने अपनी सभ्यता का प्रसार किया था। उन ऋषियों का रक्त आज भी हमारी नसों में बह रहा है और आज भी हम में वही शक्ति तथा वैसा ही साहस है; आज भी हम संसार के सामने देश का मस्तक गौरव से ऊँचा उठा सकते हैं। कितना ओजपूर्ण गीत है:—

"किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि भी यही, कहीं से हम आये थे नहीं॥

× × ×

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान॥
जियें तो सदा इसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥"
(स्कन्दगुप्त).

"स्कन्दगुप्त" और "चन्द्रगुप्त" नाटक से अनेक ऐसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ विदेशियों ने भी "मानवता की जन्मभूमि" भारतवर्ष की मुक्तकंठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रसादजी भारत की एक अपूर्व एकता को ही राष्ट्रीयता का सार समझते हैं; प्रान्तगत या विषयगत भावना (Provincialism) उनको नहीं रुचती; उनका चाणक्य अपने शिष्यों की संकुचित भावना के कारण उनको फटकारता हुआ समझाता है:—

" तुम मालव हो और यह मागध; यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होता। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।" (चन्द्रगुप्त)।

यदि आज हम देश के बच्चे-बच्चे को यह संदेश सुना सकते तो शायद स्वतन्त्र भारत की आधी से अधिक समस्याएँ अपने आप ही सुलझ जातीं। हिन्दी के किसी भी अन्य कवि ने तो राष्ट्रीयता का यह व्यापक रूप सामने रखा है और न संकुचित दृष्टिकोण की आशंका को समझ उसके निवारण का प्रयत्न किया है। यह कहने की शायद आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी का सारा साहित्य प्राचीन गौरव का मनोहर गीत गाकर उसको प्राप्य बतला कर एक प्रयत्नशील आशावाद का प्रचार करता है। उनके सारे नाटक उसी गौरव-गाथा के भिन्न-भिन्न अंक हैं और उनका "कामायनी" आर्यजाति के शब्दों में मानवसृष्टि की विद्वज्जन सम्मत कथा है, जो देश तथा जाति का शिर ऊँचा करती है।

प्रसादजी के गीतों तथा नाटकों में जीवन का वह सन्देश है, जिसको एक ओर वीरता तथा दूसरी ओर आशावाद कहते हैं। मानव-जाति की शिरमौर आर्यजाति संस्कृति के उच्चशिखर से पतित होती हुई वर्त्तमान परतन्त्रता के गर्त्त में कैसे गिर पड़ी, इसका मनोविज्ञान-संमत कारण है उनकी भावनाओं तथा आदर्शों का ह्रास; त्याग तथा आशा के वे अनुकरणीय आदर्श जब से लुप्त होने लगे तभी से वर्त्तमान अधोगति का बीज जमता है और अलभ्य किन्तु क्रूरकर्मी जातियों के आक्रमण होने लगते हैं।

आशावाद
एवं
त्याग

प्रसादजी ने आर्यों के इस दोष को समझा और उसको दूर करके भावी आशा का कमनीय सुख दिखलाया। "चन्द्रगुप्त" नाटक में अलका जिस अमर अभियान-गीत (Marching Song) को छेड़ती है उसमें कितना उत्साह और कितनी आशा है, ऐसे गीतों में ओज की अक्षय राशि भी अपरिमित मात्रा में पाई जाती है:—

"हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्वला, स्वतन्त्रता पुकारती।
'अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो ॥"

प्रसादजी के नायकों को निराशा न घेरती हो, ऐसी बात नहीं; प्रत्युत उस निराशा का निवारण वे आशा का सन्देश तथा त्याग का वरेण्य मूल्य बतलाकर दुर्बलताओं को कुचलते हुये, कर सकते हैं। "कामायनी" में एकाकी जीवन से निराश होकर मनु में जो पलायन* की प्रवृत्ति आना चाहती हो उसका दूरीकरण श्रद्धा ने कितनी मधुर वाणी से किया है:—

"कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
'अरे, तुम इतने हुये अधीर।
हार बैठे जीवन का दाव,
जीतते जिसको लड़कर वीर' ॥"

* किन्तु जीवन कितना निरुपाय, लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।
—कामायनी।

ठीक यही सन्देश भटार्क की मान्या माता कमला हताश स्कन्दगुप्त को सुनाकर इसमें नवीन स्फूर्ति भर देती है:—

"कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारेसाथ है। स्वानिभूति को जागृत करो।...राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है॥"

(स्कन्दगुप्त)

भगवान् बुद्ध ने जो आर्य-धर्म में सुधार किया था उससे भारतीयों ने कई आदर्शों को अपनाया। क्षमा, दया एवं सहानुभूति के द्वारा मानव-हृदय के उच्चतम विकास की एक परंपरा नस-नस में व्याप्त होगई। प्रसादजी के सभी श्रेष्ठ पात्र इन गुणों से संपन्न होते हैं, और महिलाएँ तो इसकी खान होती हैं। "प्रतिहिंसा पाशव वृत्ति है"※; क्षमा केवल मनुष्य के पास होती है; "वह पशु के पास नहीं मिलती"‡। इसलिये क्षमा एवं प्रेम के द्वारा सभी क्रूरतम व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। "परन्तु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिये पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-विहार में रहनेवालों के लिये उपयुक्त हो"×। दूसरे, बौद्धधर्म के द्वारा "सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और आमित्कता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव, और निराशा का प्रचार"÷ हुआ उससे उनमें "उत्साह, साहस और आत्म-विश्वास" की कमी हो गई; जब तक इस कमी को पूरा न किया जावेगा तब तक जाति

आर्यभाव

※ विशाख। ‡ स्कन्दगुप्त।

× चन्द्रगुप्त। ÷ इरावती।

उत्थान किस प्रकार संभव हो सकता है; यह प्रसादजी का नवीनतम संदेश (Latest Message) है सुधारवादियों को इधर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जो दार्शनिक "यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का ... खोजना ही पुरुषार्थ है"+, वे पलायनवादी हैं, प्रसादजी इस कायरता का विरोध करते हैं, उनके लिये मोक्ष कोई समस्या ही नहीं—"निर्वाण यदि मानव-जीवन के लिये आवश्यक ही होगा तो उसे किसी अगले जन्म में खोज लूँगा"×। वस्तुतः अहिंसा, नश्वरता आदि का भी अपना मूल्य है, वे ही सब कुछ नहीं हैं; इस अति से जीवन सुखी नहीं हो सकता; सुख के लिये समन्वय (Harmony) की आवश्यकता होती है; देश, काल तथा पात्र के अनुसार सभी की मात्रा को समझ लेना चाहिए:—

> "भगवान् की विराट विभूति में से हम निस्संदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्रा को समझ लेना ही हमारा पुरुषार्थ साधारण है"। (इरावती)

प्रत्यक्ष जीवन खोखला घोषित कर किसी भावी जीवन के सुख की कामना करना निस्सार है। इस जीवन में सक्रिय कर्त्तव्यपालन करते हुये मानवता का उच्चतर आदर्श दिखाते हुये "हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्यभाव का प्रचार आवश्यक है"×। चन्द्रगुप्त नाटक में राक्षस समझाता है:—

> "मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ। और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नहीं किया परन्तु भिक्षु भी न बन सका।"

+ एक घूँट।

× इरावती।

इसी बात को हम "स्कन्दगुप्त" नाटक के एक गीत में पाते हैं :—

"बंशी को अब बज जाने दो,
मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख मींच करके गाने दो,
जो कुछ हमको आता है।
सब जीवन बीता जाता है
धूप-छाँह के खेल सदृश ॥"

सुख की समस्या पर कुछ विशेष ध्यान देकर विचार करना होगा। सुख से प्रसादजी का अभिप्राय विलासमय जीवन का नहीं है, ऐसे क्षणिक+ सुखों को तो वे त्याग देना ही उचित समझते हैं।

सुख से उनका अभिप्राय उद्वेगरहित× शान्तिमय जीवन से है,

सुख तथा उसकी प्राप्ति

यह सुख किसी कर्मविशेष में नहीं मिलता प्रत्युत उस कर्म के संपादन में मिलता है:—

"किसी कर्म को करने के पहले उसमें सुख की खोज करना क्या अत्यन्त आवश्यक है? सुख तो धर्म्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुखमय है ही। संसार के कर्मों को धार्म्मिकता के साथ करने में सुख की ही संभावना है।" (आँधी)

वस्तुत: सुख का अर्थ है मंगल-श्रेय। साधारण मनुष्य

+ सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिए।" (स्कन्दगुप्त)

× सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। (चन्द्रगुप्त)

किसी भी नवीन घटना से विचलित होकर निराश होने लगता है, यह ठीक नहीं उसमें, असाधारण बनने के लिये, असाधारण धैर्य तथा अध्यवसाय भी होना चाहिए। ईश्वर जो कुछ करता है, उसमें भी सुख तथा कल्याण निहित होता है :—

"मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रखता है, हम सब इसे नहीं समझ सकते।" (चन्द्रगुप्त)

"पुरुषोत्तम का प्रिय मानव" वही है "जो लोक से न घबराये और जिससे लोक न उद्विग्न हो"+। सुख तथा दुःख मानने की वस्तु (मन का विषय) है एक ही परिस्थिति हम को सुखी भी बना सकती है और दुःखी भी परन्तु इसका निर्णय दृष्टिकोण विशेष ही कर सकेगा÷। प्रेम इत्यादि भाव भी दृष्टि सावेद्य हैं :—

"तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है और मैं अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ, यही मेरे लिये अच्छा होगा। मानव हृदय में यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें।" (चन्द्रगुप्त)

गृहस्थ के सुख के लिये भी वे एक प्रकार के समझौते‡ (Com

+ कंकाल।

÷ To make ourselves happy all that in necessary in to make ourseves a new heart and see with new eyes. (S. Radhakrisnan : Gautam the Buddha).

‡—जगत की एक जटिल समस्या है—स्त्री-पुरुष का स्निग्ध मिलन। ... इसके लिये समाज ने भिन्न-भिन्न समय और देशों

promise) में विश्वास रखते हैं। वस्तुतः पति तथा पत्नी को पारस्परिक आलोचना न कर अपना-अपना कर्त्तव्य निबाहने का प्रयत्न करना चाहिए दूसरे व्यक्ति में कमी हो तो भी उसके साथ निर्वाह करना ×, इसलिये उस की ओर ध्यान न देकर अपने कर्त्तव्य की पूर्त्ति ही इस कमी को तुच्छ बना देती है।❀

प्रसादजी ने अपनी सारी रचनाओं में इस बात का प्रयत्न किया है कि जीवन-क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विचार किया जावे और फिर संघर्ष के अनंतर पाठक को एक आदर्श का अभिनव मार्ग दिखाया जावे। महात्मा गांधी के समान वे यह भी मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति (आर्य-तथा बौद्ध) को अपने धर्म के सिद्धान्तों को निर्दोष रूप में मानना चाहिए, परन्तु स्वेच्छा-धर्म-परिवर्त्तन का उन्होंने कहीं विरोध नहीं किया क्योंकि वे बुद्धिवाद को आधार मानकर श्रद्धा

में अनेक प्रकार की परीक्षाएँ कीं, किंतु वह सफल न हो सका। ··· इसका उपाय एकमात्र समझौता है, वही तो व्याह है। (कंकाल)।

× Success in marriage is much more than a matter of finding the right pesson, it is also a matter of being the right pesson. (Dale carnegic).

❀—उधर ज्वार-भाटे उठने दो, नाचे प्रलयंकर तूफान।
प्रेम बढ़ाती रहो सदा तुम, लिये वीचियों की मुस्कान॥
(नूरजहाँ).

आदर्शवाद तथा उनके अनेक रूप

के पक्ष में थे, बिना सोचे-समझे "ईमानलाने" के पक्ष में नहीं। परन्तु उन्होंने वर्णश्रम-प्रथा को समाज की आवश्यक व्यवस्था माना है; ब्राह्मण को आदर्श ब्राह्मण होना चाहिए और क्षत्री को आदर्श क्षत्री। उनका चाणक्य आदर्श ब्राह्मण है जो आर्य-साम्राज्य तथा धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का अद्भुत केन्द्र है। त्यागी तथा विद्वान् ब्राह्मण ही राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं, वे उचित पात्र को पूर्व संस्कारों के जगने पर गुणोचित वर्ण में दीक्षित कर सकते हैं; चन्द्रगुप्त को सब शूद्र समझते थे परन्तु चाणक्य ने उसमें क्षत्रियोचित गुणों को देखा और पर्वतेश्वर का विरोध करते हुये भी उसको धर्म का रक्षक नियुक्त किया। वे जन्मजात वर्ण-प्रथा के दूषित नियम को नहीं मानते; व्यक्ति के संस्कारों में कुल के अतिरिक्त पिता, माता, उनकी परिस्थितियाँ, पूर्व संचित कर्म आदि कई ऐसी बातें होती हैं, जिनसे उसका वर्ण बदल सकता है। समाज को इस वर्णपरिवर्त्तन में उदार होना चाहिए, अन्यथा अयोग्य व्यक्ति के हाथ में पड़कर धर्म तथा शांति छिन्न-भिन्न हो जावेंगे। चाणक्य उनका आदर्श ब्राह्मण तथा स्कन्दगुप्त उनका आदर्श क्षत्री है। वे भिन्न-भिन्न वर्णों में आपस के विवाह को ठीक समझते हैं, चन्द्रगुप्त का विवाह कार्नेलिया (यवन-पुत्री) से, श्रेष्ठिकन्या विजया का प्रणय भटार्क से, तथा सुवासिनी का विवाह राक्षस के साथ हो जाता है। "ध्रुवस्वामिनी" में प्रसादजी ने मोक्ष (Divorce) तथा पुनर्लग्न (दूसरे पुरुष से विवाह) का समर्थन किया है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वैदिक प्रथाओं के वर्त्तमान दोषों को दूर कर उनमें बुद्धि-सम्मत सुधार कर उनको अनुकरणीय समझते हैं।

वर्ण तथा पदों के साथ-साथ दूसरे प्रकार के आदर्श भी हमको मिलते हैं। आदर्श माता के कुछ रूपों में से दो रूप बहुत सुन्दर हैं—एक है देवकी का और दूसरा कमला का× । देवकी आदर्श आर्यनारी है जो अपने पुत्र को देश तथा जाति की सेवा के लिये ही उत्पन्न करती तथा तैयार करती है। कमला,+ उससे भी बढ़कर है; जिस माता का पुत्र देशद्रोही है उसको क्या आचरण करना चाहिए, वह किस प्रकार पुत्र-प्रेम तथा देश-प्रेम में समन्वय कर सकती है, इस समस्या को लेखक ने कितनी सावधानी से सुलझाया है,÷ । ऐसी ही कोमल परिस्थितियाँ बहिन अलका,❋ पत्नी रामा,£ भाई गोविंदगुप्त£ आदि के जीवन में भी आई हैं। यह संकुचित कर्त्तव्य से व्यापक कर्त्तव्य पर (From narrow loyalities to wider loyalties) पहुँचने की वही नीति है जिसके कारण मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र को सती सीता का त्याग कर देना पड़ा।

उन्होंने एक दूसरी घरेलू जीवन की नवीन समस्या को भी उठाया है, जिसकी ओर अन्य हिंदी 'कवियों' का ध्यान गया ही नहीं; वह है विवाह करने या न करने की¶ । आज के समाज में इतनी अव्यवस्था तथा अशांति है कि कुछ नवयुवक विवाह करना

× "स्कन्दगुप्त" नाटक में।

+ भटार्क की माता।

÷ देखिये इसी संग्रह में हमारा निबन्ध "प्रसादजी के स्त्री-पात्र

❋ चन्द्रगुप्त नाटक में।

£ स्कन्दगुप्त नाटक में।

¶ स्व० प्रेमचन्दजी ने इस पर "गोदान" में लगभग उन्हीं आदर्शों से विचार किया है।

नहीं चाहते (हिन्दू-महिलाओं के सामने यह प्रश्न उतना नहीं है); कारण यह है कि "रुचि, मानव-प्रकृति इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म मिलन विरला होता है "※। लेखक का सामान्य मत है कि "पुरुष और स्त्री को विवाह करना ही चाहिए। एक-दूसरे सुख-दुख और अभाव-आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे "*। वे तो यहाँ तक मानते हैं कि यदि श्रेय तथा कर्त्तव्य प्रेम का बलिदान चाहे × तो कर दिया जावे, क्योंकि प्रेम हृदय की एक वृत्ति है जो अभ्यास से भुलाई भी जा सकती है और उत्पन्न भी की जा सकती है। ÷

यदि प्रसादजी केवल आदर्शवाद तथा आशावाद का राग अलापते रहते तो हम उनको, कला के गुणों के कारण भले ही उच्चकोटि का साहित्यिक मान लेते, अपने युग का प्रतिनिधि न कह सकते थे। क्योंकि छायावाद के इस युग में यौवन तथा प्रेम भी एक दुःखद संदेश देने के लिये ही आते हैं+। इस प्रणय में "संसार का कर्त्तव्य, धर्म का शासन, केले के पत्ते की तरह

※ कंकाल. * तितली.

× मानव-हृदय में यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है... तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतंत्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें।...श्रेय के लिये मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए। (स्कन्दगुप्त).

÷ तुलना कीजिये—"प्रेम तो आत्मा की घनिष्ठता है वह घनिष्ठता कोई बड़े महत्त्व की वस्तु नहीं, होती, वह टूट भी सकती है" (वर्मा : चित्रलेखा).

+ यौवन सुख के लिये आता है—यह एक भारी भ्रम है। (विशाख).

धज्जी-धज्जी उड़ जाता है"❀ । परन्तु कब तक, केवल उस समय जब तक की समझ नहीं आती; "समझदारी आने पर यौवन चला जाता है"‡ और फिर प्रेम भी नहीं रहता क्योंकि "प्रेम चतुर

प्रेम और यौवन

मनुष्य के लिये नहीं, वह तो शिशु से सरल हृदयों की वस्तु है"† । इसी लिये प्रेम के दृष्टिकोण से पुरुष तथा स्त्री में अन्तर है । "स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु❀" रहती है, इसलिये उसका अनुराग "कोमल होने पर भी बड़ा दृढ़ होता है, वह सहज में छिन्न नहीं होता"∷ । प्रत्येक कुमारी के हृदय में एक टीस उठती है वही प्रेम का प्राण है; परन्तु "स्त्री का मुँह कुछ बातों के लिये बंद रहता है"=, इसलिये वह "मुँह खोलकर सीधा प्रस्ताव नहीं कर सकती"❀ और "दूसरे को धोखा तो देती ही है, अपने को भी प्रवंचित करती है"‡ । यही "स्त्रियों के प्रेम का रहस्य"= है । परन्तु पुरुष की दशा इससे भिन्न होती है । उसको "हिसाब लगाना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है । संसार में जैसी उसकी महत्वाकांक्षा की और भी बहुत सी विभूतियाँ हैं, वैसे ही यह (प्रेम) भी एक है"❀ । इसलिये 'सब पुरुष राक्षस हैं; देवता कदापि नहीं हो सकते"❀ । इसीलिये "पुरुषों के प्रति स्त्रियों का हृदय प्रायः विषम और प्रतिकूल रहता है"† । महापुरुषों में यह कट्टरता और भी अधिक होती है; यही स्त्री और पुरुष के यौवन तथा प्रेम की कहानी है । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि "यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वालामुखी है"‡ ।

❀ कंकाल । ‡ चन्द्रगुप्त । † तितली.

∷ जनमंजय का नागयज्ञ । = इरावती.

परन्तु बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो चिरकाल तक बुद्धि की अहम्मन्यता के कारण प्रेम का कोई मूल्य नहीं समझते; ऐसे व्यक्तियों को अन्त में झुकना पड़ता है, वे प्रेम को महत्त्वाकांक्षा का साधन नहीं बना सकते; प्रत्युत शान्ति-लाभ के लिये उनको "अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा"÷ करनी पड़ती है और "मस्तिष्क के साथ हृदय का मेल"+ हो जाने पर "प्रेम का एक घूँट" पीकर इस जीवन को पूर्ण बनाना पड़ता है। जो ऐसा नहीं कर पाता उसके लिये "सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है।...सब मिल कर एक शून्य है"÷। मानव का उच्चतम विकास मस्तिष्क तथा हृदय का सुयोग है; एक का अभाव दूसरे को दूषित कर देता है। संसार के विषम दुःख से जले हुये लोगों के सुख तथा शान्ति का एक मात्र साधन प्रेम ही है, यदि संसार एक माया-जाल है तो उस मायावी की इच्छा मोह भी पूरी हो—इसमें पड़कर भी जीवन को सुखमय बना लेना चाहिए:—

बने प्रेम-तरु-तले।
बैठ छाँह लो भव-आतप से,
तापित और जले॥
× × ×
पीलो छवि-रसमाधुरी, सींचो जीवन-बेलि।
जी लो सुख से जन्मभर, यह माया का खेल॥
मिलो स्नेह से गले।
बने प्रेम-तरु-तले॥

(स्कन्दगुप्त)

÷ आकाश-दीप। + एक घूँट।

इन गंभीर तथा व्यापक समस्याओं के अतिरिक्त प्रसादजी ने सामान्य विवादास्पद विषयों को भी कोसलता से उठाया है और उनका समयानुकूल समाधान भी दिया है। वे न अंधविश्वासों × को मानते हैं और न पुरानी कुप्रथाओं के समर्थक हैं। + परिवर्त्तन को वे सृष्टि तथा जीवन दोनों के लिये अति आवश्यक समझते हैं:—

अन्य सामयिक समस्याएँ

"सरल युवक! इस गतिशील जगत में परिवर्त्तन पर आश्चर्य। परिवर्त्तन रुका कि महापरिवर्त्तन—प्रलय—हुआ। परिवर्त्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है; निश्चेष्ट शान्ति मरण है।" (स्कंदगुप्त)

पाप तथा पुण्य की भी उनकी अपकी कसौटी है। समाज पाप किसे कहता है? उसी को तो जिसको वह स्वयं करना चाहता है, परन्तु कायर होने के कारण स्वयं कर नहीं सकता÷। अधिकतर 'पाप' ऐसे ही हैं जिनको करने वाले ही दूसरों को करता हुआ नहीं देखना चाहते, जिससे स्वयं उनकी ही पोल न खुल जावे। व्यवहार तथा प्रचार ही पाप को पुण्य बना देता है:—

"पाप और कुछ नहीं है यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं; परन्तु समाज

× कौन कहता है कानों में, किसी का कहना तू मत मान।
अंध विश्वास दिलाते वे, इसी में बनते हैं विद्वान्॥
(झरना)

+ The old order chngeth yielding place to new,
× × ×
Lest one good custom should corrupt the world } Most Arthur

÷ पुरुष समाज में वही नहीं चाहता, जिसके लिये उसी का मन छिपे-छिपे प्रायः विद्रोह करता रहता है। (तितली).

का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है।" (कंकाल).

इसी प्रकार आचारशास्त्र (Ethics) के विद्वानों की यह समस्या कि किसी कर्म का चारित्रिक मूल्य (Moral Value) किस प्रकार जाना जाय—साधन (Means) के द्वारा या साध्य (End) के द्वारा—चाणक्य के मत में गांधी दर्शन के विरुद्ध एक हल देती है; वह कर्मों के अंत * से कर्मों के मूल्य की परख करता है ‡:—

"भला लगने के लिये मैं कोई काम नहीं करता कात्यायन! परिणाम † में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है।" (चन्द्रगुप्त) स्कन्दगुप्त नाटक का प्रपंचबुद्धि भी, शर्वनाग की देशकाल-सापेक्ष्य कसौटी का प्रतिवाद करता हुआ, इसी परिणाम (End) वाली कसौटी को ही ठीक मानता है। यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक को कौनसा मत अभीष्ट था, परन्तु उसने एक महत्त्वपूर्ण विषय को उठाया है इसमें संदेह नहीं और चाणक्य के द्वारा प्रतिपादन कराके मानो स्वयं भी समर्थन किया है £।

---

*—cf—All is well that ends well--Shakespeare.

‡—तुलना कीजिये:—

"The effect of our actions cannot give them moral worth" Kant.

"It is on account of their effects." Bentham

†—तुलना कीजिये—

"औचित्य अनौचित्य का निर्णय हमारी सफलता के अधीन है।" (प्रेमचंद: प्रेमाश्रम).

£—देखिये इसी संग्रह में हमारा लेख "काव्य में कवि का व्यक्तित्व"।

भारतीयों की वर्त्तमान आर्थिक स्थिति पर प्रसादजी ने संतोष नहीं प्रकट किया। क्योंकि वे "संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा×" देना उचित नहीं समझते। वस्तुत: जो मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त न कर सकने के कारण अपने मन को समझा लेता है, वह अपने को धोखा ही देता है। जीवन का पूर्ण विकास उसी समय हो सकता है जब "जीवन को सब तरह की सुविधा ÷" मिलेगी; अपनी अभिलाषाओं के कारण दरिद्र तथा संतोष से सम्राट बनना केवल कहावत है, सत्य नहीं। भारतीय सभ्यता का यह दोष है कि इसने भौतिक पक्ष का निरादर ही कर दिया है, "इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक या भौतिक समता, जिसमें ईश्वर के न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह की सुविधाओं की योजना है ÷"।

अन्य उदाहरणों द्वारा यह दिखलाया जा सकता है कि समसामयिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक एवं चारित्रिक समस्याओं पर प्रसादजी ने परम रमणीय शब्दावली में विचार किया है। पक्ष-विपक्ष होते हुये भी वे बुद्धिवाद के नवीनतम रूप को हृदय के संयोग से कमनीय बनकर एक सामान्य मार्ग निकलना चाहते हैं। समाज की अनेक अतियों का विरोध कर एक

उनका मूल्य और स्थान

सुधारवादी रूप तैयार करना उनका उद्देश्य प्रतीत होता है; परन्तु कालीदास के समान उनकी सारी रूपरेखा भारतीयता के उपनिषत्कालीन आदर्शों पर टिकी हुई है। नवीन सभ्यता की अच्छी अच्छी बातों को ले लेना

× स्कन्दगुप्त।

÷ तितली।

उनको कभी नहीं अखरता। उनकी प्रतिभा असाधारण थी, उनकी ग्राहिका-शक्ति अपूर्व थी और उनका विवेक पक्षपात रहित था; गहन अध्ययन तथा सात्त्विक मनन उनकी रचनाओं को अमर बना देते हैं। उनकी प्रतिभा के विषय में अभी अधिक खोज-बीन नहीं हुई, परन्तु ज्यों-ज्यों विद्वान् इसमें अवगाहन करेंगे त्यों त्यों नवीन रत्नों की प्राप्ति होगी, ऐसी आशा है:—

"अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै नहीं, जेहि बस होत सुजान॥"+

+ कटीले नेत्रों वाली उसके समान और भी न जाने कितनी रमणियाँ हैं। परन्तु औरों के नेत्रों में वह 'चितवनि' नहीं है, जिससे सुजान-लोग उसके वशीभूत हो जाते हैं। (बिहारी)

"बुरा जो देखन मैं चला,
बुरा न दीखा कोय।"+

(१) कटु अनुभव.

(२) स्वार्थी दृष्टिकोण.

(३) अपरिचित व्यक्ति और आशा में निराशा.

(४) दोष-दर्शन की दूसरी परिस्थिति.

(५) प्रौढ़ व्यक्तियों का अनुभव.

(६) दूसरों के दोष देखना बड़ा सरल काम है.

(७) संसार में गुणों की कमी नहीं.

(८) उपसंहार।

आगरा से सदा के लिये दिल्ली आकर जब मैं प्रथम बार कुछ वस्तुएँ मोल लेने के लिये गांधी-आश्रम गया तो मेरे साथ एक पुराना मित्र भी था, जिसने चलते समय आश्रम के एक अधिकारी से बाँटने के लिये रखे हुये तिथि-पत्रों (कलैंडरों) में से एक को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। अधिकारी ने सहर्ष हम दोनों को तीन तिथि-पत्र दे ही नहीं दिये प्रत्युत एक सेवक को आज्ञा देकर उनको लपेट कर बँधवा भी दिया। अपनी विजय पर फूलते हुये हम दोनों जब घर आये तो उसी उत्सुक मित्र ने तिथि-पत्रों को भित्ति पर लटकाने की योजना करते हुये अकस्मात् उनको

+ "बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना "मुझ सा बुरा कोय॥"—कबीर.

पृथ्वी पर पटक दिया—"झूँठा कहीं का, धोखेबाज; हमने कब बेईमान क खुशामद की थी; नहीं थे तो न देता साफ दिखा देता; पिछले वर्ष के पुराने तिथि-पत्र क्यों दे दिये ?"

कटु अनुभव

मैंने हँसकर इनको चिढ़ाते हुये कहा—"इतना परिवर्त्तन, अभी-अभी तो आप उसकी उदारता की प्रशंसा कर रहे थे"। लगे सबको कोसने—"दुनिया देखी है, स्काउट रह चुका हूँ; जितने खादीधारी हैं सभी बदमाश होते हैं; चोर बाजारी करेंगे, रिश्वत लेंगे, दूसरों को धोखा देंगे—आजकल यही इनका व्यवसाय है"।

जब हम किसी राशनिंग ऑफीसर से आज्ञा-पत्र (परमिट) बनवाने जावें, किसी गजटेड ऑफीसर से अपने प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर कराने जावें, किसी अध्यापक से अपने फेल होने वाले भतीजे को पास करवाने जावें, या किसी एम० एल० ए०* से कोई सिफारिश कराने जावें, तो ऐसा भी होता है कि हमारा 'काम न बने'। तब हमारे मुख से लगभग ये शब्द निकलेंगे—"चार पैसे के आदमी कोई पद मिल गया अपने को लाट साहब समझने लगे; हिन्दुस्तानी हैं न, दासता की गंध अभी तक मन से नहीं निकली; लाखों रुपये रिश्वत में उड़ा जाते हैं हमारे सामने ईमानदार के बच्चे बनते हैं; नौकरी छूट जाय तो भूखे मरने लगें सारा आदर्शवाद चूल्हे में रखा रह जावे; सतालो गरीबों को, भगवान् ने चाहा तो तुम भी दर-दर ठोकर खाओगे"; और यदि हमारा काम बन गया तो नये साँचे में ढले हुये शब्द होते हैं —"आदमी क्या है हीरा है,

स्वार्थी दृष्टिकोण
(Egoistic View

* व्यवस्थापिका सभा का सदस्य।

अभिमान छू तक नहीं गया है, देश को ऐसे ही व्यक्तियों की आवश्यकता है; जान पड़ता है किसी कुलीन घर का है; भगवान् ऐसों को क्यों न दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति का मार्ग दिखलावे ?" यह भी प्रायः देखा गया है कि हम नित्य नये अनुभव से अपनी सम्मति को परिवर्त्तित करते रहते हैं आज जिसको देवता कह दें; कल उसको राक्षस राज कह सकते हैं और फिर चार दिन बाद उसे ईश्वर का अवतार कह देने में भी संकोच न होगा।

कारण यह नहीं कि हम मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि कोई व्यक्ति न अच्छा होता है न बुरा, उसके आचरण विशेष (Particular Conduct) से उसकी स्थायी प्रवृत्ति का अनुमान कर लेना अनुचित है; और न यह कि हम केवल दूसरों को सुनाने के लिये ही अपना काम कर देने वाले को 'अच्छा' तथा काम न करने वाले को 'बुरा' कहा करते हैं जिससे सुनने वाला भी 'अच्छा आदमी' बनने ने के लिये हमारे काम आ सके। प्रत्युत सद्यः (Instant) प्रशंसा या निंदा एक प्रकार का पुरस्कार है जो उस व्यक्ति को हम दिया करते हैं भले ही उसको इस पुरस्कार का ज्ञान भी न हो—भले ही वह उस की कल्पना भी न करता हो—हम तो अपनी उदारता दिखा चुके; अपने कर्त्तव्य से निवृत्त हो चुके, आगे जो भी ईश्वर को स्वीकार हो। यह अत्यन्त स्वार्थमय दृष्टिकोण है, हम अपने अति लघु या कुछ गुरु कार्य से ही सदा के लिये किसी व्यक्ति के चरित्र का निर्णय करने लगते हैं; दूसरे न्यायाधिप प्रतिवादी (Defendent) से सफाई (Defence) माँगते हैं और यथाशक्ति यत्न करने के अनन्तर ही अनुपस्थिति निर्णय (Ex parte-decree) करते हैं; परन्तु हम एक तो स्वयं ही वादी (Plaintiff) तथा न्यायाधिप (Magistrate) बन गये; दूसरे प्रतिवादी

को सफाई का अवसर दिये बिना ही अपना अपरिवर्त्तनीय Unappealable) निर्णय (Indgement) भी दे दिया।

विचार करने पर ज्ञान होता है कि तीन विभिन्न परिस्थितियों में हम दूसरे व्यक्ति के दोषों को देखा करते हैं। इनमें से प्रथम की चर्चा ऊपर हो चुकी है। जहाँ हम उस व्यक्ति से परिचित नहीं होते और जब किसी काम की सिद्धि के लिये अपने हृदय में पूर्ण आशा लिये हुये उसके पास जाते हैं, तो उत्तर में निराशा मिलती है। हम जितनी अधिक आशा लिये हुये जाते हैं उतनी ही चिड़चिड़ाहट और क्रोध वहाँ से ले आते हैं। विवेक यह कहता है कि जिस व्यक्ति को हम जानते भी नहीं उससे अगाऊ आशा (Hope in Anticipation) करना उचित तो नहीं; हम उसके स्वभाव को नहीं जानते तो अपने स्वभाव से ही उसके चरित्र का अनुमान कर लेना कहाँ की बुद्धिमानी है? मान लिया कि वह व्यक्ति आपके ही स्वभाव का है; परन्तु जिन परिस्थितियों में उसको आप का काम करना है उनका भी तो आपको ज्ञान नहीं, उदाहरण के लिये आप खाँड का आज्ञा-पत्र (Permit) लेने गये और वह खाँड की कमी या अन्यत्र आवश्यकता के कारण-आज्ञा पत्रों का निषेध सभी से कर चुका है, तब आपको भी खाली हाथ आना पड़ेगा। आपकी यह तर्क कि आप सारे जीवन में एक ही बार इस काम के लिये गये थे, या आपकी नई ससुराल के कुछ लोग आना चाहते हैं उनके लिये खाँड का होना आवश्यक है, उस अधिकारी (ऑफीसर) के सामने कोई मूल्य नहीं रखते। इसी प्रकार परीक्षा में अनुत्तीर्ण

अपरिचित व्यक्ति
और
आशा में निराशा

को उत्तीर्ण कराने के लिये यह तर्क कि बेचारा उसी परीक्षा के दिन बीमार पड़ गया था, या ट्यूशन करके अपना पढ़ना चलाता है, या ऐसे ग्राम का रहने वाला है जहाँ माता-पिता संतान को पढ़ने ही नहीं देते, परीक्षक की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रखते। अस्तु, अपने काम की सफलता हमको कर्त्ता के निर्णय पर ही छोड़ देनी चाहिए; जब हम प्रयत्न करते जायँ, तो हृदय में निराशा को लेकर जायँ, यदि काम में सचमुच निराशा ही हुई तो अधिक दुःख न होगा और यदि, सौभाग्य से, कहीं सफलता मिल गई तो चौगुना हर्ष होगा—यही सुख की कुञ्जी है, ऐसा करने से संसार के एक-तिहाई बुरे आदमियों को हम बुरा न बतलावेंगे।

प्रसंगवश हम यहाँ अधिकारियों के इन नियमों की व्याख्या भी करलें, जिनके कारण जनता को बड़ा कष्ट होता है प्रायः अधिकतर व्यक्तियों की शिकायत रहा करती है। निराश व्यक्ति कहेगा—"नियम बना लिया है कि आज्ञा-पत्रों (परमिट) के लिये केवल २ बजे से ४ बजे तक मिलिये। यदि कोई कार्यालय (आफिस) में नौकरी पर जाता है तो इस बीच किस प्रकार आ सकता है ? ये सब काम न करने के बहाने हैं; क्या किसी विशेष व्यक्ति के लिये (हमारे लिये) नियम को तोड़ा नहीं जा सकता ?" यदि अधिकारी आदर्शवादी हुआ और सुव्यवस्था में विश्वास रखने वाला हुआ तो निश्चय ही नियम को नहीं तोड़ेगा, वह अपवाद (Exception) को कोई स्थान नहीं देना चाहता। संभवतः निराश व्यक्ति उपयोगितावादी बन जाता है और अधिकारी आदर्शवादी। प्रथम में साम्यवादियों के वे विचार मिलते हैं जिनके कारण नियमों का कोई महत्त्व नहीं; जन सभी नियमों से ऊपर है नियम मनुष्य के लिये हैं न कि मनुष्य

नियमों के लिये (Rules for men, not men for rules); परन्तु बुद्धिमान लोग जानते हैं कि धर्म (सामाजिक व्यवस्था) उसी समय स्थिर रह सकती है जब हम नियमों को बनाकर उनका अन्वयवाद (Categorical) पालन करेंगे, यही जर्मन विद्वान् कांत (Kant) का मत (Categorical Imperative) है।

परन्तु दोषदर्शी होने की दूसरी परिस्थिति बड़ी व्यापक है। अपने प्रतिदिन के व्यापार में, बस (Bus) में बैठते हुये, पुस्तकालय में पढ़ते हुये, कार्यालय में काम करते हुये, या रविवार को आर्यसमाज मंदिर जाते हुये हमको कुछ नये व्यक्ति भी मिला करते हैं। ये व्यक्ति ऊपर कहे नये अधिकारियों से भिन्न हैं, क्योंकि वे और हम बराबर के हैं—न हमको उनके घर कर्ज लेने जाना न उनको हमारे घर शोक सन्ताप आना। प्रायः ऐसे व्यक्तियों से हमारी रुचि एवं चित्तवृत्ति मेल नहीं खाती, "नीच कहीं का भारत स्वतन्त्र हो गया है फिर भी टाई लगाकर साहब

दोष-दर्शन की दूसरी परिस्थिति

बनना चाहता है।" "व्यर्थ चपर-चपर करता रहता है, ऐसे लोगों से मुझको घृणा है," "रंग-रूप तो भीलों का सा मालूम पड़ता है हमको तो विश्वास नहीं होता कि ये किसी अस्पताल में डाक्टर होंगे"; "कितनी धृष्टता है पहिले ही दिन वह चढ़कर बातें करने लगा", "बुद्ध है बुद्ध, सब लोग हँसी-दिल्लगी कर रहे थे आप बेवकूफों की तरह मुस्करा देते हैं, एक भी बार कहकहा मारते हमने नहीं देखा", "किसी नीच कुल का है, बोलने में डरता है, खादी के कपड़े पहिनता है और आपस में भी जी के बिना एक शब्द भी नहीं

कहता" इसी प्रकार के वाक्य हमारी बिना माँग की (Uuwant-ed) समालोचना क अंग बन जाते हैं। दोप-दर्शन की यह प्रवृत्ति पुरुषों का अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाई जाती है क्योंकि प्रत्येक युवती दूसरी युवती से जलती है और अपनी महत्ता एवं उसकी तुच्छता प्रतिपादित करने का सर्वदा प्रयत्न करती रहती है। यदि एक युवती अपनी इच्छा के पुरुष को दूसरी युवती का देखती है तो उसके हृदय में कटु एवं अंध आलोचना प्रायः चलती ही रहती है×। यहाँ पर यह तो ठीक है कि एक बार की बात में ही व्यक्ति के सारे लक्षण ज्ञात हो जाते हैं, कुछ लोग तो आकृति को+ ही गुणों का संकेत मानते हैं, हम इतना न मानें तो भी इतना तो मानना पड़ेगा कि गंभीर समाज में अधिक बातें करना या अधिक विना सिर पैर की छोड़ना यह बतलाता है कि महाशयजी बातून (व्यर्थ ही अधिक बात करने वाले) हैं और जैसा कि स्वाभाविक है दो बातें ऐसी कहेंगे जिनको जानते हैं तो चार बनाकर कह देंगे÷। कोई-कोई व्यक्ति अपनी हीनता-ग्रंथि (Inferiority Complex) तथा महत्ता-ग्रंथि (Superiority Complex) के विना एक पद भी नहीं चल सकते; वे यह नहीं जानते कि घर-घर मिट्टी के ही

× This is an impression very general amongst young women who see the man they would have liked themselves in the possession of another. —Aerial.

+ यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ।

÷ He that talketh what he knoweth, will also talk what he knoweth not. —Bacon.

चूल्हे हैं सभी वढ़-चढ़ कर वातें करते हैं वास्तविक दशा इनसे भी बुरी है, वे यह भी नहीं जानते कि ईश्वर ने इस विश्व में एक से एक वढ़कर बनाया है अपनी डींग मारना व्यर्थ है*। हमारे एक परिचित हैं जो दो पैसे के भी आदमी नहीं हैं न समाज में उनका कोई स्थान है परन्तु जब वातें करेंगे तब मोटर-कार तथा टेलीफोन की ही, कलक्टर से छोटा अफसर तो उनको कभी चाय पीने बुलाता ही नहीं, और सारे बन्धु-बान्धव मर गये चिट्ठियाँ केवल नेहरू और पटेल की ही आती हैं£; आयु अधिक होने से लोग उनसे कुछ नहीं कहते केवल मुस्करा देते हैं जिसका अर्थ वे यह समझते हैं कि यह व्यक्ति मेरे रोब में आगया। जो लोग गंभीर तथा समझदार हैं वे तो यह जानते ही हैं कि कोई न कोई कारण अवश्य है जिससे इतना उज्ज्वल रंग होने पर भी गदहा पशुओं का राजा न बन सका, यदि देवी नगर से बाहर प्रतिष्ठित की गई है तो इसमें भी कोई न कोई रहस्य होगा भले ही हम उसको अभी तक जान न पाये हों; परन्तु फँसते हैं बेचारे सीधे-सच्चे, भोले-भाले, अपढ़ एवं अनुभव-हीन। इसीलिये सुधारक दोप-दर्शी हो परिवर्त्तन चाहा करता है; परन्तु भाई, कुत्ते की पूँछ को एक वर्ष तक सीधी वल्लियों से बाँधे रहो, रहेगी वह टेढ़ी ही; युवावस्था में जिसकी जो आदत बन गई वह जा नहीं सकती। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ अपने जीवन का सारा इतिहास लिये फिरता है उसी से उसका स्वभाव बना

---

* दई कीन्ह अस विश्व अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
—जायसी।

£ साहब क्षमा करना, हमको सत्य लिखना ही पड़ता है आपकी मान-मर्यादा के लिये आपका नाम नहीं दिया।

है, आप उसके इतिहास को बदल नहीं सकते इसलिये वृद्धावस्था में सुधार की सम्भावना नहीं है। अस्तु, अपने मन को मैला क्यों करते हो, निर्लिप्त द्रष्टा बन कर संसार को देखो यदि कहीं गुण दिखाई पड़े तो उसको दौड़कर ग्रहण करलो; यदि कहीं दोष दिखाई पड़े तो उस पर कड़ी दृष्टि रखो कहीं तुम्हारी दुर्बलता से वह तुम में भी न आ जावे। साधारण व्यक्तियों से नहीं तो कम से कम सुधारकों से तो हमको यही कहना है कि "हमें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है।"×

अब हम प्रौढ़ व्यक्तियों के अनुभव पर विचार करते हैं। यह अनुभव ऊपर के परिच्छेद में दिये हुये क्षणिक अनुभव (पुस्तकालय, बस (Bus), रेलगाड़ी, राशन की दूकान आदि के) से भिन्न है। यहाँ सांसारिक जीवन के कुछ वर्ष विताते-विताते हमको अपने मित्रों, बन्धुओं, तथा सम्बन्धियों से व्यवहार करते करते एक प्रकार के घोर नैराश्य+ (Frustration) का कटुतम अनुभव होता है, और हम:—

प्रौढ़ व्यक्तियों का अनुभव

"कितनों को अपना समझा था,
कितनों पर विश्वास किया।
कितनों से आशा क्या-क्या थी,
कितनों को था प्यार किया॥"÷

× प्रसाद : अजातशत्रु।

+ देखी जग की प्रीति मीत सब झूठे पड़ि गये।

÷ अतीत : भीष्मार्त्त।

कहते-कहते सभी प्रियवादियों* एवं सज्जनों का 'धोखेबाज' शब्द से स्वागत करते हैं। हम यहाँ कहेंगे कि संसार के लोग प्रीति का निर्वाह नहीं करते, इसलिये हमको तो घृणा होगई है:—

"आपस में प्रेम निभाना, जग ने सीखा न सिखाया।
जग मुझको कभी न भाता, मैं भी न जगत् को भाया॥÷

परन्तु मित्र, आपने भूल की। यदि आप अपने कच्चे ज्ञान के कारण काँच को कंचन समझ बैठे तो इसमें संसार का क्या दोष; यदि दूध का जला हुआ छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है तो पीता रहे परन्तु उसको इस बात का अधिकार नहीं कि अपने दूध के अनुभव से हमारी मलाई की बरफ को भी गरम बतलावे। वस्तुतः मनुष्य अपने दोष को दूसरों के सिर मढ़ दिया करता है। भूल तुम्हारी है जो तुम अच्छे और बुरे व्यक्ति का भेद नहीं समझ सकते, तब करो पश्चात्ताप और करो अपने रक्त तथा अपनी शक्ति को स्वाहा। परन्तु संताप× से कोई लाभ नहीं, कटु अनुभव से लाभ उठाकर भविष्य में सचेत रहो; और बहुत संभव है इस मित्रता की असफलता में मित्र की अपेक्षा आपका अधिक हाथ रहा हो, क्या आपने अपने व्यवहार की भी परीक्षा की है; आप सब को बुरा कह देते हैं इसका अर्थ यही है कि आपकी तराजू

---

* मधु-सम वचन, कुलिस-सम मानस, प्रथमहि जानि न भेला
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल, गरुअ गरब दुर गेला॥
— विद्यापति।

÷ अर्थात् : मैं प्यासा।

× सन्तापाद् भ्रश्यते रूपं, सन्तापाद् भ्रश्यते बलम्।
सन्तापाद् भ्रश्यते ज्ञानं, सन्तापाद् व्याधिमृच्छति॥
—विदुरनीति।

में ही पासंग (दोष) है, जिससे तोलने पर प्रत्येक व्यक्ति हलका जान पड़ता है+,

बात यह है कि संसार में रहकर दूसरों के दोष देखना बहुत सरल काम है। जो काम हमारी रुचि के अनुकूल न हो, वही दोष है; दोष की इतनी सस्ती कसौटी कितने दिन चलेगी। जब तक हम अपने को उदार बनाकर "सर्वभूत हिते रता:"÷ न बनेंगे तब तक हमको दूसरे के दोष देखने का भी कोई अधिकार नहीं है। "अत्याचारी समाज पाप" कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है, पर वह स्वयं नहीं सुनता"‡। जिस बात को आप पाप या दोष कहना चाहते हैं वह आप में भी वर्त्तमान है पहिले उसको दूर कीजिये तब दूसरे को भला बुरा कहिये। जो दोष स्वयं में वर्त्तमान हैं उनके कारण दूसरों को बुरा कहने वाला व्यक्ति महात्मा विदुर के शब्दों में 'महामूर्ख' है :—

दूसरों के दोष देखना बड़ा सरल काम है।

"परं क्षिपति दोषेण, वर्त्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः, स च मूढ़तमो नरः॥"

(विदुरनीतिः)

(जो दोष अपने में वर्त्तमान हैं, उनके कारण दूसरे को बुरा कहने वाला तथा सामर्थ्य के बिना क्रोध करने वाला व्यक्ति

+ "The man who seeks to have a higher morality than that of his people is on the thrshold of immorltay"—Bradley.

÷ सब प्राणियों के हित में लगे हुये।

‡ प्रसाद—'विजया' नामक कहानी से।

महासूत्र है) महात्मा कबीर ने भी ऐसे दंभी व्यक्ति के लिये यही कहा है कि वह दूसरे के छोटे दोष को भी देखकर मन में हँसता हुआ (अपने को निर्दोष समझने के कारण) चला जाता है, उसको अपने वे दोष नहीं दिखाई पड़ते जिनका न आदि है न अंत है×।

अपने दोषों को देखा भी कैसे जाय ? ऐसे व्यक्ति बहुत थोड़े होते हैं जो आत्म-विश्लेषण (Introspection) करने बैठें और लिप्त रहकर भूल न करें—आवेश में आत्म-विश्लेषण तो प्रायः सभी करते हैं परन्तु वह गंभीर नहीं होता और इसलिये सदोष रहता है। तब दूसरा उपाय है दूसरे व्यक्ति की आलोचना से अपने दोषों को सुधारना। जिस प्रकार हम अपनी आँखों से ही अपना रूप नहीं देख सकते हैं प्रतिबिंब के द्वारा ही देख सकते हैं+ उसी अपने गुण दोषों को देखने का एकमात्र उपाय है यह देखना कि दूसरे के चित्त पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है; परन्तु ध्यान एक बात का रखना होगा कि हम संसार की÷ सम्मति को ही सब कुछ समझकर भूल न करते रहें नहीं तो फल उलटा ही होगा। हमें ध्यान रखना ही होगा कि हमारी प्रशंसा या निंदा किस दिशा से आ रही है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हमारी प्रशंसा करता है जिसका हम कुछ भला कर सकते हैं तो प्रायः वह प्रशंसा नहीं खुशामद होगी; और यदि प्रशंसा ऐसे क्षेत्र से आती है जिसके आपके

× दोष पराये देखकर, चला हसंत-हसंत।
अपने दीठि न आवई, जेहि का आदि न अंत॥ } कबीर

+ Tell me good Brutus can you see your face ?
No cassius for the eye sees not itself
But by reflection. (Julius Caesar)

÷ You have too much respect upon the world
They lose it that do buy it with much care.
(The Mearchant of Venice)

महान् कार्य का महत्व नहीं ज्ञात हो सकता तो वह व्यर्थ है, ❀ भले ही आपको राज्य में मन्त्री का पद दिलवा सके—प्रजातंत्र का यह दोष साहित्य तथा प्रतिभा के क्षेत्र में तो आना ही न चाहिए। अपने से बड़ों † द्वारा की गई प्रशंसा प्रायः सच्ची नहीं होती प्रोत्साहन भर होती है; हाँ उनका दोष-दर्शन अवश्य ही ध्यान देने योग्य है—जो हमसे बड़े हैं वे यदि हमारे दोष बतलायें तो हमारा अहोभाग्य, वे हमारे सच्चे हितैषी हैं और सदा हमारे भले को ही सोचेंगे। या फिर हमारा हितैषी मित्र हमारे कर्म की जाँच कर हमको उचित सम्मति दे सकता है। हमारे बराबर वाले एवं प्रतियोगियों से आई आलोचना भी प्रायः हमारे लिये हितकर होती है; क्योंकि वे हमारे छोटे से छोटे दोष को भी देख लेते हैं और इन छोटी-छोटी बातों का जीवन में बड़ा महत्त्व है—छोटी-छोटी बातों पर ध्यान रखने से संसार के बड़े-बड़े काम हो जाते हैं×, और छोटे-छोटे अपराध करने से मन में खटाई पड़ जाती है और अपने भी पराये हो जाते हैं*—शायद इसीलिये कवि ने निंदक को बड़ा महत्त्व दिया है:—

❀ Common fame is a bad messenger, but a worse Judge—Bacon

† वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा विद्यावृद्ध।

× Trifles make perfection and perfection is no trifle.—Samuel Smiles : Self-help.

* 'Tis not love's going hurts my days.
But that it went in little ways.
Dale Carnegie द्वारा उद्धृत।

"निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी, साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय॥"×

—कबीर।

यदि हम पक्षपात रहित होकर देखें तो हमको ज्ञात हो जावेगा कि संसार में दोष ही नहीं हैं गुण भी हैं -- और गुण ही अधिक हैं दोष बहुत ही कम। कमी गुण या गुणवानों की नहीं गुण को समझने वालों की है÷; क्योंकि यदि हम गुण का मूल्य नहीं समझते तो वह गुण भी हमारे लिये दोष ही बन जाता है+। प्रायः हमारी दृष्टि ईर्ष्या और द्वेष से कलुषित होती है, इसलिये हमको सत्स्वरूप के नहीं होते। इसलिये "दुनिया के लोग अनायास ही (सबको) बदनाम करते हैं, (परन्तु) मैंने तो हर एक बुरे को अच्छा ही पाया‡"। सत्य तो यह है कि गुण तथा दोष सभी में होते हैं, परन्तु हम या तो अपने को बड़ा

संसार में गुणों की कमी नहीं

मानते हुये या दूसरे के गुणों से जलकर उसके गुणों को जानते हुये भी संसार के सामने उनको प्रकाश में नहीं लाना चाहते, अन्यथा उस व्यक्ति की महत्ता सबको ज्ञात हो जावेगी। यह भी देखा गया है कि जो गुण हममें नहीं आसका उसको हम दूसरों में देखकर उसकी हँसी उड़ाकर

× निंदा करने वाले को सदा अपने पास रखना चाहिए; वह पानी और साबुन के बिना ही स्वभाव को निर्मल (साफ) कर देता है।

÷ गुन न हिरानो गुन-गाहक हिरानो है।

+ गुणा गुनज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषा।

‡ प्रेमचंद: प्रेमाश्रम।

टाल दिया करते हैं; या उस गुण की निंदा करते हैं। धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, स्वस्थ-रोगी, सज्जन-उचक्का, गंभीर-उथले, उपकारी-स्वार्थी आदि के परस्पर वैर का यही कारण है। जब एक व्यक्ति आपसे किसी की बुराई करे तो समझ लीजिये कि उसमें उस अनुकरणीय गुण की कमी है और वह इस कमी को स्वयं भी समझता है।

अन्त में यदि "इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है; इसी पर देवताओं का निवास होगा॥" तो हमको यह समझ लेना चाहिए कि 'इस छोटे से जीवन में' हम अपने समय अपने विकास तथा आत्मिक विस्तार में लगावें; दूसरे व्यक्ति में दोष भी होंगे परन्तु उनको देखकर हम अपना मन तथा अपना समय क्यों बिगाड़ें; यदि दोष देखने हैं तो अपने देखें जिससे उनको दूर भी किया जा सके—दूसरे के दोष तो हम दूर नहीं कर सकते, फिर उनकी खोज-बीन से क्या लाभ ? जो व्यक्ति सारे संसार में उसी परम पिता की परछाँई देखता है उसे कहीं भी मलिनता दिखलाई नहीं पड़ेगी—क्या यह संभव है कि जिस भवन में हम सूर्य का प्रकाश देख रहे हैं उसमें हमको अंधकार भी दिखाई पड़ सके:--

उपसंहार

"यह विराट् जगत् अनन्त ज्योति से प्रकाशमय हो रहा है, इसका एक-एक परमाणु, उसी ज्योति से आलोकित है। यहाँ किसी मनुष्य को नीच या पतित समझना ऐसा पाप है जिसका प्रायश्चित नहीं*"

॥ स्कन्दगुप्त।

* प्रेमचंद : प्रेमाश्रम।

हिन्दी-चित्रपट

(सिनेमा)

(१) विषय-प्रवेश—प्राचीन समाज तथा अभिनय.
(२) आधुनिक रंगमंच.
(३) नवीन युग की सुविधाएँ.
(४) कला का विकास.
(५) सिनेमा के अंग.
(६) कथावस्तु पर प्रकाश.
(७) क्या इसको शिक्षा का साधन मात्र बनाया जावे.
(८) दर्शकों का निर्णय.
(९) अंतिम बात.

प्राचीन साहित्य को बार-बार पढ़ने पर भी मुझको किसी भी पुस्तक में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पिता या आचार्य ने नवयुवकों को यह सम्मति दी हो कि 'वत्स' कभी अभिनय (नाटक) देखने मत जाना —विद्यार्थी को जहाँ "मातृदेवो भव"× "पितृदेवो भव"+ "पापे मनो मा कृथाः"÷ इत्यादि उपदेश दिये जाते थे वहाँ "अभिनयदर्शको मा भूयाः"※ जैसा कोई भी सूत्र खोजने पर भी न मिलेगा। कारण यह नहीं कि

× माता का पुजारी हो।
+ पिता का पुजारी हो।
÷ पाप में मन मत लगाओ।
※ नाटक देखने वाला मत हो।

उस समय नाटक द्वारा छात्रों को शिक्षा दी जाती थी, या छात्र मनोरंजन के लिये ही कभी-कभी नाटक देखने जाया करते थे। प्रत्युत यह कि वैदिक युग का छात्र कुलपति के निकट आश्रम में रहता हुआ २५ वर्ष तक तो प्रकृति से परिचय एवं अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास किया करता था; नागरिकों के बीच जाकर अभिनय का आनन्द लेने का अवसर ही न मिलता था; परन्तु यदि हम उस समय के छात्र को आज के दिन-रात पढ़कर अपने कमरे में ही पाठ करते-करते व्यावहारिक सभ्यता से वंचित रह जाने वाले छात्र के समान समझेंगे तो भूल करेंगे। निस्सन्देह वह भिक्षा के लिये नगर में जाता था, समारोहों में भाग लेता था, तथा लव-कुश के समान§ नाटक कला का ज्ञाता ही न था प्रत्युत नट भी हो सकता था।

विषय-प्रवेश

यह भी असंभव नहीं कि छात्र-गण कभी-कभी आश्रम में अभिनय भी किया करता हो। फिर आप उसको किस प्रकार शिशु-सरल कहते हैं? ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय के समाज को न तो किसी वस्तु से घृणा थी न अत्यधिक प्रेम, वह देश काल-पात्र के आधार पर किसी भी वस्तु की आवश्यकता तथा मात्रा निश्चित किया करता था। इसीलिये गृहस्थ जीवन बिताने वाले "सहृदय" लोग तो नाटक देखना सभ्यता का एक विशेष अंग समझते थे परन्तु छात्र या सन्यासी इससे अपेक्षाकृत (Comparatively) विरक्त थे। हाँ आश्रमों में छात्र उसी प्रकार का अभिनय किया करते थे जिस प्रकार का कि आज भी विद्यालयों में होता है;

§ रामायण का अभिनय राम की ही सभा में महर्षि वाल्मीकि की देखरेख में लव तथा कुश ने किया था।

इसमें केवल उन भावों का प्रदर्शन रहता होगा जो इस जीवन के लिये उपयोगी थे—उस समय कला को जीवन, आदर्श तथा उपयोग से अलग रखकर न देखा जाता होगा।

काल-चक्र घूमता रहा। हमारे रंगमंच ने यूनानी रंगमंच से मित्रता की, फिर पारसीय रंगमंच की कुत्सितता भी घर में बस गई। बीच में कई उतार-चढ़ाव थे; अन्त आज का रंगमंच है। जिन लोगों को **स्वाँग** (एक प्रकार का भद्दा (Gross) अभिनय, जो असंस्कृत जनता में अधिक प्रचलित है), **रास** (प्रधानतः कृष्ण के जीवन की तथा सामान्यतः पौराणिक कथाओं पर आश्रित लीलाओं का अभिनय), **नाटक** (किसी भी रूपक का अभिनय), **संवाद** (कथोपकथन (Dialogue) मात्र संगीत, नृत्य आदि से रहित एवं सिनेमा देखने का अवसर मिला है, वे यदि पक्षपात रहित होकर विचार करेंगे तो हमारे

आधुनिक रंगमंच

इस मत से सहमत होंगे कि अभिनय के इन पाँचों रूपों में सिनेमा सब से बढ़कर है। मैं यह लेख सिनेमा के समर्थन में नहीं लिख रहा प्रत्युत आधुनिक युग के चमत्कारों से हम डर कर भाग नहीं सकते, यह मेरा विश्वास है; इसलिये सिनेमा को देश में मनोरंजन का स्थिर साधन (जो कुछ समय में प्राचीन अभिनय का अनिवार्य स्थान ले लेगा) मानकर मैं उसको साहित्य की ही एक शाखा समझने लगा हूँ और इसीलिये उसकी आलोचना को इस संग्रह में स्थान देना चाहता हूँ— चित्रपट के कुछ दोष भी हैं; उनमें सुधार तो रहा है और, और भी अधिक किया जा सकता है। यदि हम उसको शुद्ध भारतीय

आदर्शों पर ले जा सके, तो निश्चय ही वह "शिक्षा का एक प्रधान साधन" बन जावेगा।

आजकल के वैज्ञानिक युग में रंगमंच को कई सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं; इनके कारण यह अधिक समर्थ तथा अधिक रमणीय बन गया है। सामान्यतः मनुष्य की अपेक्षा मशीन का काम अधिक आकर्षक बन जाता है; जिस प्रकार हस्तलेख की अपेक्षा टाईप (Type) या छापा (Printing), गायक की अपेक्षा ग्रामोफोन, घोड़े की अपेक्षा बाइसिकिल अधिक मनोरम प्रतीत होती है उसी प्रकार सामान्य अभिनय के स्थान पर अभिनेताओं तथा अभिनेत्रिओं का सभी कार्य मशीन द्वारा दिखाया जाना दर्शकों को अधिक भाता है। यह हम नहीं कह सकते कि 'कल' (Machine) तथा 'कला' (Art) का सम्बन्ध कितना घनिष्ट है, परन्तु प्राणियों को अपनी सेवा में प्रस्तुत देखकर हमको जो एक आनन्द-ह्रासक मनोवैज्ञानिक संकोच होता है (शायद इसलिये कि दूसरे प्राणी को अपने मनोरंजक का साधन (Means for our amusement) बनाना हमारी मनुष्यता को अखरता है), वह मशीन की सेवा का उपभोग करने में उपस्थित ही नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्राचीन आचार्यों ने रंगमंच की सदोषता के कारण जिन दृश्यों को वर्ज्य बतलाया था उनका प्रदर्शन भी आज सुगम होगया है। आचार्य विश्वनाथ* ने जो दूराह्वान (दूर से पुकारना),

नवीन युग की सुविधाएँ

---

* दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।

वध, युद्ध आदि को रंगमंच पर न दिखलाने का आदेश दिया था, इसका कारण यह है कि कम से कम युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव वध, तथा नगरोपरोधन (नगर का घेरा डालना) आदि तो दिखलाये ही न जा सकते थे। परन्तु आज के रंगमंच पर ये सभी वस्तुएँ सफलतापूर्वक दिखलाई जा सकती हैं; साथ ही साथ नदी की बाढ़, कारखानों में आग लगना, रेलगाड़ी या मोटर के नीचे मरना, घरों का गिरना, वायुयान आदि सभी बातें ज्यों की त्यों दिखाई जा सकती हैं।

इस कला का विकास और भी अधिक हो चुका है। यदि एक व्यक्ति नृत्य में निपुण है और दूसरा संगीत में तो दोनों के गुणों को मिलाकर दर्शकों के सामने रखा जा सकता है—नर्तक अंगभंगियों के साथ-साथ अधरोष्ठ-चालन (ओठों का ऊपर-नीचे करना) करेगा, परन्तु उसका स्वर आपको सुनाई न पड़ेगा स्वर आप दूसरे नट (Actor) का सुनेंगे। इसी प्रकार रूसी चित्र "नई तालीम" को देखने से एक दूसरी ही नवीनता मिलती है, नट रूसी हैं इसलिये हिन्दी नहीं जानते, उनकी जिह्वा को मशीन से रोक दिया गया है, जो स्वर सुनाई पड़ता है वह हिन्दुस्तानी व्यक्तियों का है परन्तु वे नट बनकर नहीं आते—इस प्रकार एक विदेशी चित्र का अभिनय भी उस देश की भाषा को जाने बिना सफल हो सकता है। अब कुछ दूसरी बातें देखिये।

शयनाधरपानादि नगराद्युपरोधनम्।
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो......॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

कला का विकास

प्राचीन नाट्यशास्त्र में "अश्राव्य" (स्वगत), "सर्वश्राव्य" (प्रकाश); "अपवारित"; "जनान्तिक", तथा "आकशभाषित"※ आदि उक्तियों के के भेद माने गये हैं, आजकल का रंगमंच इन सबका तो उपयोग करता ही है पात्रों के स्वप्न तथा विचारधारा को भी दिखला सकता है। जब कोई व्यक्ति सोता होता है तो उसके मस्तिष्क में जो छाया-चित्र घूमा करते हैं उनका सफल प्रदर्शन भी हमको इस वर्ष के चित्रों में देखने को मिला×। विचारों का चित्ररूप में प्रदर्शन भी प्रशंसनीय है÷। इसी भाँति संगीत की सहायता से टुकड़ों में विभाजित देश को स्वतन्त्र तथा एक बनाने की कथा भी ज्यों कि त्यों चित्रों द्वारा दिखला दी गई है÷। इसी प्रकार की दूसरी बातें भी ध्यान से जानी जा सकती हैं। पुराने रंगमंच पर जो कोई पत्र दिखलाया जाता था उसको आगे बैठे हुये दर्शक ही देख सकते होंगे, पीछे वाले नहीं परन्तु आज मशीन के के द्वारा हम उसको इतना स्पष्ट दिखला देते हैं जितना शायद प्रत्येक दर्शक हाथ में लेकर भी न देख सकता होता+।

※ अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्।
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् तद्भवेदपवारितम्।
रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्त्य प्रकाश्यते।
त्रिपताक करेणान्यानपवार्य्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यमन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।
किं ब्रवीपीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते।

× देखिये "घर की इज्जत" तथा "जिद्दी" आदि।

÷ दे० "स्वयंसिद्धा"

+ दे० "अपना देश"।

आलोचक प्रवर आलोचना के लिये साहित्यिक नाटकों के ६ अंग माना करते हैं — कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, शैली, तथा उद्देश्य। वर्त्तमान सिनेमा में तो यह सब बातें तो देखनी ही हैं, इनके अतिरिक्त भी कुछ वस्तुएँ देखनी पड़ती है। ये हैं — संगीत, अभिनय तथा नृत्य। सिनेमा केवल साहित्य ही नहीं है, इसका महत्व आज काव्य बनने में नहीं रहा, इसकी कथा को पढ़कर कोई भी आनन्दित नहीं हो सकता, इसका सफलता मनोरंजन से अधिक है इसलिये संगीत, अभिनय नृत्य का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। यह नियम इस बात को भी बतलाता है कि सिनेमा-साहित्य स्थायी क्यों न हो पाया। इसमें दिन-प्रतिदिन कला का विकास तो होता जाता है, परन्तु साहित्य को स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सकता। कथावस्तु पर हम आगे विचार करेंगे। चरित्र-चित्रण में

सिनेमा के अंग

आजकल हम स्वाभाविकता अधिक चाहते हैं, काव्यों की अपेक्षा सिनेमा के पात्र अधिक अनुकरणीय बन जाते हैं, आज का कलाकार साधारण पात्रों को ही लेकर चलता है और उनके ऊपर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात तथा प्रतिक्रिया दिखलाता है, ये पात्र वर्ग-प्रतिनिधि बनकर ही अधिक आते हैं व्यक्तियों के रूप में नहीं। कथोपकथन का आज भी उतना ही महत्त्व है, पात्र विशेष के कारण कोई कोई कथोपकथन गम्भीर हो जाता है कोई कोई हास्योत्पादक; "घर की इज्जत" के कथोपकथन दर्शकों को हँसाते-हँसाते लोटपोट कर देते हैं और विशेषता यह है कि सारा स्वाभाविक गृहस्थ जीवन तथा उच्च श्रेणी का है। "स्वयंसिद्धा" में मजिस्ट्रेट तथा डाक्टर का वार्तालाप गंभीर है, जब वह डाक्टर से पूछता है कि "तुम्हारी चंडी देवी से क्या पुरानी

मुलाकात है?" तो साधारण दर्शक उसको मनोरंजन भर समझता है वस्तुतः ऐसा है नहीं, डाक्टर पंजाब का हत्यारा था और चंडी देवी उसको जानती थी; मजिस्ट्रेट के इस प्रश्न से वह चौंका और मजिस्ट्रेट तुरंत ही समझ गया कि दाल में कुछ काला है। आज का सिनेमा देश-काल के लिये विशेष महत्व रखता है। अधिकतर चित्र वर्त्तमान जीवन के होते हैं और इनमें खाने-पीने पहनने, बिछाने आदि का आदर्शवाद होता है, ८० प्रतिशत दर्शक इन चित्रों को देखकर ही आगे बढ़ना सीखते हैं जो आदर्श चित्र उनको वहाँ दिखाई पड़ जाते हैं वे इस जीवन में कहाँ सुलभ हैं; इस भाँति किसी फैशन, प्रथा या कला के प्रचार का सबसे अच्छा साधन भी सिनेमा ही है। आजकल के इन चल-चित्रों का उद्देश्य क्या होता है? प्रश्न सचमुच कठिन है। सभी चित्रों का प्रधान उद्देश्य धन कमाना तथा दूसरा नाम कमाना, एवं तीसरा कला का विकास है। इससे आगे कुछ का उद्देश्य होता भी है और कुछ का नहीं भी होता है। "दूसरी शादी" न केवल दूसरे विवाह (पहिली पत्नी के जीवित रहने पर, संतान के लिये ही) के विरोध का प्रचार करती है, प्रत्युत छूआछूत के भेद को मिटाने में भी सहायक होती है×। इसी भाँति "गृहस्थी", "अपना देश", "ज़िद्दी" आदि चित्र भी कुछ न कुछ सिखलाने के लिये ही हमारे सामने आते हैं, परन्तु "चित्र रेखा" में अभिनय ही मुख्य है, और कुछ नहीं। यहाँ हम अंगों की नई पंक्ति—संगीत, अभिनय तथा नृत्य—पर

× यह बात दूसरी है कि इसके एक गीत "कोई बहाना करके आजा, भंगिन की छोकरिया" ने कई स्थानों पर सवर्ण हिन्दुओं तथा हरिजनों में लाठियाँ चलवा दीं; परन्तु लिखने वाले ने इस कुफल को सोचा भी न होगा।

आ जाते हैं। यदि "गर्ल्स स्कूल", "घर की इज्जत" तथा "दर्द" आदि चित्रों पर विचार करते हैं तो प्रथम में कोई विशेष उद्देश्य तो नहीं प्रतीत होता कथा चलकर विवाह में अवसित हो जाती है अंत का एक गीत+ शायद भरतवाक्य का काम करता हुआ "आशावाद" (Optimism) का प्रचार करता है, प्रसंगत शिक्षा, विवाह तथा सुधार सम्बन्धी नवीन विचार भी आ जाते हैं तथा विद्यार्थियों की दुर्दशा एवं सेठों के अत्याचार भी दिखलाई पड़ जाते हैं, एक स्थान पर ग्रामीण जमींदार गृहस्थ का भी सुन्दर चित्र है, फिर भी इस चित्र का प्रभाव बड़ा स्वस्थ पड़ता है❀। दूसरे में भी कोई एक उद्देश्य न होने से निर्माता को कोई सुन्दर नाम शायद न मिल सका, अंत उसका भी सुन्दर है—गरीबी का दोष कीमती हृदय को पाकर मिट जाता है। "दर्द" का प्रधान उद्देश्य शायद प्रेम का दर्द ही दिखाना है, इसीलिये इसमें कुछ गीतों को छोड़कर और कुछ नहीं है।

संगीत, अभिनय, तथा नृत्य में से संगीत का महत्व सबसे बढ़कर है। इसका कितना प्रभाव होता है, यह "दर्द" नामक चित्र से स्पष्ट हो जायगा; इसके २ प्रसिद्ध गीतों में से सुरैया का यह गीत तो, शुद्ध उर्दू में होते हुये भी, प्रत्येक हिन्दी-सेवी की जीभ पर भी नाचता रहता है:—

+ साँचे का है बोलबाला जगत में, झूँठे का मुँह काला ॥

❀ दर्शक प्राय: आशावाद का ही वातावरण देखता है। ईश्वर सर्वत्र सबकी रक्षा करता है, मनुष्य विश्वास पूर्वक सत्पथ पर बढ़ना चाहिए:—

"क्या न तुम्हारा दिल घबराता ?"
"सब का रक्षक है वह विधाता"।

"य फसाना लिख रही हूँ, दिले बेकरार का।
आँखों में रंग भर कर, तेरे इंतजार का॥"

इसी प्रकार "करवट" नामक चित्र में यदि कुछ है तो केवल एक गीत ही ×। हाँ याद यह रखना होगा कि इन गीतों में लय तथा गति (Tune) ही प्रधान है, इन गीतों का अर्थ नहीं। इसलिये अनेक व्यक्ति गुनगुनाते हुये न तो पूरा गीत जानते हैं, न उसका अर्थ ही। कला का इतना विकास कि अर्थ का लोप ही हो जावे, संगीत में सदा से ही रहा है; आज भी वही सनातन सत्य यथापूर्व वर्त्तमान है। अभिनय से हम भाव-प्रकाशन तथा कथोपकथनों की सफलता में सहायता लेते हैं और नृत्य एक अलग कला है सरसता के लिये इसका उपयोग अभिनय में भी हो जाता है।

संगीत, अभिनय तथा नृत्य

परन्तु सामान्य व्यक्ति के लिये तो कथावस्तु का ही महत्त्व अधिक है। अब तक अधिकतर चित्रों में प्रेम की कथा ही हुआ करती थी और उसका अन्त प्रायः वियोग तथा कभी-कभी संयोग में हुआ करता था। कथा की काँट-छाँट में आज का कलाकार बड़ा चतुर है, वह समयानुकूल परिस्थिति से कथा को लेता है और प्रायः किसी सामाजिक समस्या पर नवीन प्रकाश की ज्योति फेंकता है। आज के प्रेम में नायक तथा प्रतिनायक नहीं हुआ

× मैं कहती रही चल-हट चल-हट,
दीवाना गया दामन से लिपट,
कभी इस करवट,
कभी उस करवट॥

करते (प्रतिनायिका तो हो सकती है, परन्तु समाज बाधक होता है। बात यह है कि आज समाज में विषमता—धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, पढ़े-अपढ़, नवीन-विचार सनातन विचार आदि की—इतनी अधिक है कि प्राय: स्वभाव न मिलने से गृहस्थ जीवन विषम हो जाता है, प्रेम पूरा नहीं हो पाता। "कनीज" तथा "घर की इज्जत" आर्थिक विषमता के कारण गृहस्थ-जीवन या तो बना नहीं, बना तो सुखी न रहा। इसका चरम-विकास "जिद्दी" में है, और विशेषता तो यह है कि वह हठ (जिद्दी) सफल तथा सुखकारिणी होती है।

कथावस्तु पर प्रकाश

कथावस्तु में कभी-कभी किसी "भूल" (Misunderstanding) का आ जाना बड़ा उपकार बन जाता है। भासकवि के "मध्यम व्यायोग*" नाटक में मध्यमपाण्डव (भीम) का एक भूल के कारण ही आना होता है और वह कथा का आधार बन जाता है। "अभिज्ञान शाकुन्तलम्"× में "शाकुन्त-लावण्य' शब्द से जब बालक भरत चौंकता है तभी तो दुष्यंत को उस आश्रम में शकुन्तला का ज्ञान होता है। इसी प्रकार "गर्ल्सस्कूल" में जब "शान्ति मजूमदार', तो एक महिला समझकर स्कूल में नौकरी करने के लिये बुला लिया जाता है, तभी तो नाटक की वास्तविक कथा प्रारंभ होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये कथाकार संस्कारवादी अधिक हैं; या संयोगवादी÷; क्योंकि किसी अपरिचित से किसी संयोगवश परिचय कराकर उसका अंत आजीवन

* भासकवि रचित संस्कृति का एकांकी नाटक।

× कालिदास रचित प्रसिद्ध शाकुन्तला नाटक।

÷ दे० इसी संग्रह में हमारा लेख "मित्रता और प्रेम"।

संयोग में करा देना एक आश्चर्य तथा भाग्यवाद नहीं तो और क्या है ?

अब प्रश्न यह है कि इन चल-चित्रों को जीवन में क्या स्थान देना चाहिए। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रचार का जितना सफल साधन सिनेमा हो सकता है उतना कोई दूसरा नहीं। यह भी सब लोग स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का भी इससे अच्छा साधन दूसरा नहीं हो सकता। छोटे-छोटे बच्चों को इतिहास तथा भूगोल पुस्तकों से क्यों पढ़ाते हैं, चित्रपट पर साक्षात् चित्र देखने दीजिये उससे अधिक लाभ होगा।

क्या इसको शिक्षा का साधन-मात्र बनाया जावे

अमरीका तथा रूस में जनता की क्या दशा है, शासन किस प्रकार होता है. इन बातों को कानों से सुनकर कम ज्ञान होगा, आँखों से देखकर अधिक। इतना ही नहीं सामाजिक सुधार, राष्ट्रीयता, सह-शिक्षा, सत्स्वास्थ्य, राष्ट्रीय सेना में भर्ती तथा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुओं का प्रचार (युवकों तथा प्रौढ़ों को शिक्षा) सिनेमा द्वारा अधिक सफल होता देखा गया है ; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं। सिनेमा घर को आप आर्यसमाज मंदिर क्यों बनाते हैं ? नाटक में "रामादिवत् वर्त्तितव्यं न रावणादिवत्×" को उचित से अधिक स्थान न मिलना चाहिए और न "कान्तासम्मितता"+ ही सब कुछ हो जाय। जब तक उपदेश तथा रमणीयता, भाव तथा कला, अर्थ तथा शब्द गाड़ी के दो चक्रों के समान साथ-साथ न चलेंगे

× राम आदि के समान आचरण करना चाहिए, न कि रावण आदि के समान।

+ रमणी के समान मोहकता।

तब तक हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। आजकल अधिकतर चित्र तो केवल रमणीयता के ही लिये आते हैं, और प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरा दल केवल "धार्मिक" चित्रों के ही पक्ष में है; परन्तु यह भूल है सिनेमा केवल शिक्षा तक ही सीमित नहीं रह सकता।

दर्शकों का नियम

प्रश्न एक दूसरा भी है। क्या सिनेमा-घरों में प्रत्येक व्यक्ति को आने दिया जावे? 'सुधारक' कहते हैं—"सरकार ऐसा नियम बनावे कि पढ़ने वाले लड़के और लड़कियों को सिनेमाघरों में न घुसने दिया जावे", "जिस व्यक्ति की आयु १८ वर्ष से कम हो उसका सिनेमा देखना एक अपराध माना जावे", "जो व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) विवाहित न हो, उसको सिनेमा देखने की आज्ञा न मिले" आदि आदि। मेरा प्रस्ताव एक और भी है—"बुरा सिनेमा देखकर भी दर्शक बुरी बातें न सीखे"। भले आदमी, तुम यह भी नहीं जानते कि "मैं पढ़ता हूँ इस बात का तो प्रमाण-पत्र दिया जा सकता है, परन्तु मैं पढ़ता नहीं हूँ, इसको भी क्या सिद्ध किया जा सकता है?" सामाजिक व्यवस्था के लिये समाज का स्तर ही ऊँचा उठाया जाता है, राजकीय नियम नहीं बनाये जा सकते। नियम बनाकर संध्या करना, सत्य बोलना, कविता करना, या प्रेम करना नहीं सिखाया जा सकता—इस प्रकार के कामों के लिये तो आंतरिक प्रेरणा को जागरित करना पड़ेगा और सामूहिक चेतना को पवित्र बनाना पड़ेगा। यदि सिनेमा देखने का अधिकार युवकों को नहीं है तो प्रौढ़ों को भी नहीं है। जितना सुधार या परिवर्त्तन युवकों में हो सकता है उतना प्रौढ़ों में नहीं। इसलिये धीरे-धीरे समाज में सुधार कीजिये, सिनेमाओं को उच्च से उच्चतर बनाइये, उनमें यथार्थ के स्थान पर आद-

शोन्मुख यथार्थ होना चाहिए +। चित्रपटों का सुधार तब माना जावेगा जब हम इनको देखने के लिये अपनी प्रेयसी के साथ-साथ अपनी बहिनों को भी ले जा सकेंगे।

अब तक समय दूसरा था और बहुत सी बातों को हम बाहरी कहकर टाल देते थे। हमने बहुत सी प्रथाओं को दासता का चिन्ह समझकर टाल दिया, बहुत से कामों को अंग्रेजों का प्रचार भर समझते थे। आज नया प्रभात है। अपना वर्त्तमान हम बना रहे हैं और अपना भविष्य भी हम को ही बनाना है। सिनेमा से भागकर हम छिप नहीं सकते। हिन्दी के राजभाषा पद पर आसीन होते ही साहित्य का सारा उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर आ गया है। सिनेमा भी साहित्य का ही एक अंग है, उसमें हमको आवश्यक सुधार करके उसको श्रव्य तथा पाठ्य ÷ साहित्य के समकक्ष ले आना है। उसका स्तर ऐसा होना चाहिए कि वह सभी सामाजिकों (पुरुष, स्त्री, अध्यापक, छात्र, प्रौढ़, युवक) का समान रूप से मनोरंजन करता हुआ उनको आदर्श की ओर ले चले। भेद-विभेद को मिटाना ही तो दृश्य काव्य× का एक उच्चतम आदर्श है।

अंतिम बात

+ दे० इसी संग्रह में हमारा लेख "यथार्थवाद तथा आदर्शवाद"।

÷ श्रव्य=जिसको केवल सुना जा सके, हम देख न सकें।

पाठ्य=जिसको केवल पढ़ा जा सके, हम देख न सकें।

× दृश्य—जिसको देखा भी जा सके।

काव्य के अंग

(१) काव्य का जन्म.

(२) भाव नहीं, प्रत्युत की स्मृति.

(३) कल्पना की आवश्यकता.

(४) भाव-पक्ष या अनुभूति-पक्ष.

(५) कला-पक्ष या अभिव्यक्ति.

(६) भाषा—शब्दशक्ति.

(७) छंद.

(८) अलंकार.

(९) वर्णन तथा प्रकृति चित्रण.

(१०) उपसंहार.

सामान्य क्रिया-कलाप के दृष्टिकोण से मनुष्य तथा पशु में कोई भेद नहीं है; मनुष्य को भूख लगती है वह भोजन करता है, पशु को भी भूख लगती है तो वह चारा खा लेता है; मनुष्य थक कर सो जाता है; जिस प्रकार मनुष्य में भय की प्रवृति स्वाभाविक है उसी प्रकार पशु को भी चाबुक दिखाने से वह हम से डरने लगता है। अन्तर है मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से; मनुष्य भी भूखा है और पशु भी भूखा है, दोनों भूख मिटाने के साधन का भी ज्ञान रखते हैं; परन्तु मनुष्य में एक विशेषता है वह जानता है कि वह भूखा है; पशु इस बात को नहीं जानता। पशु में अपनी

स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Natural Instincts) के ज्ञान की शक्ति नहीं होती, वह चेतन (Conscious) है, आत्मचेतन (self-conscious) नहीं। मनुष्य की यह शक्ति जो उसको पशु से भिन्न बनाती है उसके हृदय-पक्ष से सम्बन्ध रखती है; इसी के कारण उसमें विश्वबन्धुत्व, आत्मत्याग, परोपकार आदि गुणों का स्थायी भांडार पाया जाता है। अस्तु, अपनी भावनाओं का ज्ञान मनुष्य की एक विशेषता हुई। जब मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने तक ही सीमित न रखकर अपने समान उनको समझनेवाले व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित करता है; तभी काव्य का जन्म होता है। काव्य या कविता मनुष्य मात्र के हृदय की शाब्दिक अभिव्यक्ति है; जो कि हृदय साम्य के कारण पाठक या श्रोता के हृदय में भी उन्हीं भावनाओं की सृष्टि कर उसको असाधारण आनन्द प्रदान करती है।

काव्य का जन्म-

यदि अपनी भावनाओं (या पारिभाषिक भाषा में 'अनुभूति' की शाब्दिक अभिव्यक्ति ही काव्य है तब तो प्रत्येक व्यक्ति कवि हो सकता है, क्योंकि सभी में अनुभूतियों (Feelings) होती हैं—सभी में प्रेम, घृणा, उत्साह, भय आदि आते जाते रहते हैं और सभी उनको अभिव्यक्त (Express) भी कर सकते हैं। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं। जब मनुष्य किसी भावावेश (Emotion) में होता है तो वह उस समय साक्षात् पशु है, उसमें समझ या विवेक नहीं होता इसलिये क्रोध के आवेश में हम बहुत सी ऐसी बातें कह और कर देते हैं जिनके लिये कभी-कभी तो हमको जन्मभर पछताना पड़ता है; प्रेम (देश-प्रेम या व्यक्तिप्रेम) के आवेश में जान देने वालों की भी कम नहीं; भय या हर्ष के आवेश में मृत्यु १८ अ

जिस व्यक्ति के पुत्र की मृत्यु होगई है वह, हृदय में अथाह शोक होने पर भी, करुण रस की कविता नहीं लिख सकता ; चोर या डाकुओं के डर से भागने वाला केवल "बचाओ बचाओ" का नारा लगावेगा उस भय को काव्य का रूप नहीं दे सकता। अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) अपनी एक कविता में लिखता है कि जब तक वह झील के किनारे सुमनों के सौन्दर्य को देखता रहा तब तक खोया हुआ था ; परन्तु घर लौटकर जब उसको एकान्त मिला तो उस दृश्य की स्मृति उसके हृदय-पटल पर नाचने लगी।

भाव नहीं ; प्रत्युत भावों की स्मृति

उसने तुरन्त एक मनोहर कविता रच डाली×। इस प्रकार उसी विद्वान् के शब्दों में "काव्य शान्ति के समय में स्मरण किये हुये प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है" (Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility)। जब तक हम पशु बने रहेंगे, हम कविता नहीं

× दे० वर्ड्सवर्थ की डैफोडिल्स (Daffodils) नाम की कविता की ये पंक्तियाँ:—

"I gazed and gaxed but little thought.
What wealth to me the scene had brought.

× × ×

They flash before the inward eye,
Which is the bliss of solitude.
And then my heart with pleasure fills,
And dances with the daffodils."

लिख सकते; मनोवेगों की शाब्दिक अभिव्यक्ति केवल उनकी स्मृति से हो सकती है उनके अस्तित्व से नहीं। यही कारण है कि छाया-वादी अपने प्रेम का केवल स्मरण भर करता है, उस व्यक्ति से कोई सम्बन्ध न मानने के कारण उसका प्रेम अव्यक्त के प्रति होता है+। यह सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि प्रत्येक रस की कविता 'आनन्द' ही क्यों देती है, दुःख आदि क्यों नहीं देती—मनावेगों से दुःख आदि भी मिलता है, उनके स्मरण से केवल आनन्द।

परन्तु हमारा जीवन इतना अल्प है कि हम यदि केवल अपने अनुभव में आये हुए मनोवेगों का ही स्मरण कर उनको काव्य का रूप दें, तो बहुत ही थोड़ी कविता लिख सकेंगे। हमको दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों से भी लाभ उठाना पड़ता है। मित्र के मिलने पर दूसरे को किस प्रकार का और कैसा आनंद होता है, यह भी हमको देखना चाहिए। परन्तु निरीक्षण (Observation) से भी काम कम चलता है; कवि को कल्पना (Imagination) से काम लेना पड़ता है। वह स्वयं किसी प्रिय से

कल्पना की आवश्यकता

वियुक्त न हुआ हो, परन्तु इतना समझ सकता है कि वियोग में इतनी पीड़ा रहती होगी। ध्यान दो बातों का रखना होगा, प्रथम तो यह कि कल्पना या निरीक्षण में हम बाह्य आकृति से भी परिचित अवश्य होते हैं, परन्तु वास्तविक कल्पना अनुभूतियों की होनी चाहिए। जिस व्यक्ति में अनुभूतियों (Feelings) की भी कल्पना की शक्ति नहीं

+ दे० इसी संग्रह में हमारा लेख "रहस्यवाद, छायावाद तथा प्रगतिवाद"।

जो सहृदय नहीं है— वह कवि-प्रतिभा से हीन है, उसके लिये कवि बनना संभव नहीं÷, यदि वह झूँठा अनुकरण भी करता है तो उसका सच्चा (Sincere) प्रभाव+ श्रोता पर नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि क्योंकि कवि सभी बातें अपने अनुभव की ही नहीं लिख सकता, उसका अधिकतर काव्य निरीक्षण तथा कल्पना के आधार पर स्थिर रहता है, इसलिये काव्य से कवि के चरित्र का हमको यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता ×। ध्यान केवल इस बात का रखना होगा कि कल्पना भी प्रायः उसी रस की अच्छी लगती है जो रस अपने को अधिक प्रिय हो, इसलिये यदि काव्य से कवि का चरित्र स्पष्ट न हो तो कम से कम उसकी प्रवृत्ति का तो अनुमान हो ही जाता है। क्योंकि काव्य एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) है, कवि का व्यक्तित्त्व, कम से कम संकेत रूप में अवश्य ही, काव्य से झलकता रहता है*।

यह काव्य का अनुभूति-पक्ष या भाव-पक्ष रहा, जिसका स्थान बड़े महत्त्व का है; जो अपनी प्रतिभा (Talent ईश्वर

÷ मांगी लाया जतन करि, इत-उत अच्छर काटि।
कहै कबीर कब लगि जिये, झूँठी पत्तरि चाटि ॥—कबीर.

+ दे० इसी संग्रह में भूमिका "प्रबंधकला" का दूसरा परिच्छेद।

× दे० इसी संग्रह में "काव्य में कवि का व्यक्तित्त्व"।

* तुलना कीजिये:—
वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान ॥
—पंत।

प्रदत्तशक्ति) द्वारा नित्य नवीन रूप धारण किया करता है। पारिभाषिक+ शब्दावली में "रस" तथा "भाव" से भी यही तात्पर्य समझा जाता है। रस तथा भाव में अंतर केवल इतना है कि अपूर्ण रस को भाव कहते हैं, प्रत्येक रस भाव भी होता है, परन्तु प्रत्येक भाव रस नहीं हो सकता। रस ही काव्य की आत्माहै×, नीरस पद्य-रचना सहृदयों का विषय नहीं। जो रस में सिद्ध है,

अनुभूति-पक्ष

वही महाकवि हो सकता है÷; जो केवल कुछ रसों में ही रुचि रखता है, वह उतना महान् नहीं। रस-सिद्धान्त के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। रस लौकिक वस्तु नहीं और न लौकिक कारणों से उत्पन्न होती है—राम को देखकर मनोरम वाटिका में विचरण करने वाली सीता के मानस में जो रस की उत्पत्ति होती है उसका कथन भर हमारे सामने होता है वास्तविक सीता या राम नहीं, हम उनके उदाहरण से अपनी वासना को रसरूप दिया करते हैं—इसलिये करुणरस, रौद्ररस, भयानक रस आदि का स्थायीभाव शोक, क्रोध, भय आदि होने पर भी हमको स्थायी आनंद की ही प्राप्ति होती है। यह नियम इस बात को भी बतलाता है कि नाटकों या सिनेमाघरों में पैसे खर्चकर के भी हम वहाँ आँसू बहाने क्यों जाते हैं; बात यह है कि दुःखभरे दृश्य का भी अंत हृदय के हलके हो जाने में है—आँसू बहाना भी सदयता ही है, वास्तविक शोक नहीं। अस्तु, जब दर्शक नाटक देखने जाते हैं या पाठक किसी काव्य को पढ़ते हैं तो प्रत्येक जन अपनी आयु, लिंग (Sex), स्वभाव तथा

+ Technical.

× वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—विश्वनाथ।

÷ जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।—भर्तृहरिः।

परिस्थितियों के अनुसार अपने को राम, सीता, लक्ष्मण; दशरथ, रावण आदि के रूप में समझकर उस नाटक या काव्य का रसपान करता है यही साधारणी करण है। जिस काव्य का प्रभाव जितना व्यापक तथा जितना गंभीर पड़ेगा, उतना ही वह श्रेष्ठ समझा जाता है। महाकवियों ने अनुभूति-पक्ष को बड़ा महत्व दिया है-तुलसी, सूर, बिहारी, प्रसाद आदि भाव-पक्ष में प्रवीण थे।

अनुभूति भर से कवि का काम नहीं चलता। बहुत से लोग हृदय में सुन्दर भाव लिये होते हैं, परन्तु उसको अभिव्यक्ति (Expression) नहीं जानते। दूसरों के सुख या दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर हँसना-रोना स्त्रियों में स्वाभाविक होता है, परन्तु सभी कविता तो नहीं कर सकतीं। बात यह है कि कविता के दो पक्ष हुये एक तो भाव-पक्ष तथा दूसरा कला-पक्ष। कल्पना, निरीक्षण या अनुभव से किसी भाव की अनुभूति (Feelings) भाव-पक्ष का विषय है; 'मालव देकर देवसेना का विवाह किया जा रहा है' इस लोकापवाद से डरकर निरंतर प्रेम करते हुये भी स्कंदगुप्त के प्रेम को स्वीकार न करना ❋ तो एक पक्ष हुआ; और इस पश्चात्ताप की अभिव्यक्ति ÷ एक दूसरा ही पक्ष है। कवि यह तो जानता ही हो कि अमुक परिस्थिति में अमुक व्यक्ति

कला-पक्ष या अभिव्यक्ति

के भाव इस प्रकार के होंगे, उसे यह भी जानना चाहिए कि जिस भाव से उसका हृदय नाच रहा है उस भाव को दूसरे व्यक्ति तक उसी शक्ति सहित किस प्रकार

❋ प्रसादजी का नाटक "स्कन्दगुप्त"

÷ आह ! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश मधुकरियों की जीवन-संचित राशि लुटाई।
आह ! बावली आशा मेरी खो दी तूने सकल कमाई॥

पहुँचावे। निश्चय ही अनुभूति कवि की सम्पत्ति है, परन्तु जब तक वह उसकी सफल (ज्यों की त्यों) अभिव्यक्ति न करेगा, तब तक किसी को उसके गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। सामान्यतः अभिव्यक्ति के अंग ४ हैं:—

(१) भाषा।
(२) छंद।
(३) अलंकार।
(४) वर्णन।

इनके अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण आदि पर भी विचार किया जा सकता है, परन्तु 'वर्णन' के अन्तर्गत हम सब कुछ ले सकेंगे। संक्षेप में इन पर विचार कर लेना चाहिए।

आचार्य मम्मट (काव्य प्रकाशकार) ने काव्य की परिभाषा देते हुये कहा है 'दोष रहित, गुणवती, कभी अलंकृत, (कभी-अनलंकृत), शब्दअर्थ मयी रचना काव्य है× महाकवि कालि-दास ने भी शब्द तथा अर्थ के अटूट संबंध को स्वीकार किया है+। भाषा का काव्याभिव्यक्ति में स्थान स्पष्ट है। भाषा का सबसे छोटा अवयव 'शब्द' है। शब्दों की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। प्रथम, 'अभिधा' जिसके द्वारा शब्द का वह अर्थ ज्ञात हो जो कोष में दिया हुआ है जिस प्रकार 'जलद' कहने से 'बादल' अर्थ का बोध होता है। दूसरी शक्ति 'लक्षणा' है, जिससे ऐसे अर्थ का बोध होता है जो कोष-सम्मत अर्थ से भिन्न होता हुआ भी उसी से सम्बन्धित हो, जिस प्रकार "गांधी टोपी जिंदाबाद"

× तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि।

+ वागर्थाविव संप्रक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वती-परमेश्वरौ॥ } रघुवंशम।

वाक्य में 'गांधी-टोपी' शब्द से टोपी विशेष का बोध नहीं होता, प्रत्युत उस टोपी को पहिनने वाले व्यक्ति का बोध होता है; वह हमारी बगल में (पड़ौस में) रहता है,' 'वह सबके सिर पर (प्रधान) है,' इत्यादि वाक्यों में इसी शक्ति की सहायता से अर्थ स्पष्ट होता है। तीसरी शक्ति 'व्यंजना' है, इससे एक नवीन ही

भापा—शव्दशक्ति

अर्थ का बोध होता है, 'आपका कमरा ताँगा-स्टैंड के ऊपर है।' इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि उस स्थान पर सदा अशान्ति, असभ्यता आदि का राज्य रहता है; परन्तु यह अर्थ किसी शब्द विशेष से ज्ञात नहीं होता। काव्य वही श्रेष्ठ है जिसमें व्यंजनाशक्ति या व्यंग्य ही मुख्य हो। सूरदास की इन पंक्तियों में यह अर्थ:—

"हमसौं कही लई सो सुनि कैं, जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अवला, कहं दसा दिगंवर समुझ[illegible] करौ पहिचाने॥"

कहाँ तो अवला (युवती स्त्रियां) कहाँ य[illegible] के समान नंगा रहना क्या इन दोनों में कोई ऐक्य है? इस बात को मन में भली भाँति समझलो कि तुमने जो कुछ (युवतियो, नंगो फिरा करो बड़ी अच्छी रहोगी) हमसे (आपने मित्र की प्रेमिकाओं से) कहा (यद्यपि तुम को ऐसी वात कहनी न चाहिए) उसको तो हमने (तुमको कृष्ण का मित्र समझ, क्षमा करते हुए) चुपचाप सुन लिया (परन्तु यदि दूसरी जगह युवतियों को ऐसा उपदेश दोगे तो लोग तुमको गुंडा समझेंगे और तुम्हारी पूजा भी हो सकती है)।

इस अर्थ में जो कुछ कोष्ठक में लिखा गया है, वह व्यंजना का अर्थ (Suggestion) है; वह कान्ति के समान झलकता है, परन्तु शब्दों में नहीं छिपा; केवल सहृदय ही इसको समझ सकते

हैं। व्यंग्य से कुछ कम उत्तम लक्षणा का अर्थ है; परन्तु अभिधा का कोष-सम्मत अर्थ काव्य में उत्तम नहीं समझा जाता; ऐसा काव्य निकृष्टतम माना जाता है:—

(१) "बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय॥
—गिरधर।

(२) "आपस में प्रेम निभाना,
जग ने सीखा न सिखाया।
जग मुझको कभी न भाया,
मैं भी न जगत् को भाया॥"
—अतीत: अपील।

इस प्रकार का काव्य या तो उपदेश, नीति-वाक्य, सूक्तियों आदि में मिलता है या आजकल की प्रेममयी कविताओं में।

अभिव्यक्ति का दूसरा अंग छंद है। सदा से कविता किसी न किसी छंद में होती आई है? परन्तु जब नीरस पद्य-रचना को ही लोग काव्य समझने लगे तथा कुछ लोगों ने अंग्रेजी के कुछ विद्वानों की आलोचनाएँ पढ़ीं तो एक विरोधी-दल तैयार हो गया जो छन्द-बंधन का विरोधी था। इन विद्वानों का कहना है कि काव्य में रस तथा भाव ही मुख्य है। अभिव्यक्ति गौण है इसलिये अस्वाभाविक हैं, कवि को ये बंधन तोड़ देने चाहिएँ। आजकल के कई कवि इसीलिये छन्दरहित या "रबड़ छन्द" वाली कविताएँ गाते हैं। ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि छन्द

छंद तथा इसका विरोध

केवल शब्दों के एक इस प्रकार के विधान का नाम है, जो गति तथा लय के कारण काव्य को मनोहर बना देता है; छन्द से किसी विशेष छंद का अर्थ

नहीं समझा जाता। जब आप अपनी कवितायें गाते हैं तो इस बात का ध्यान रखते हैं कि कहाँ उतार चढ़ाव है, कहाँ रुकना है, पंक्तियाँ कितनी-कितनी लंबी हों—यह तो छंद है। मत अपनाइये आप पुराने हिन्दी के या संस्कृत के छन्दों को परन्तु लय तथा गति की रमणीयता को तो आप भी स्वीकार करते हैं फिर "छंद" का त्याग कहाँ रहा? उदाहरण स्वरूप एक कवित देखिये :—

"कहना सुनना सब व्यर्थ
व्यर्थ है अब उलाहनों का देना
पर इतना रखना याद
तुम्हें
माया ने जितना प्यार किया
जीवन भर भी
उसका आधा
कोई न करेगी प्यार तुम्हें!"

—मानव : निराधार।

यहाँ कोई चरण लंबा है, कोई इतना छोटा कि उसमें केवल एक ही शब्द है। यह कविता कवि सम्मेलन में सुनी जाकर जो आनन्द दे सकती है, वह कमरे में बैठकर पढ़ी जाकर नहीं। इसमें कवि का व्यक्तित्व इतना अधिक महत्वपूर्ण होगया है कि यह सर्वसाधारण की सम्पत्ति कम ही रह गई है। अस्तु काव्य में रमणीयता का महत्व तो सबको मान्य है×, परन्तु इस रमणीयता में छन्द का विशेष हाथ है, इसको सब क्यों नहीं मानते? काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों की रमणीयता रहती है,

× रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्   —रसगंगाधर।

अर्थ की रमणीयता केवल अर्थ समझने पर ही ज्ञात होगी, शब्द की केवल स्वर को सुनकर ही, इसलिये पहिला प्रभाव शब्द का पड़ता है—और छंद (अक्षरों की सुन्दर व्यवस्था) शब्द की रमणीयता का प्राण है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा को न जानने वाले भी "गीतगोविंदम्"+ को पढ़कर नाचने लगते हैं (यद्यपि वहाँ छंद के अतिरिक्त शब्दों का भी माधुर्य है)। आजकल सिनेमा के जो गीत गुनगुनाये जाते हैं उनका अर्थ अधिकतर लोग नहीं समझते÷, फिर भी उनको एक सन्तोष मिलता है। प्रत्येक देश में काव्य का प्रारम्भ गीतकाव्य से ही इसी कारण हुआ है कि संगीत (छंद) मानव हृदय का एक व्यक्त रहस्य है।

जब काव्य में रमणीयता को ही सब कुछ समझ लिया गया तो उसमें चमत्कार भरने का भरसक प्रयत्न हुआ। अस्तु, संस्कृत में भी कुछ विचारक ऐसे थे जो अलंकार को ही कविता का सब-कुछ समझते थे। चन्द्रालोककार जयदेव ने कहा है कि यदि कोई काव्य को अलंकाररहित मानता है तो अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता× ? अग्नि-पुराण में लिखा है कि अलंकार-

---

+ जयदेव कृत संस्कृत गीतकाव्य।

÷ हमने ३-४ वर्ष के बालकों को—

"तकदीर बनी, बनकर बिगड़ी,
दुनिया ने हमें बरबाद किया"

गुनगुनाते देखा है।

× अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ —चन्द्रालोक।

अलंकार

रहित सरस्वती विधवा के समान है÷। हिन्दी में भी इस मत का प्रचार हुआ और आचार्य केशवदास ने यह स्पष्ट कह दिया कि स्त्री और कविता अलंकारों के विना सुन्दर नहीं लगतीं:—

"जदपि सुजाति, सुलच्छणी, सुवरन, सरस सुवृत्त।
भूषन विनु नहिं राजई; कविता वनिता मित्त॥"

निश्चय ही काव्य में अलंकारों का भी अपना स्थान है, परन्तु काव्य की आत्मा रस है, इस के विना कविता निर्जीव है, फिर उनको स भूषण पहिनाने से भी क्या लाभ ? इसलिये भामह के कथन पर विचार करते हुये बा० गुलाबराय ने जो लिखा है कि "निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है+" उस मत से हम भी सहमत हैं। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में से शब्दालङ्कार (अनुप्रास. यमक, श्लेष आदि). केवल पाठ भर से स्पष्ट होजाते हैं, इसलिये इनका प्रयोग सामान्य है; कवि को ध्यान केवल इस बात का रखना चाहिए कि अनुप्रास, यमक आदि के लिये उसको शब्दों को तोड़ना-मरोड़ना न पड़े, शब्दों के रूप को कुरूप बना देना कवि की असफलता का द्योतक है; रीतिकाल के बहुत से कवियों ने ऐसी शिथिलता दिखलाई है। अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकार (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) ही प्रमुख समझे जाते हैं; परन्तु इनका उपयोग बड़ी सावधानी से करना होगा। आलोचक को भी यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि "साधारण धर्म" क्या है; कभी-कभी

÷ अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।
+ बा० गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन।

धारण-धर्म इतना सूक्ष्म होता है कि साधारण पाठक उसको समझ नहीं पाता और रस में बाधा आ जाती है। उदाहरण के लिये गोस्वामी तुलसीदास की यह चौपाई देखिये:—

"सेवत लषन सीया, रघुबीरहिं।
ज्यों अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥"

(लक्ष्मण सीता तथा राम की उसी प्रकार सेवा करते हैं, जिस प्रकार माया-मोह में पड़ा हुआ व्यक्ति शरीर की सेवा करता है।)

यहाँ यदि यह कहा जाय कि कवि ने लक्ष्मण को अविवेकी के समान; सीया-रघुबीर को शरीर के समान कहा है तो अर्थ का अनर्थ हो जावेगा। वस्तुतः यहाँ समानता अंगों का नहीं, प्रत्युत सारे वाक्य की है; यहाँ उपमा अलंकार नहीं प्रत्युत दृष्टान्त अलंकार मानना चाहिए! कवि को केवल सेवा की तन्मयता दिखलाना ही अभीष्ट है। परन्तु बिहारी के इस दोहे में:

"सूक्ष्म कटि पर ब्रह्मसी, अलख लखी, नहीं जाय।"

(नायिका की कमर इतनी पतली है कि उसको उसी प्रकार देख नहीं सकते जिस प्रकार कि ब्रह्म को नहीं देख सकते)

कटि (कमर) को ब्रह्म के समान सूक्ष्म बतलाना अधिक सुंदर नहीं लगता, क्योंकि अधिकतर पाठक ब्रह्म के विषय में ही नहीं जानते, फिर कटि का अनुमान कैसे करेंगे (कमर तो बहुतों ने देखी होगी, उसका अनुभव होगा, परन्तु ब्रह्म का ज्ञान बहुत थोड़े व्यक्तियों को ही होगा)—उपमेय की अपेक्षा उपमा अधिक स्थूल, अधिक सामान्य, एवं अधिक प्रचलित होना चाहिए। संस्कृत

कवियों ने तथा रीतिकालीन कवियों ने भी परिसंख्या *अलंकार को बड़ा अपनाया था परन्तु न जाने क्योंकि आजकल के कवि इस ओर से उदास हैं, खड़ी बोली को भूले हुये सुन्दर अलंकारों की भी फिर याद आनी चाहिए।

अभिव्यक्ति का अंतिम अंग "वर्णन" है। गीत काव्य तथा प्रबंध-काव्य दोनों में ही वर्णन एक विशेष रमणीयता का प्रतिपादन करता है। वर्णन में हम प्रकृति-चित्रण को भी सम्मिलित कर सकते हैं, क्योंकि वहाँ भी कवि अपनी कल्पना शक्ति द्वारा पाठक के सामने सुंदर-सुंदर दृश्य उपस्थित करता है। प्राचीन कवियों में वर्णन का विशेष मान था। जायसी को वर्णन से इतना

वर्णन तथा प्रकृति चित्रण

प्रेम है कि कोई कथा न होने पर भी एक कथा बनाकर उसको सुनाने लगते हैं। तुलसी ने वन जाते हुये राम-लक्ष्मण सीता का बड़ा सुंदर वर्णन किया है। सूर में प्रकृति के इतने अधिक चित्र हैं, जिनकी कोई गिनती नहीं। रीतिकाल में वर्णन प्रकृति का न होकर विलासी घरेलू जीवन का हुआ और प्रायः वस्तुओं के नाम ही अधिक गिनाये हैं, उनका चित्र नहीं खींचा। नवीन युग के रहस्यवादी तथा छायावादी कवि तो प्रकृति के उपासक हैं; प्रगतिवादी मजदूर-किसान-जीवन के। इनके हाथों से प्रकृति तथा समाज के बड़े

* जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिये हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है". जैसे:—

केवल मन में ही चंचलता, जीवन धनिक निवासों में।
शीतलता थी निश्चय केवल, रमणी के निश्वासों में॥

स्वाभाविक तथा मनोहर चित्र उतरे हैं? परन्तु प्रेमी कवियों ने जिस प्रकार केवल अभिधा शब्द-शक्ति से ही काम लिया है, उसी प्रकार अपनी व्यथा को कह देना ही उचित समझा, उसको जीवन में घुला-मिलाकर न देखा, इसलिये उनमें वर्णन का अभाव है। काव्य की सफलता भावों की व्यंजना में है, इसलिये वर्णन उसका एक प्रमुख अंग बन जाता है; क्योंकि भावों का कथन केवल भुक्त-भोगी को ही आंनद दे सकता है, परन्तु वर्णन से सहृदय प्रभावित होते हैं।

काव्य में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों का ही अपना-अपना स्थान है। यह कहना भूल होगी कि एक के बिना दूसरे का काम चल सकता है। हाँ, दोनों को उचित स्थान देना ही काव्य की सफलता है। यदि काव्य में अनुभूति की अभिव्यक्ति

उपसंहार

सफल न हो सकी तो काव्य एक पहेली बन जावेगा; यदि काव्य में अनुभूति है ही नहीं केवल बाहरी टीम-टाम है तो एक कौतूहल अवश्य होगा आंनद नहीं मिल सकता। कविता-कामिनी निश्चय ही रस-आत्मा के ही कारण समाज में आने योग्य समझी जावेगी, परन्तु यदि उसको वस्त्र-भाषा, अलंकार, छंद-गति, या वर्णन-शरीर के बिना या इनकी हीनता में देखा जावे तो भी उसी प्रकार आनन्द नहीं मिल सकता जिस प्रकार कि रोगिणी, वृद्धा, वस्त्रहीना या आभरणरहित विधवा को देखकर कोई उल्लास नहीं प्राप्त होता।

सुखी-जीवन

(१) सुख की समस्या.
(२) व्यक्तिगत जीवन में सुख.
(३) गृहस्थ जीवन में सुख.
(४) अपने व्यवसाय में सुख.
(५) समाज में सुख.
(६) सुख और आपत्तियाँ.
(७) सुख के अपेक्षित साधन.

"वेदना विकल फिर आई,
मेरी चौदहों भुवन में।
सुख कहीं न दिया दिखाई,
विश्राम कहाँ जीवन में॥" —आँसू।

वर्त्तमान युग का प्रतिनिधि कवि जब विश्व के सभी क्षेत्रों में सुख को खोजता हुआ फिरता है, तब भी उसको केवल दुःख तथा निराशा ही मिलती है। उसका दुःख व्यक्तिगत नहीं, प्रत्युत एक सामान्य अवसाद है, जिसकी छाया प्रकृति के पत्ते-पत्ते में मिलती है। घर में दुःख, समाज में दुःख, राज्य में दुःख—जहाँ जाइये निराशा तथा दुःख का ही साम्राज्य है। उपनिषदों में आनन्द की खोज का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि मन संसार के अनेक पदार्थों—स्त्री, पुत्र, धन, पद, यश आदि—में आनंद-लाभ के लिये जाता है, परन्तु उसको निराशा होती है क्योंकि आनन्द तो ब्रह्म में है, संसार या जीव में नहीं। मेरी समझ में जिस आनन्द की खोज का उपनिषदों में कथन है, वही आजकल के सुख की

समस्या नहीं। आनन्द ब्रह्म का गुण है, परन्तु सुख इसी पृथ्वी पर मिलता है; सुख-प्राप्ति के लिये ब्रह्म तक पहुँचने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। प्राचीन हिन्दी-कवियों ने भी

सुख की समस्या

मन की चंचलता से तंग आकर भगवान् की शरण में जाने का निश्चय किया था ÷। तुलसी, सूर तथा कबीर ने संसार के माया-मोह के कारण मन को ही दुःख का कारण माना है, मन में कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, फिर उनसे ही मोह, लोभ तथा क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है; इसलिये मन ही बंधन तथा मोक्ष का कारण है ×। परन्तु आज हम शायद उतनी दूर की नहीं सोचते। हम तो सांसारिक सुख को ही ध्येय मानकर चलते हैं और उसको प्राप्तकर शान्ति नहीं तो कम से कम सन्तोष तो प्राप्तकर ही लेते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि इस सांसारिक सुख में भी हमको मन का ही इलाज करना पड़ता है। अस्तु, हम जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों को देखते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में सुख की समस्या सदा रही है, और सदा रहेगी भी। इतना ही नहीं, सुख के दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन का भी निकट सम्बंध है— जिसका व्यक्तिगत जीवन सुखमय नहीं सामाजिक वह सुख में योग नहीं दे सकता। पश्चिमी दार्शनिक मिल (Iohn Stuart Mill) को अपनी किशोरावस्था में, दार्शनिक बेंथम (Bentham) के

÷ मोहि मूढ़ मन बहुत विगोयो।
यांके लिये सुनहु करुना-निधि, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो।
—तुलसी।

× मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

सिद्धान्तों को पढ़कर, यह धुनि सवार हुई कि संसार सुखी किस प्रकार हो सकता है; वह सदा सुख की खोज में रहने लगा, फलतः उसका अपना जीवन भी घोर दुःखमय होगया। यही बात आज भारत के अधिकतर नवयुवकों की किशोरावस्था (Age of Adolescence) में पाई जाती है; वे स्वभावतः भावुक होते हैं और विचार शक्ति से कम काम लेने के कारण उनका जीवन दुःखमय हो जाता है; + वे यह नहीं जानते कि सुख को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि सुख को भूल जाओ; ÷ सुख प्राप्त करने की वस्तु नहीं वह तो अपने आप मिल जाया करता है।

व्यक्तिगत जीवन में सुख

यदि सुख की खोज करोगे, तो सुख तुमसे दूर भागेगा; यदि सुख की ओर से उदासीन हो जाओगे तो सुख अपने आप तुम्हारे पास आजावेगा। बात यह है कि मनोविज्ञान का रहस्यमय नियम यह है कि जिस को आप प्रेम करते हैं, वह आपको प्रेम नहीं करता; और जो आपको प्रेम करता है उसको आप प्रेम नहीं करते। यही बात सुख के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। अस्तु, निश्चय यह हुआ कि व्यक्तिगत जीवन को सुखमय बनाने का एक मुख्य नियम यह है कि सुख-सुख चिल्लाने से सुख नहीं मिला करता, और न सुख भगवान् है जो निरंतर ध्यान करने से आपको प्राप्त हो जावेगा; प्रत्युत सुख मन का एक का भाव है (जिसका कि दुःख के साथ

+ Life is a comedy to him who thinks, and a tragedy to him who feels.—Walpole.

÷ and the best way to get it, is to forget it.
—Paradox of Hedonism.

सापेक्षिक मूल्य * Comparative value है) जिसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय उसकी ओर से उदासीन हो जाना है; भावुकता को छोड़कर विचारशील बनो सर्वत्र सुख ही सुख है; दिनभर परिश्रम करके रात को थककर सोजाने वाला श्रमजीवी अधिक सुखी है, परन्तु तीन सौ वेतन प्राप्त कर चिन्तित रहने वाला दार्शनिक सुखी नहीं है।

जिन लोगों को हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) का रोग होता है, वे सदा अपने को अपूर्ण तथा हीन एवं दूसरे को अपने से अधिक गुणवान् तथा योग्य समझकर मन ही मन निराशा की सरिता में गोता खाते रहते हैं, उनमें निरुत्साह आ जाता है और दुःख की जड़ जम जाती है। मनोविज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि व्यक्तिगत जीवन में दुःख का कारण केवल अनुत्साह ही है❀, जिसका जन्म हीनता के अनुभव से होता है। जो लोग यह सोचते हैं कि सुख पूर्णता में है, वे भी भूल करते हैं। मनुष्य पूर्ण नहीं हो सकता; फिर भी सुखी तो रहता ही है। सुख तो जीवन को उत्तम बनाने का पुरस्कार है, जो प्रकृति हमको देती है; यह पूर्णता का फल नहीं है×। हमको चाहिए कि जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें, सुख तो अपने आप मिलेगा। जो लोग किसी बात में हीन होते

---

* मैं नही चाहता चिर-सुख। मैं नहीं चाहता चिर-दुःख ॥—पंत।

❀ Discoragement is the common denominator of all unhappiness.

× Happiness is the interest than is paid to men by nature for investments in the good of life. It is not the reward of perfection.

है (किसी व्यक्ति में कोई अंग विकार है या कोई दूसरी स्वाभाविक कमी है जो ईश्वर की दी हुई है) वे यह देखते हैं कि दूसरा व्यक्ति दूसरी बात में हीन है, जिसमें स्वयं हीन नहीं; इससे उनको संतोष मिलता है, और वे जीते रहते हैं; यदि वे आपके समान ही भावुक हों तो एक क्षण भी नहीं जी सकते। अस्तु, श्रेष्ठ है वह व्यक्ति जो अपने गुण-अवगुणों पर ध्यान न देकर जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर बनाता है, क्योंकि अनेक कमियाँ होने पर भी वह सुख तो प्राप्त कर लेता है।

किशोरावस्था के जीवन में जो एक नया रोग लग जाता है उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। जो लोग दुःखी बनकर स्व-समिति (Egoistic) बन जाते हैं, उनमें प्रेम की छूत लग जाती है। प्रेम यौवन के सौरभ में एक कंटक है,× जिसकी पीड़ा उन सभी लोगों को भोगनी पड़ती है जो उस सौरभ में विहार करते हैं। नवयुवकों का जीवन प्रायः किर-किरा हो जाता है और वे डिजरायली (Disraeli)÷ के समान यह कहना तो जानते ही नहीं कि "मैं जीवन में सैकड़ों भूलें कर सकता हूँ, परन्तु प्रेम के कारण कभी विवाह न करूँगा", प्रत्युत अपने सुख का दाँव लगाकर आँसू बहाना सीख लेते हैं:—

"उर का नव उल्लास बेचकर, पाई यह नादानी।
आँसू बहा-बहाकर ठंडी करली, भरी जवानी+ ॥

ऐसे लोगों को केवल यह जानना चाहिए कि जब तक बेकार बैठे

× Love is a thorn the spring of youth.

÷ "I may commit many follies in life but I never intend to marry for love—Disraeli.

+ अतीत।

हो तब तक तो निश्चय ही तुम्हारी इस व्यथा का कोई अंत नहीं, परन्तु जिस दिन किसी काम में लग जाओगे उसी दिन यह व्यथा भी धीरे-धीरे उसी प्रकार पिघल जावेगी जिस प्रकार कि दिन के चढ़ने पर हिम पिघलने लगती है। व्यथा किसी को याद नहीं रहती, क्योंकि समय सारे घावों को सुखा देता है❀:—

"व्यथा कथा बनती फिर वह भी,
याद नहीं रहती है सब दिन।
सब दिन जीवन के दिन किसके,
कटते निशदिन साँसें गिन-गिन ॥"—नरेन्द्रशर्मा.

नवयुवकों में तड़पना (प्रेम के ही कारण सही) एक अशुभ चिन्ह है, उनको तो अपने मन को समझा कर* तुरन्त ही आगे बढ़ना चाहिए; कल्याण का मार्ग सदा प्रशस्त है, व्यक्तिगत स्वार्थों को त्यागकर सत्पथ पर चलने के लिये—"श्रेय के लिये मनुष्य को सब कुछ त्याग करना चाहिए×"।

किशोरावस्था के अनंतर गृहस्थ जीवन आता है। यह देखा गया है कि कुछ लोग व्यक्तिगत जीवन में बड़े सुखी थे, परन्तु गृहस्थ जीवन में उनको सुख नहीं मिलता। स्त्रियाँ भी यही कहती हैं कि उनका जीवन सुखी नहीं है और पुरुष भी यही कहते हैं। जहाँ तक धन-सम्पत्ति, आय-व्यय, खाने-कमाने आदि का सम्बन्ध है इसको सब लोग मानेंगे कि "नारी को विवाह

❀ Time is the best healer.

* मैं अपना मन समझा लूँगा, अच्छा कर लूँगा यह रोगी।

—नूरजहाँ

× प्रसाद: चन्द्रगुप्त।

से पूर्व तथा पुरुष को विवाह के उपरांत "ही चिंताएँ बढ़ती हैं; इसीलिए बुद्धिमानों ने माना है कि"× अल्पायु वाले मनुष्य को उस समय नहीं, तथा अधिक आयुवाले पुरुष को कभी नहीं"+ विवाह करना चाहिए; परन्तु समस्या एक दूसरी भी है, मान

गृहस्थ जीवन में सुख

लिया कि अपनी सम्पन्न अवस्था में दोनों सुखी हैं, सन्तान आदि का भी सुख है, कोई शारीरिक व्याधि भी नहीं; फिर भी तो वे एक-दूसरे को सुखी नहीं कर पाते। "रुचि, मानवप्रकृति इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म मिलन विरला होता है। मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा।"÷ पतिदेव नरम स्वभाव के हैं, देवीजी गरम स्वभाव की हैं; पतिदेव नवीन युग में विश्वास करते हैं, देवीजी हर मंगल को व्रत रखती हैं; पतिदेव सिनेमा के प्रेमी हैं; देवीजी कविता में रुचि रखती हैं। अनेक प्रकार के अंतर हो जाते हैं; और प्रायः घर का वातावरण विषम हो जाता है। भारतीय गृहस्थ में प्रायः स्त्री को दबना पड़ता है, और वह पति की रुचि के अनुकूल अपने स्वभाव को भी बना लेती है। परन्तु इसका विपरीत भी कम देखने में नहीं आता। यदि देवीजी ऐसे वातावरण में पली हैं जहाँ उनको हाथों पर ही रखा गया है, धरती पर पैर नहीं

× A woman before and a man after marriage is worried.

+ "A young man not yet, an older man not at all".

÷ प्रसाद : कंकाल।

रखने दिया गया, ❀ और बेचारे पतिदेव अपने परिश्रम से ही महान् पद पर पहुँचने वाले आदर्शवादी हुये, तो देवीजी का सब पर रौब रहेगा; पतिदेव संसार की बातों में अकुशल माने जावेंगे और देवीजी "बादल फाड़कर उनमें थेगली लगा देने वाली"। समस्या कुछ अधिक गंभीर है। जिन लोगों से मैंने स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा के विषय में बातें की है, उनमें कुछ लोग यह तो मानते हैं कि स्त्रियों को घर पर ही या बालिका विद्यालय में छोटी आयु तक हिन्दी तथा संस्कृत की शिक्षा मिल जानी चाहिए; परन्तु उनको यह सहन नहीं कि कोई भी २२ वर्ष तक कुमारी रहकर कॉलेज में पढ़ती रहे×। कारण मनोवैज्ञानिक है २२ वर्ष तक पश्चिमी सभ्यता में शिक्षा प्राप्त करते-करते उसके संस्कार एक विशेष प्रकार के हो जाते हैं और यदि दुर्भाग्यवश उसके पति की रुचि भिन्न हुई तो फिर तुमुल युद्ध और "महाभारत का एक लघु संस्करण"+ तैयार है। न वे झुकेंगे, न वे झुकेंगी। जिस लड़की का विवाह लगभग १६ वर्ष की अवस्था में होता है, उसके संस्कार तथा प्रवृत्तियाँ पति के साथ-साथ बनकर उसके जैसे ही रहते हैं; शायद इसीलिये भारतीय सभ्यता के अनुसार १६ वर्ष की बालिका का विवाह हो जाना चाहिए तभी वह पति-प्रेम में अपने सुख को भूल जाती है,÷ और उधर ज्वारभाटा उठने पर भी सबको शांत

❀ मैं जमीन पर पाँव न धरती, रखती थी मखमल पर पैर।
आँखें बिछ जाती थीं पथ में, जब मैं करने जाती सैर॥
—नूरजहाँ।

× दे० हमारा लेख "सह-शिक्षा"।

+ प्रसाद : स्कन्दगुप्त.

÷ अपना सुख तो भुला दिया है, प्रेम-रंग में माती है।—नूरजहाँ।

करती रहती है*।

यहाँ हम विस्तारपूर्वक यह तो नहीं बतला सकते कि गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने के क्या-क्या उपाय हैं। परन्तु एक मनोविज्ञानवेत्ता के इन शब्दों में हमको विश्वास है कि "विवाहित जीवन की सफलता केवल योग्य साथी प्राप्त कर लेने पर ही निर्भर नहीं है; स्वयं योग्य होने पर भी है"¶ : दूसरे में दोष न देखकर हमको प्रेम करना चाहिए; प्रेम करने पर दूसरे के दोष भी हमको गुण ही दिखाई पड़ते हैं; परन्तु सन्देह रखने पर सदा दोष ही दोष दिखलाई देंगे—प्रेम हो ही नहीं सकता। पति और पत्नी को थोड़ा-थोड़ा झुकना पड़ेगा, तभी वृक्षों की हरी डालियों के समान वे, अपने मन में उमंग भर कर, एक दूसरे के गले लग सकते हैं, यदि सूखे बाँसों के समान उनका मिलना एक रगड़ उत्पन्न करने वाला ही हुआ तो उसका फल केवल आग ही होता है। विवाह एक समझौता (Compromise) है, इसका सुख कुछ देने में तथा कुछ लेने में ही है। "एक-दूसरे सुख-दुख और अभाव- आपदाओं को प्रसन्नता में बदलने के लिये सदैव प्रयत्न

---

* उधर ज्वार-भाटे उठने दो, नाचें प्रलयंकर तूफान।
प्रेम बढ़ाती रहो इधर तुम, लिये वीचियों की मुसकान।

—नूरजहाँ।

¶ Success in marriage in much more than a matter of finding the right person; it is also a matter of being the right person.
—Dale carnegie.

करता रहे"×। यही दंपति-जीवन के सुख का रहस्य है÷।

पुराने लोगों का कुछ ऐसा नियम था कि जिस व्यवसाय में उनकी रुचि होती थी, उसी को प्रारंभ कर देते थे और फिर कुछ असुविधाएँ आने पर भी अपने कर्म पर पश्चात्ताप न करते थे। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह+" शायद इसी विचार की एक अभिव्यक्ति हो। वर्त्तमान युग में भी हमने देखा कि घर का एक व्यक्ति जिस नौकरी या व्यवसाय में लगा था, उसी में उसने अपने घर वालों तथा अपने संबंधियों को भर लिया। परन्तु आज हम अधिक बुद्धिमान् होगये हैं; आज हमको अपने वर्त्तमान व्यवसाय (Profes-ion) से सन्तोष नहीं। पिता

अपने व्यवसाय में सुख

प्रायः यह नहीं चाहता कि उसका पुत्र उसी काम को करे जिसको वह स्वयं करता रहा है—नौकरी वालों में यह बात सब से अधिक पाई जा ी है। जिसने तारघर में नौकरी की वह उसकी दिन-रात की ड्यूटी को कोसता है; जिसने रेल-विभाग में नौकरी की वह स्टेशनों के जगंली जीवन से दुःखी है; जो लेखकगीरी (क्लर्की) कर चुका वह इससे अच्छा पान की दूकान को समझता है; कि जो अध्यापक रह चुका वह अपने निर्धन जीवन के लिये सदा रोता रहता है। कहाँ तक कहें

× प्रसाद : तितली।

÷ अपने धर्म में मर जाना भी अच्छा है, परन्तु दूसरे का धर्म (व्यवसाय) भयावह होता है।

+ दम्पति-जीवन-सुख का प्याला पी दोनों विभोर हो जायँ।
यौवन के सावन-भादों में रम-घन निरख मोर हो जायँ॥
—नूरजहाँ।

चोरबाजारी करने वाला सेठ भी यही समझता है कि उसने भूल की नहीं तो अपने धन्नामल को विलायत पढ़ने भेज देता जिससे वह कलक्टर बनकर आजाता और सेठ जी को दरोगाजी के तलवे न चाटने पड़ते। परन्तु मनोविज्ञान कुछ और ही बतलाता है। जिस व्यवसाय तथा संगति में चिरकाल तक रहने के कारण हमारे संस्कार एक विशेष प्रकार के बन गये हैं, उनकी स्वाभाविक तथा स्थायी छाप हमारी संतान पर पड़ती है, और हमारे पुत्र तथा पुत्रियां उसी व्यवसाय में अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं, जिसके हथकंडे हमने बहुत सारे सीख लिये हैं। अस्तु. जहाँ तक अपनी संतान के व्यवसाय का संबंध है, यदि उनकी रुचि हमारे व्यवसाय के प्रतिकूल नहीं है तो हम उसको इस व्यवसाय में रुचिपूर्वक आने दें, ईश्वर ने चाहा तो हमसे ऊँचे पद पर पहुँचेगा। और अपने व्यवसाय के विषय में आप सोच लीजिये कि कोई भी काम न तो अच्छा है न बुरा है; उसमें उन्नति भी है और अवनति भी है; यदि आप मन लगाकर उसको अपना कर्त्तव्य समझकर करें तो निश्चय ही आपको सुख तथा संपत्ति प्राप्त होगी[६]: इसलिये धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का बनने से तो यही अच्छा है कि यह समझकर कि अब कोई परिवर्त्तन तो नहीं हो सकता आप सन्तोष पूर्वक अपने व्यवसाय में मन लगाइये[७]। यहां पर क्रान्ति में विश्वास रखने वाले उन सरकारी नौकरों से यह कह देना भी शायद उचित होगा कि आज तुम

---

६ Seest thou a man diligent in his business? He shall stand before kings—Solomon.

७ Content yourself with what you are, for you will never change.

सरकार से असंतुष्ट होकर जिस समाजवाद की पुकार कर रहे हो, उसका उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि तुम स्वयं इतने कर्त्तव्यपरायण न हो जाओ कि अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझ कर (Duty for duty's sake) ही करते रहो; समाजवादी शासन तो ऐसे ही लोगों पर निर्भर रह सकता है जो कर्मयोगी हों, कर्मकामी नहीं। जिस व्यक्ति को अपने परिश्रम का मूल्य नहीं मिलता उसको भी उत्साह में कमी न कर देनी चाहिए, क्या दूसरे की दृष्टि में दोष होने के कारण आप अपने को हीन बनाना ठीक समझते हैं ? एक व्यक्ति को साफ दिखलाई नहीं पड़ता इसलिये वह दो पैर वाले और लँगड़े व्यक्ति का भेद नहीं जान सकता; तब आप उस परिस्थिति से लाभ उठा कर अपना एक पैर काट डालना उचित समझते हैं क्या ? प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय में अन्वयेन होना चाहिए, वह उसके दोषों को न देखकर अपने कर्त्तव्य का पालन करे, यदि उसके परिश्रम का मूल्य नहीं मिलता या उसकी कोई प्रशंसा करनेवाला नहीं तो भी चिंता की कोई बात नहीं; आपको कर्त्तव्य से सुख, परिश्रम से योग्यता (Capacity). तथा अध्यवसाय से उन्नति प्राप्त होगी; धैर्य तथा परिश्रम ही व्यवसाय में सुख के कारण हैं।

जो लोग भाग्य को सदा कोसते रहते हैं उनमें एक गुण यह आजाता है कि वे अपने पड़ोसी की उन्नति देखकर मन ही मन जलते रहते हैं। बाइबिल में कहा गया है कि तू अपने पड़ोसी की उन्नति से प्रसन्न हो; परन्तु ये लोग इसके विपरीत करते हैं, फल शायद यह होता है कि दूसरे की उन्नति तो वे रोक नहीं पाते,

परन्तु स्वयं अपना रक्त स्वाहा करते रहते हैं×। ऐसे व्यक्तियों के
विषय में महात्मा विदुर का मत है कि इनका रोग अंतहीन है, वे

समाज में सुख

सदा दुःखी रहेंगे+। कारण स्वाभाविक
है भगवान् ने इस विश्व को ऐसा अनूप
बनाया है कि एक से बढ़कर एक व्यक्ति
नहीं पाया जाता है÷, फिर आप अपने को हीन और स्वार्थी
बनाकर किस-किस से जलेंगे। जिस प्रकार क्रोध से अपनी ही
हानि होती है; दूसरे का कुछ नहीं बिगड़ता, उसी प्रकार ईर्ष्या
से भी अपनी ही शान्ति नष्ट होती है दूसरे व्यक्ति को कोई धक्का
नहीं लगता यद्यपि आचार-शास्त्र (Moral Philosophy) का
यह सिद्धान्त भी हमको मान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही सुख
का ध्यान रख सकता है, दूसरे के सुख का नहीं;* फिर भी हम
इस आदर्श के पक्षपाती हैं कि सामाजिकों को अपनी उन्नति से
ही सन्तुष्ट न रहना चाहिए, सामाजिक उन्नति में भी योग देना
चाहिए। हो सकता है कि दूसरा व्यक्ति ऊपर उठकर सीधा न
चले परन्तु इसका फल वह स्वयं भोगेगा, आप क्यों उसकी बुरी
आदतों के कारण अपने जीवन को अशान्तिमय बनाते हैं। यदि
हमको सुख का सौभाग्य प्राप्त न हो तो तब तक, रोते रहने से

× दे० हमारा लेख "बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोइ"।

\+ ईर्षुर्घृणी नसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्य दुःखिनः॥ }—विदुरनीतिः

÷ दई कीन्हि यह विस्व अनूपा।
एक एक तें आगरि रूपा॥ } —जायसी।

* Each to count for one and no one for more than one.—Bentham.

तो यही अच्छा है कि, हम दूसरे के सुख से ही थोड़ा मुदित होना सीखलें; क्योंकि जीवन का सत्य अशांति नहीं सुख है—जीवन का सत्य प्रसन्नता है; यदि हम इतने भाग्यशाली नहीं सुख से प्रसन्नता मिल सके तो हम दूसरे के सुख से ही इसे प्राप्त करना सीख लें।

सुख तथा आपत्तियों का कोई न विरोध है और न घनिष्ठ संबंध जितने प्रकार के सुख का ऊपर कथन किया गया है, सब में आपत्तियों की आशंका रहती हैं; परन्तु उनसे विचलित होने की कोई आवश्यकता नहीं। व्यक्तिगत जीवन में भी आपत्तियाँ आती हैं और "बातों का दिन कभी न लौटने के लिये चला जाता है;" ÷ परन्तु इन आपत्तियों को केवल अपने धैर्य की परीक्षा मात्र समझना चाहिए, साक्षात् विघ्न नहीं। वस्तुतः उद्देश्य जितना ही ऊँचा होगा, उतनी ही उसमें अधिक आपत्तियाँ आवेंगी। ×

सुख और आपत्तियाँ

गृहस्थ जीवन में आपत्तियों का एक विशेष स्थान है। कभी-कभी गृहस्थ के कुछ सदस्यों में आपस का मनोमालिन्य हो जाता है, सम्पत्ति में तो आपस की अकड़ होती है कौन अपनी भूल स्वीकार करेगा, बस विपत्ति ही उनको फिर मिलाती है; दुःख में हम उदार हो जाते हैं और प्रत्येक अपराध क्षमा करने को तैयार रहते हैं। साहित्यिकों ने अनेक कहानियों तथा उपन्यासों में इस सत्य से लाभ उठाया है। टूटे हृदयों को मिलाने वाली आपत्तियाँ निश्चय ही जीवन के रस को अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिये, ईश्वर का अद्वितीय पुरस्कार है। यदि सारा विश्व ही

÷ प्रसाद : कंकाल।

× अहो विघ्नवत्य : प्रार्थितार्थसिद्धय:—अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

एक कुटुम्ब है तो किसी पर भी आपत्तियाँ आवें, उसके रूठे हुओं को अपने आप ही मना देंगी। ऐसा कौन सा पत्थर होगा जो एक ऐसे पड़ौसी के, जिससे उसका झगड़ा हो गया है बोल-चाल बंद है, पुत्र को मृत्यु-शय्या पर पड़ा देखकर करुणा—विह्वल हो आँसू बहाने न पहुँच जावेगा। रहीम कवि ने इसी हेतु विपदा को भला माना है कि थोड़े से दिन रहकर वह यह बतला जाती है कि कौन कितना स्नेह मानता है, + कौन कोरा स्वार्थी ही है।

इस भाँति हमने ऊपर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सुख तथा दुःख के कारणों तथा इसको दूर करने के उपायों को देख लिया और यह भी देख लिया कि सुख तथा आपत्तियाँ साथ-साथ ही नहीं रह सकतीं प्रत्युत: सुख की वृद्धि में आपत्तियों का भी बड़ा हाथ है। वस्तुत: सुख तथा दुःख सापेक्षित (Relative) हैं; एक ही वस्तु हमको सुखी करेगी; जो वस्तु आज हमको सुख देती है वही कल हमको दुःख दे सकती है। सुख किसी वस्तु में नहीं रहता प्रत्युत हमारे मन में रहता है और जिस प्रकार रस किसी पुस्तक या नाटक में रहते हुये भी उचित उपकरण प्राप्तकर आस्वाद्य हो जाता है, या स्वाद किसी पदार्थ न रहकर भी हमारी रसना के संयोग से स्वत: प्रकट होता है उसी प्रकार सुख भी अवसर विशेष या वस्तुविशेष के संयोग से हमारे मन में प्रकट हो जाता है। हमको केवल अपना दृष्टिकोण बदलना× है, संसार

+ रहिमन विपदा हू भली, जो थोड़े दिन होय।
हित-अनहित या जगत में, जानि परै सब कोय॥ } रहीम।

To make ourselves happy all that is necessary is to make ourselves a new heart and see ith new eyes. —S. Radhakrishnan.

सुख के अपेक्षित साधन

को नहीं बदलना। संसारिक सुख के लिये मन के साथ-साथ शरीर को भी स्वस्थ रखना आवश्यक है*; जो लोग निरोग नहीं रहते, उनको सदैव निरुत्साह तथा दुःख की शिकायत रहती है। सुख के जो अन्य साधन बतलाये गये हैं; वे केवल सुख के विभिन्न रूप (Different forms) हैं, साधन नहीं+। सामान्य व्यक्ति के लिये इतना ही पर्य्याप्त है कि वह शरीर से स्वस्थ हो और मन में कोई भी असत् बात न रखता है (ईर्ष्या, द्वेष, संशय, मोह आदि दुर्गुण उसमें न हों); यदि वह अपने कर्म में तत्पर रहकर अपना धर्म (व्यवसाय) पालन करता है तो और किसी बात की आवश्यकता नही। "सुख तो धर्म्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुखमय है ही। संसार के कर्मों को धार्म्मिकता के साथ करने में सुख की ही संभावना है"×। हाँ जो व्यक्ति अधिक विचारशील है उसको इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि जीवन के जितने मूल्य (Values) बतलाये गये हैं उनका समन्वय सुखदाता है÷; हमारा तात्पर्य यह है कि न केवल शारीरिक उन्नति के अतिमात्र से ही काम चलेगा, न केवल मानसिक उन्नति के ही अतिमात्र (Excess) से ही; बुद्धि का अतिविकास भी हृदय के विकास के विकास के लिये व्यर्थ है। वस्तुतः जीवन को

÷ A life of harmony is the life of happiness.

* Healthy mind a healthy body.

\+ अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षट् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

× प्रसाद : आँधी।

सुखी बनाने के लिये इसको सुखी समझना ही एक मात्र साधन है; सुख की खोज न कर सुख का उपभोग करने से ही अधिकाधिक सुख मिलता है। सुख तो विद्यमान है उसकी खोज का प्रयत्न मत करो अन्यथा वह लज्जा के कारण छिप जायगा, और तुम फिर उसको खोज न पाओगे।

व्यंग्य लेख :—

किराये का घर

आपने रेल विभाग में नौकरी इसलिये नहीं की कि आपको दूसरी नौकरियों की अपेक्षा वहाँ कुछ अधिक सुविधाएँ दिखलाई पड़ती थीं, प्रत्युत जब भारत के टुकड़े हो गये और पाकिस्तान जानेवालों ने अपने नये देश को प्रस्थान कर दिया तो भारत-सरकार को नये आदमी रखने पड़े; और आप क्योंकि एक साल फेल होकर थर्ड डिवीजन में इंटर पास हो गये थे और आपके ससुर साहब डिवीजनल सुपरिंटेंडेंट (Divisional Superintendent) के ऑफिस में हेड क्लर्क थे, इसलिये आपको अस्थायी (टेम्परेरी) नौकरी मिल गई। परन्तु जब आप अपना सामान लेने के लिये घर को जा रहे थे तो आपके मन की नई उमंगों से आपको पहिचान कर गाड़ी में बैठने वाले एक सज्जन ने कहा— "जान पड़ता है कि आप किसी कॉलेज में विद्यार्थी हैं ?" आप इस अपमान को कब सहनेवाले थे, जिस जीवन से राम-राम कहकर छुटकारा पाया हो उसका फिर नाम किसको सह्य होगा, तत्काल आवेगभरे स्वर में बोले—"जी नहीं, उस जीवन को मैं इंटर पास करते ही छोड़ चुका हूँ—घरवालों की भी यही इच्छा थी, और अब रेलवे में राशन क्लर्क (Ration Clerk) हूँ"। दूसरे महाशय शायद गंभीर थे और हितैषी भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं, पूछने लगे—"आपको यह नौकरी पसंद आई ?" आपने प्रशंसा के पुल बाँध दिये, परन्तु यह आपको ज्ञात नहीं था कि दिल्ली में घर की समस्या बड़ी कठिन है जो रेलविभाग

वालों के लिये कोई समस्या नहीं, क्योंकि उनको रहने का क्वार्टर (घर) भी मिलता है। आपने अपनी नौकरी का यह लाभ भी समझा और मन ही मन में तय कर लिया कि अब कोई पूछा करेगा तो कह दिया करूँगा कि "नौकरियाँ तो कई मिल रहीं थीं आजकल देश स्वतन्त्र है, राज्य अपना है—परन्तु नगर में कोठी का मिलना बड़ा कठिन है, इसलिये बड़ी-बड़ी नौकरियों को छोड़ कर मैंने यही नौकरी पसंद की, इसके साथ रहने का भी आराम है और खाने का भी"।

परन्तु दिल्ली लौटकर जब आपने अपना काम सम्हाला तो आपके देवता कूच कर गये; आठ घंटे की ड्यूटी, सब की धौंस, फिर गल्ले में थोड़ी भी कमी हो जावे तो अपना गला फँसता है; जिस गणित से आपकी नानी मर जाती थी उसका यहाँ हिसाब लगाने के लिये काम पड़ता था और जिस अंग्रेजी में आप पिछली वर्ष फेल होगये थे उसका यहाँ कोई आदर न था; एक दिन आपने दर्पण में अपना मुख देखा तो आपको ज्ञात हुआ मानो आप किसी आढ़तिये की दूकान पर मुनीम हों। अस्तु, जब दो दिन आप इस बात की प्रतीक्षा करते रहे कि साहब कब आपको बुला कर यह बतलाते हैं कि इस नंबर के घर में आप रहने लगिये; तो आपने समझा कि साहब शायद भूल गये; इसलिये आप स्वयं साहब के ऑफिस में गये और अपनी बात का ध्यान दिलाया। साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ और समझाकर बोले, "मि० मदन-लाल क्या आप यह नहीं जानते कि आज कल सरकार स्थायी नौकरी वालों को भी घर नहीं देती है, आप तो अस्थायी नौकरी वाले हैं। अपना प्रबंध आपको स्वयं ही करना होगा, नौकरी मिल गई यही क्या कम है"।

आपको काटो तो खून नहीं। जो नौकरी का सबसे बड़ा लाभ था, वही आपको न मिला तो और किस बात की आशा करें; किस अभागे की आँखों में आपकी यह नौकरी चुभी, जो फूल खिलते ही काँटों में गिर पड़ा। यही सोचते-सोचते लौटे तो देवीजी का पत्र मिला प्रेम से भरा हुआ, लिखा था, "प्रियतम, तुम जो इसी दिन अपने उस क्वार्टर में (आपने देवी से अपने क्वार्टर का बड़ा ही सुन्दर वर्णन रौब गांठने के लिये कर दिया था) पहुँच गये होगे, मैं यहाँ प्रतीक्षा में घड़ियाँ गिन रही हूँ... शनिवार को ही तैयार रहूँगी तुम रविवार की छुट्टी में आकर अवश्य ही लिवा जाना"।

उस दुःख में आपको मालूम हुआ कि जिन चपरासियों और नौकरों को हम 'छोटा आदमी' कहते हैं, वे भी कितने भले होते हैं। चपरासी के कहने पर भी आपने उसके घर में ही एक कोठरी में रहना तो उचित न समझा (शायद इसलिये कि साथ-साथ रहने से बाबू और चपरासी का भेद नहीं रहता), परन्तु ला० छिंगामल की एक इमारत (बिल्डिंग) में एक कमरा खाली हुआ है, यह सुनकर आप उसके साथ सेठजी के पास गये। सेठ जी ने यह जानकर कि आप राशनिंग विभाग के आदमी हैं (चपरासी ने रेल-विभाग का नाम न लिया था) आपसे बड़ी अच्छी तरह बातें, कीं आपको बड़ी आशा थी और जब सेठजी ने पूछा — "बा० मदन लाल जी आप विवाहित हैं ?" तो आपने अपना काम निकालने के लिये (क्योंकि जब तक आपका विवाह न हुआ था बहुत से लोग विवाह की बातें करते और घर नाम कर देने को तैयार हो जाते थे) झूँठ बोलना ही उचित समझा और बड़ी नम्रता से बोले, "जी, अभी तो मैंने बी० ए० पास किया है, अभी

लेते और आपकी देवी जी भी, नगर की रहनेवाली होने के कारण, खुली हवा के लिये जान न देतीं परन्तु आपकी बहिन और आपका भतीजा तो ग्रामीण थे, बेचारों के फोड़े निकलने लगे। इसलिये उसी चपरासी की सम्मति मानकर आपने देवीजी को ससुराल और बच्चों को चार मास के लिये घर भेज दिया।

सावन आया तो आपको ज्ञात हुआ कि संसार में दुःख ही नहीं है, सुख भी है। क्योंकि ऊपर की मंजिल में तो पानी टप-टप करता रहता था और नीचे की मंजिल में कीच रहती थी। आप सुखी थे; खलता था अकेला रहना, वह भी उस समय दूर होगया जब सेठानी जी ने अपने ऊपर के कमरे में असुविधा समझकर आपके साफ कमरे में अपने पाँचों बच्चों सहित आसन जमा लिया। वे थीं घर मालिकिन और आप थे किरायेदार; आप कह ही क्या सकते थे। इसलिये जब उनका छोटा गंगा अपने कीचड़ में सने पैरों से आपके बिस्तर पर चढ़ जाता, या चंचल रामू आपके रजिस्टर पर आपकी ही दवात फैला देता तो सेठानी हँसने लगतीं, और आपको अपनी बेवकूफी पर लज्जा आती थी कि बच्चों से अपने सामान की भी आप रक्षा नहीं कर पाते—बच्चे तो बच्चे हैं ही' आपको लापरवाह न होना चाहिए।

बात इतनी ही न रही, सेठानी जी को आप माता के समान समझते थे, इसलिये उनके बच्चों की सब बातें आप सह लेते थे—चार वर्ष पीछे अपने बच्चे भी तो यही किया करेंगे। सेठानी का कमरे में आना नित्यप्रति का तमाशा होगया। यदि आप किवाड़ों को जोर से बंद करते तो वे टोक देतीं—मदन बाबू दूसरे की चीज को भी उसी तरह समझा करो जैसे अपनी चीज को समझा करते हैं; अपना घर होता तो क्या यों किवाड़ों को ताड़-ताड़ मारते

हुये कहा, "चोर को यदि मकान मालिक मेल जोल के कारण किरायेदार रख भी ले तो दूसरे किरायेदार कब इस बात को सह सकते हैं"।

१७ अक्टूबर को जब आपको नौकरी से नोटिस मिल गया तो आप सोचने लगे कि अब किधर जाना चाहिए। इस चपरासी नें ही आपको बतलाया कि फीरोजपुर म्यूनिसिपलिटी में सफाई के दरोगाओं की कुछ जगह खाली हैं; यदि आप दो-एक व्यक्ति से मिल लें, तो आपकी नौकरी लग सकती है।

"किन्तु" आपने गम्भीर होकर कहा, "वहाँ भी तो किराये के ही घर में रहना पड़ेगा, जिसमें घड़ी गँवाकर निकलने को सदा तैयार रहना पड़ता है"।

(Gross) से संस्कृत (Fine) रूप देता रहता है; यही कला के जन्म की कथा है। उदाहरण के लिये, प्रारंभिक काल में मनुष्य

कला का विकास

को शरीर ढकने की आवश्यकता हुई, तो उसने वल्कल-वस्त्र (वृक्षों की छाल तथा पत्ते) पहिनना प्रारंभ कर दिया, कुछ समय अनंतर जब यह ज्ञात हुआ कि पशु-चर्म वल्कल-वस्त्र से उत्तमतर है, अधिक चलता है, अधिक रक्षा करता है, तो एक नई खोज होगई। आगे चलकर कपास के ज्ञान से सूती वस्त्र और फिर धीरे-धीरे रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों का प्रयोग होने लगा, आज इस प्रकार के वस्त्र भी हैं जिन पर अग्नि का या जल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर वस्त्र कला में भी विकास हुआ, एक सूत का या दो सूत का (दुसूता) फिर रँगा हुआ; फिर विशेष प्रकार की मोटाई तथा विशेष प्रकार के रंगों का किनारी का प्रचार बढ़ा, पल्लू चलने लगे, नई साड़ियों में कमर से बँधने वाला भाग दूसरे प्रकार का होता है और कंधे पर गिरने वाला भाग किसी दूसरे ही रूप-रंग का। यही बात "बुशशर्ट" का इतिहास बतलाता है; उत्तरीय (ओढ़ने की चादर), पीताम्बर, अंगरक्षक (अंगरखा); कुरता, कमीज़ और बुशशर्ट— यही तो विकाश का रहस्य है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित हो सकता है कि यद्यपि विकाश सर्वदा आवश्यकता तथा सुविधा की दृष्टि से होता रहता है; तो भी मानव-हृदय की दूसरी प्रवृति, जिसके कारण सुन्दर वस्तु के प्रति उसका मन अपने आप ही आकर्षित होता है, उस निर्माण को कलामय बनाया करती है, वहाँ उपयोगिता का प्रश्न नहीं आता। यदि आप कमीज़ के दोहरे कफ़ (Double cuff), उसके एक विशेष

कला कला के लिये है

कलाओं को देखने से ज्ञात होता है कि यदि सौन्दर्यानुभूतिया प्रेरणा (inspiration) को उपयोग (utility) न माने तथा एक-दो व्यक्ति को आनन्द देना एवं शेष लोगों का समय नष्ट करना लक्ष्य है, तो निश्चय ही कला का चरम विकास अपने ही (कला के या कुछ कलाकारों के) हित के लिये है। पक्का गाना गानेवाले न जाने 'अ···आ···आ' करने में कितना रस प्राप्त करते हैं, परन्तु हम जैसे काष्ठ हृदयों के तो सिर में दर्द होने लगता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी 'रसणी' चित्र को देखकर उसमें न जाने क्या-क्या सन्देश पढ़ने लगता है तो हमको तो ऐसा जान पड़ता है मानो मदारी ने जमूरे* से सलाह करके जनता को बहकाना प्रारम्भ कर दिया। बात यह है कि परंपरावादी व्यक्ति को कुछ लकीर पीटने की आदत पड़ जाती है, वह उनका लाभ हानि न समझकर उनको करने से ही सन्तुष्ट होता है; वेदों को पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञोपवीत, तिलक छापा, ताबीज आदि सारी बातें, या महामहोपाध्याय, महाराजाधिराज, डाक्टर, माननीय, परम भट्टारक आदि सारी उपाधियाँ, या चपरासी, साइनबोर्ड, बिजली की घंटी आदि सामग्री उसी रोग की द्योतक है, जिसके पास इस कामों के लिये फालतू समय है, और जिसमें अपने बड़प्पन को डींग मारने का साहस है, वे ये सारे काम कर सकते हैं—उनके लिये प्रत्येक आडंबर कला है,

* मदारी जब हाथ की सफाई दिखलाता है तो उसका साथी लड़का (जमूरा) केवल उन्हीं बातों की मांग करता है, जनता समझती है कि मदारी इन्द्रजाली है, जादू से सब कुछ बना देता है।

निश्चय ही वे भी कला को जीवनदायिनी कहते हैं परन्तु उनकी कला केवल उनको या उनके समान ही दो-एक दूसरे साथी को ही जीवन प्रदान करती है, शेष समाज को नहीं। यह उस शराबी का नशा है जो उस व्यक्ति के क्षणिक आनन्द के लिये सारे परिवार का बलिदान चाहता है, जिसके बिना शराबी का जीवन शायद न बचेगा, और जिसके कारण निश्चय ही सारा कुटुम्ब भूखा मर जायगा। कला को जीवन के लिये कहने का यही अर्थ है कि कला यदि अधिक से अधिक व्यक्तियों का भला (greatest good of the greatest number) कर सकती है तो उसका अस्तित्व श्रेयस्कर कर है, अन्यथा उसका विचार अभिशाप है।

जब कला के उद्देश्य का झगड़ा चला इससे पूर्व ही कला के दो वर्ग हो चुके थे। एक था उपयोगी कला (Useful Arts) और दूसरा था ललित कला (Fine Arts)। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हीगल (Hegel) ने यह निश्चय किया कि जिस कला में स्थूल बाह्य सामग्री की जितनी अधिक आवश्यकता पड़ती है वह उतनी ही अधिक 'उपयोगी' है, और जिसमें सूक्ष्म सामग्री ही काम में आवे वह उतनी ही 'ललित'। इस भाँति काव्य को ललित कला का सिरमौर माना गया, और वास्तुकला (Architecture) को स्थूलतम उपयोगी कला। ध्यान देने पर विदित होता है कि इस वर्गीकरण में और कला के उद्देश्य से कोई संबंध नहीं है; इस वर्गीकरण में जो 'उपयोगी' 'ललित' आदि शब्द आये हैं, वे केवल उनका विकास या कार्यप्रणाली दिखलाने के लिये ही आये हैं। काव्य को श्रेष्टतम ललित कला मानने का तात्पर्य यह नहीं कि उसमें उपयोग का

उपयोगी और ललित कलाएँ

साहित्य को ललितकला माना अवश्य गया है, परन्तु इसका अर्थ हम यही समझते हैं कि साहित्य बाह्यस्थूल पदार्थों की अपेक्षा न रखता हुआ भी अपने मधुर तथा रमणीय कान्तासम्मित उपदेशों तथा प्रेरणा द्वारा पाठक एवं श्रोता को प्रोत्साहित करता रहता है। सभी साहित्य इसी प्रकार के उपदेशों की ओर संकेत करते हैं। हिन्दी का प्राचीन वीरगाथा काल तो साक्षात् वीरों की विरुदावली था, युद्ध के लिये प्रेरित करना और युद्ध का उपभोग—यही तो उसके उद्देश्य थे। भक्तिकाल ने भी मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित जनता को अभयदान देते हुए आशावाद का सन्देश सुनाया और प्रत्यक्ष जीवन की मधुरिमा को बालकों की नटखटी एवं रासलीलाओं द्वारा संसार में दृष्टिगोचर कराया। रीतिकाल तो उपभोग-काल था, फिर भी उसमें जीवन को सरल बनानेवाली सामग्री का अभाव न था। वर्त्तमान युग के प्रतिनिधि कवि भी जीवन को त्याग तथा तप द्वारा उन्नतम बनाने के अभिलाषी हैं:—

"जियें तो सदा इसी के लिये,
यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर करदें निज सर्वस्व,
हमारा प्यारा भारतवर्ष॥"—प्रसाद।

साहित्य का जीवन से सम्बन्ध तो स्पष्ट है परन्तु जीवन का आचार (monality) से क्या सम्बन्ध है? आचार शास्त्र के अनुसार 'आचार) शब्द पर जब विचार किया जाता है तो किसी उद्देश्य की कल्पना करली जाती है; जिस प्रकार एक विशेष प्रकार की औषधि का उस रोग के निवारण से संबंधित अच्छा या बुरा होना है उसी प्रकार किसी कर्म (action) का अच्छा

करता है :—

"A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life." (Mathew Arnold).

परन्तु ध्यान देना होगा अतिवाद पर। जब काव्य केवल आचार या सदाचार का प्रचार भर करता है तो वह कोरा उपदेश या धर्मशास्त्र भर बन जाता है; और जब वह आचार रहित जीवन का प्रचार करता है तो आजकल का प्रगतिवादी यथार्थ साहित्य बन जाता है। मनुष्य पशु तो है ही, परन्तु वह इससे भी कुछ अधिक है उसमें विवेक बुद्धि भी होती है और उस विवेक बुद्धि के द्वारा ही उस अपनी पशुता पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहना है, यदि इस कार्य में सफल होता गया तो उसका जीवन बढ़ता जायगा, अन्यथा उसका पतन हो जाता है। यही कारण है कि निर्जीव, पराधीन तथा निष्क्रिय समाज में विलासी साहित्य तथा कलाओं का अधिक प्रसार होता है। विलास या अनाचार में पली हुई कला व्यभिचारिणी के समान शीघ्र ही उत्साहहीन तथा स्फूर्त्ति रहित होकर निर्जीव हो जाती है; उसका अंत भी दुःखमय होता है और उसके सम्बन्धियों का भी।

कला और आचार

साहित्य में अतिवाद जब आजाता है तभी वह पंगु बन जाता है; जब तक उसमें समन्वय रहता है वह स्वस्थ रहता है। आदर्शवाद के काल्पनिक लोक से जब पाठकों को उत्साह न मिल सकता था तो यथार्थ जीवन सामने आया, जिसमें आचार-हीनता का झंडा सबसे ऊँचा था। आज कुछ प्रगतिवादी विद्रोही

बनकर इसी अनाचार को वास्तविकता बतला रहे हैं, शायद वे यह नहीं जानते कि कला तो सौन्दर्य की सृष्टि करती है; और सौन्दर्य कुत्सितता को छिपाने में है, इसलिये पशुता के ऊपर सभ्यता (Culture) का जो आवरण लादा जा रहा है वही तो कला है। जो कला हमको पशुता से मनुष्यता की ओर ले जाती है वही सफल है, सच्ची है।

अलंकार

÷महापुरुषों के लक्षण

(१) महापुरुषों का जीवन तथा आदर्शवादी कल्पना.
(२) साधारण पाठक पर इसका प्रभाव.
(३) पश्चिम की यथार्थवादी प्रणाली.
(४) उसका पाठक पर प्रभाव.
(५) जीवन के दो महान् प्रश्न.
(६) मनोविज्ञान की सहायता.
(७) व्यक्तित्त्व का विकास.
(८) इच्छा शक्ति तथा पौरुष.

विश्वास तथा श्रद्धा के प्राचीन काल में विद्वान् लोग जब किसी महापुरुष की जीवनी लिखने बैठते थे तो प्रारंभ से ही उसमें महत्ता के चिन्ह देखने लगते थे; यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी और उसके महापुरुष के पूर्व जन्मों तक पर 'रिसर्च' (खोज) की गई; महाभारत तथा रामायण की अनेक कथाएँ इसीलिये एक दूसरे से संबद्ध हैं; रावण के कम से कम तीन जन्मों तक का इतिहास मिलता है; शिशुपाल के पूर्व जन्मों का वर्णन करते हुये कवि ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सती स्त्री उसी प्रकार प्रकृति (स्वभाव) भी जन्म जन्मान्तरों में साथ जाती है× 'परमाररासो' में आल्हा ऊदल आदि को पांडु पुत्र तथा पृथ्वीराज आदि को कौरवों का

÷ "आप महापुरुष हैं; साधारण जनसुलभ दुर्बलताएँ न होनी चाहिए आपमें।" —प्रसाद : चन्द्रगुप्त।

× सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।
(शिशु पालवधन)

अवतार मानकर कवि ने ब्रह्मा की पत्नी बेला के मुख से ७ जन्मों का वर्णन करा दिया है +। इन पूर्व जन्म में विश्वास करने वाली प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव तो यह हुआ कि 'अवतारवाद' में विश्वास चल पड़ा; प्रत्येक महापुरुष में ईश्वर का अंश होता है परन्तु जिनमें ईश्वर की कुछ कला हो वे ईश्वर के अवतार कहे जाते हैं। दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि जो ईश्वर के अवतार भी नहीं, उनके जन्म से सारी प्रकृति पर प्रभाव पड़ता बतलाया जाता है। जिस प्रकार रघु का जन्म अनूर्यंग ÷पाँच ग्रहों के योग में हुआ, उस दिन वायु सौख्य मंद स्वर से चल रही थी, दिशाएँ प्रसन्न थीं, फूल खिल रहे थे। और मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही "पूर्व के जानवरों ने पश्चिम के जानवरों से बातें कीं कि मुहम्मद साहब बीबी आमना के गर्भ में आगये"। इसी प्रकार जिस दिन से हजरत ईसामसीह गर्भ में आये कुमारी मरियम सब लोगों से अलग रहकर किसी ध्यान में रहने लगीं। इतना ही नहीं महात्मा बुद्ध की माता ने स्वप्न देखा कि सूर्य उनके पेट में प्रवेश कर रहा है। कहाँ तक गिनाया जाय आजकल के कुछ जीवनी लेखक भी "बालक के पैरों को पालने में ही" देखने लगते हैं। राजा राम मोहनराय की जीवनी लिखने वाला एक लेखक उनको १६ वर्ष की आयु में ही अनेक भाषाओं का विद्वान बना देता है; दयानंद

महापुरुषों का जीवन तथा आदर्शवादी कल्पना

\+ पहिले जन्म में द्रौपदि भई सो अर्जुन बने बनाफरराय।
दूजे जन्म में हिरनी भई सो हिरना बने बनाफरराय॥
इत्यादि।

÷ पाँच ग्रह न जाने नीचे (अनूर्यंग).

सरस्वती को शिवलिंग पर चुहिया को कूदते हुये देखकर ही मूर्ति पूजा से विरक्ति हो जाती है ; महात्मा गांधी वेश्या के द्वार तक जाते-जाते वच जाते हैं; रामचन्द्र तुलसी के गोत्र से संबंधित होने के कारण तुलसी के अनन्य भक्त थे; रवीन्द्रनाथ ठाकुर आज कल की अस्वाभाविक शिक्षा प्रणाली से बालापन में ही विद्रोह कर बैठे ×।

फलस्वरूप हम जैसा साधारण (या पतित) व्यक्ति जब इन व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों को पढ़ता है तो उसके दो प्रकार की विचारधाराएँ आती हैं। यदि उसने उन महापुरुषों से अपनी तुलना की तो उसे ज्ञात होगा कि उसके जन्म समय पर न तो देवताओं ने फूल बरसाये थे, न अप्सराएँ नाची थीं; न दिशाएँ प्रसन्न हुई थीं; न पूर्व के जानवरों ने पश्चिम के जानवरों से बातें की थीं प्रत्युत " घर में अन्न का एक दाना भी नहीं है ? बालक के पिताजी उस समय घर पर नहीं थे, और सुना है उनके पधारने पर जब किसी के द्वारा उन्हें पुत्र-जन्म का शुभ संवाद सुनाया गया, तो वे कहने लगे, 'अरे ये तो रोज जुई स्वांग बनाएँ बैठी रहती हैं। हम कहाँ लौं रोज धनकुल (धाय)बुलाय बुलाय बैठारें।+ अस्तु उसमें यदि हीनता-ग्रन्थि की जड़ जम जावे तो आश्चर्य ही

साधारण पाठक पर इसका प्रभाव

ही क्या है और हीनता ग्रंथि (Inferiority complex) के कारण वह अजामिल आदि के समान अपने उद्धार की आशा भी न कर सके, तो उसका

× मुझे किसी भी 'महापुरुष' 'ईश्वर के अवतार' से चिढ़ नहीं है. श्रद्धालु भक्त जन मेरी इस असभ्य धृष्टता को क्षमा करें : मैंने हर क्षेत्र से एक-एक व्यक्ति को लेने के लिये नाम गिना दिये हैं।

+ श्री रामेश्वर 'करुण'--''करुण-सतसई'' की भूमिका में।

पूर्व के महापुरुषों के समान ही आदर्शवादी अवतारवाद से भरी होती हैं, परन्तु आजकल के महापुरुषों का जीवन अपने वास्तविक रूप में दिखलाया जाता है। इतना ही नहीं, इन महापुरुषों के दोषों को ओर स्पष्ट संकेत कर देना, जीवनी-लेखक अपना कर्त्तव्य समझते हैं। उदाहरण के लिये ईश्वर के पुत्र महात्मा ईसा का जन्म तो संसार से निराला ही है, उनकी माता कुमारी थी परन्तु उनके गर्भ से पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ; उनका जीवन सदा सेवा और त्याग में बीता, सदा पैगम्बरों से उनकी मौखिक बात-चीत होती रहती थी। परन्तु शेक्सपीयर एक साधारण ग्रामीण था, उसने अपने ही ग्राम की एक स्त्री से, जो उससे ८ वर्ष बड़ी थी, विवाह किया : जमींदार का कोपभाजन होने के कारण उसे

पश्चिम की यथार्थ प्रणाली

ग्राम छोड़कर नगर में आ जाना पड़ा, एक नाटकघर में साईस की नौकरी कर ली और फिर नाटक में भी भाग लेने लगा। मिल्टन का विश्वविद्यालय जीवन तो बड़ा अच्छा था, वह अपने विद्यालय में 'सुन्दर' (Lady of the College) कहलाता था, मध्य निशा से पूर्व कभी उसका पढ़ना समाप्त न हुआ था: पीछे वह अंधा होगया था : उसने एक से अधिक विवाह किये परन्तु कोई भी पत्नी उसको प्यार न करती थी,* उसकी पुत्रियाँ भी उससे घृणा करती थीं; राज्य और जनता को ओर से भी उसको शांति न मिली। लँगड़े लार्ड बायरन, शैले तथा स्विफ्ट (Jonathan Swift) का चरित्र जीवन के स्थान पर एक उपन्यास का विषय बन जाता है। साहित्यिकों को छोड़िये,

* समझ में नहीं आता कि इतना विद्वान् होते हुये भी वह विवाहों में भी रुचि क्यों रखता था ?

न होंगे तो समझते अवश्य होंगे। मनोविज्ञान के नियम भी यही बतलाते हैं कि अपने दोषों का उत्तर देने के लिये हम उन दोषों को किसी महापुरुष में खोज डालें इतना ही हमारे सन्तोष के लिये काफी है; गुणों को खोजने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती क्योंकि दूसरा व्यक्ति भी हमारे गुण थोड़े ही देखता है, दोष ही दोष तो देखता है। अस्तु पश्चिमी यथार्थवादी शैली पर जो जीवनचरित या आत्मकथाएँ लिखी गई हैं, उनका पाठक पर कल्पना में ले जाने वाला प्रभाव तो नहीं पड़ता परन्तु दोषों का समर्थक एक थोथा सहारा अवश्य मिल जाया करता है।

वस्तुतः यह जानना अत्यन्त कठिन है कि एक व्यक्ति में ऐसे कौनसे गुण (या दोष) हैं, जो उसको महापुरुष बना सकते हैं? तथा किस प्रकार के स्वभाव के कारण उसका जीवन एक विशेष मार्ग की ओर जाता हुआ मान लिया जावे? वस्तुतः प्रथम प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद संशयनाशक उत्तर न पाकर मनुष्य भाग्यवादी हो जाता है क्योंकि जिन गुणों को हम साक्षात् और स्पष्ट देखें वे तो गुण हैं; ※ परन्तु भाग्य तो आकाश गंगा के समान है उसमें

जीवन के दो महान् प्रश्न

अनेक अनवलोकित गुण उसी प्रकार मिलकर प्रकाश करते हैं, जिस प्रकार आकाशगंगा के बहुत सारे तारे मिलकर चमकते हैं; हम यह नहीं कह सकते कि

※ The way of fortune is like the milky way in the sky, which is a meeting, or knot, of a number of small stars not seen asunder, but giving light together, so are there a number of little and scarce discerned virtues, or rather faculties and customs, that make men fortunate. -Becon.

यह किस गुण या तारे का प्रकाश है। यह कहा नहीं जा सकता कि कौनसा स्वभाव किस व्यक्ति में गुण बन जावेगा और किस व्यक्ति में दोष, क्योंकि यदि विरोधों के अस्तित्व (Existence of contradictions) को सब लोग न मानें तो कम से कम इतना तो सभी मानते हैं कि गुण या दोष की पहिचान काम के पूरे होने पर होती है; अमुक औषधि इस रोग के लिये गुणकारी है या दोषकारी, यह तो तभी कहा जा सकता है जब उस रोग का अन्त हो सके, उससे पूर्व कोई संभावना नहीं। यहाँ दूसरा प्रश्न भी आ जाता है। मौन रहना; अधिक बोलना; पढ़ते रहना, बहुत [illegible] रहना; सादा वेष रखना, शान्त से रहना; सबसे मिलना, छोटे लोगों से कम मिलना; विचारशील होना, बेफिक्र होना तथा इसी प्रकार के और भी सारे गुण-दोष महापुरुष में तो क्रमशः गंभीरता, चतुरता, परिश्रम बुद्धिमानी, सरलता, स्वाभिमान, उदारता, महानता, ईश्वरपरता तथा स्वतन्त्रता के द्योतक हैं; परन्तु एक साधारण व्यक्ति में ये ही गुण-दोष क्रमशः बुद्धूपन, बातूनपन, [illegible], किसी का व्यसन न होना, गरीबी, दिखावा, तुच्छता, [illegible] आत्माभिमान, चिंता तथा मूर्खता को दिखलाते हैं। पाठकगण ध्यान से देखें कि वही [illegible]

पवित्र होजाता है तो इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि गुण-दोष भी व्यक्ति-सापेक्ष्य है। अर्थात् अमुक गुण, गुण हैं या दोष, यह देखने से पहिले हमको यह जानना पड़ेगा कि अमुक गुण किस व्यक्ति में तथा किस अवस्था में है। एक बालक यदि कक्षा में नटखटी करता है और खेल के मैदान में गंभीर बन जाता है, तो वह दोनों ही दोषपूर्ण काम करता है। इसी प्रकार यदि आप युवावस्था में संसार से विरक्त रहे तथा वृद्धावस्था में रसिक बन गये तो आपने दो बड़ी भूलें कीं। जो गुरुजनों के सम्मुख बक-बक करता है तथा बराबर वालों के सामने जीभ पर ताला लगा लेता है; उसका चरित्र भी त्रुटिपूर्ण है। हाँ, यह बात दूसरी है कोई व्यक्ति अधिक संस्कृत रमणियों की उपस्थिति में अधिक चहकता

गुण-दोष का व्यक्ति-सापेक्ष्य महत्त्व

है और सामान्य स्त्रियों के सामने मौन हो जाता है; इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति यदि बात करने का प्रयत्न भी करे तो सुन्दर नेत्रों का केवल एक दृष्टिपात ही उसके सारे निश्चय को उलट देता है×। इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि जिन बातों का जीवन में अधिक महत्त्व है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व (Personality) का निर्माण कर उसको संसार के सामने उठाती या गिराती हैं; वे गुण या दोष के रूप में गिनाई नहीं जा सकतीं; या तो हम भाग्य कहकर सब बातों से छुटकारा पा सकते हैं या उन गुणों को निरपेक्ष (Absolute) रूप में न देखकर व्यक्ति सापेक्ष (As seen in individual cases)

× But I don't know how a single glance from a pair of fine eyes has totally overset my resolution. —She Stoops to Conquer.

एक विशेष प्रकार की (यौवन और प्रेम की) भावनाओं को दबाने का प्रयत्न है, हम देखते हैं कि आगे चलकर विजया की ये भावनाएँ फिर अधिक सबल रूप में प्रकट होती हैं:—

"रहने दो यह थोथा ज्ञान प्रियतम ! यह भरा हुआ यौवन और यह उन्मुक्त हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है"।

आजकल के साहित्य में जिन अन्तर्द्वन्द्वों का प्रदर्शन कर्त्तव्याकर्त्तव्य (To do or not to do) का विचार करते ही आ जाता है, उनका प्रधान कारण यही है कि सभी में दुर्बलताएँ होती हैं—जिनको दुष्ट कह दिया करते हैं उनकी दुर्बलताएँ उनको सत्पथ की प्रेरणा देती हैं, जिनको महापुरुष कहते हैं उनकी दुर्बलताएँ उनको पतन की ओर ले जाना चाहती हैं। इस भाँति यह निश्चय हुआ कि इस संसार में न तो कोई महापुरुष है न कोई पतित, न कोई गुण है न कोई दोष—कम से कम ईश्वर की ओर से इस प्रकार की कोई मुहर उस व्यक्ति या उस कर्म पर नहीं लगी आती।

हाँ, जो व्यक्ति संस्कारों के रहते पर परिस्थितियों में पलकर जिस विशेष प्रवृत्ति को विकसित कर लेता है, उससे ही उसका व्यक्तित्व (Personality) बन जाता है। हमने देखा है कि छात्र-जीवन में उनकी प्रवृत्तियों का इतना अधिक अंतर नहीं पड़ता जितना अपने व्यावसायिक जीवन (Professional life) में। जो व्यक्ति बी० ए० पास करने पर भी दूकान पर बैठने लगता है। वह कुछ वर्षों में 'सेठ' बन ही जाता है; जो डिप्टी-कलक्टर बन गया उसमें वही छल-कपट, झूँठ, अहंकार आदि आ ही जाते हैं; जो प्रोफेसर बन गया उसमें उदारता, विशाल-हृदयता तथा गंभीरता आ ही जाती है; और जो नेता बना वह

adolescence) जिस प्रकार अनेक मानसिक रोगों का स्थान है, वहाँ हमारे भावी जीवन की विषय-सूची भी है—उसको पढ़कर भविष्य के अध्यायों की थोड़ी झाँकी अवश्य मिल जाती है। इस बात को तो सभी विद्वान् मानते हैं* कि आशंका भय की हरी झंडी है—वह भय का सदा स्वागत करती रहती है❀, परन्तु उनको यह भी मानना चाहिए कि भावनाशक्ति (Strength of the universe of desires) ही भावी जीवन का नियमन करती है; जितनी अधिक तत्परता से हम यह सोचेंगे कि हममें उस विशेष गुण का निवास होना चाहिए तथा है, उतना ही गुण हममें स्थिर हो जाता है¶। इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति की आकृति भी व्यवसाय में प्रवेश करने से पूर्व ही तदनुकूल बन जाती है (और आकृति तो गुणों की द्योतक है ही×); देखने वाले समझ जावेंगे कि यह सेठ है, नेता है, पंडित है, पहलवान् है, साहब है, या बाबू है; वैसा ही कहने भी लगेंगे। फिर न तो यह कहना पड़ेगा कि भाग्य मुझको सदा गेंद के समान खदेड़ता रहा है÷; और न

इच्छाशक्ति तथा पौरुष

---

* जो डर अबतक रहा छिपाये,
हाय वही बाहर आया। —सियारामशरण गुप्त.

❀ मेरे मन की वह आशंका,
जीवन में साकार हुई। —अतीत।

¶ To think we are able, is almost to be so.
—Samuel Smiles.

×यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।

÷ Fate has certainly made a football of me.

हैड क्लर्क

इसी ठंडी सड़क पर कालेज से घर तथा घर से कालेज आते-जाते मुझको आठ वर्ष हो गये, मैं विद्यार्थी था फिर अध्यापक हुआ, पुराना संसार आया, चला गया, इस समय देश पराधीन था जब हम खादी के वस्त्र पहनकर कालेज जाते थे तो सभी साथी मन ही मन हमारी ग्रामीणता पर हँसा करते थे परन्तु आज वे ही पाप पुण्य बन गये। इतना परिवर्त्तन होने पर भी जब कार्यालयों× के खुलने का समय होने लगता है तो हमारे विद्यालय के सामने से लगभग १० (या कभी-कभी तो १०॥) बजे एक पुरानी मूर्ति आज भी उसी रूप में दिखलाई पड़ती है—सिर पर गोल काली टोपी, गले में छाती पर आता हुआ मफलर; खुले गले का एक हरा (डबल पल्लेवाला Double breast नहीं) कोट बगल में कागजों की एक बहुत बड़ी फाइल सफेद पजामा तथा लाल चमड़े का फीता वाला जूता—टोपी तथा जूता दोनों ही यह बतलाते हैं कि यद्यपि बा० मदनलाल ने कभी इनका ध्यान नहीं रखा, परन्तु इन लोगों ने इस बात की प्रतिज्ञा की है कि जब तक जान में जान है अपने स्वामी की सेवा करेंगे।

आठ वर्ष की 'मित्रता' में मेरी उनसे जान-पहिचान हो गई हो, यह भी बात नहीं। कुछ दिन तक तो उनका साथ रहना शायद मुझको ज्ञात भी न हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि 'सनाढ्य+ आश्रम' से रघुनाथप्रसाद जी और शिवशंकर जी

× ऑफिसों

+ लड़कों का एक छात्रावास.

मिलें तो हमको देर न हुई है, और यदि दूसरे गेट (द्वार) पर मिलें तो भी कोई बात नहीं, परन्तु एक दिन जब वे हमको चौराहे पर मिले तो हमने लम्बे डग (कदम) बढ़ाकर, होस्टिल से आते हुये हरीशंकर जी माथुर से कहा कि 'दद्दा आज तो बड़ी देर हो गई', और जब वे उत्तर में बोले—'तुम्हारे पास घड़ी भी है या सूरज को देखकर ही समय का अन्दाज× करते हो ?'; तो हमको उनके ऊपर दया आई वे यह नहीं जानते कि हमारे एक पुराने साथी, जो और दिन कालेज के द्वार पर मिलते थे आज चौराहे तक जा चुके हैं ।

उनको लोग 'बड़े बाबू' कहते थे, यह बात दो-तीन बार हमारे कान तक आ चुकी थी; परन्तु हम इसका अर्थ यही समझते थे कि ये 'बड़े' भी हैं, और 'बाबू' भी इसीलिये इनको 'बड़े बाबू' कहा जाता है । परन्तु एक बार जब सत्यप्रकाश जी अपना एक काम सिविल कोर्ट में कराने गये तो उनको जानकारों ने बतलाया कि करना-धरना तो बा० मदनलाल हैडक्लर्क के हाथ में है साहब के तो केवल हस्ताक्षर होते हैं । इसलिये दूसरे दिन जब दही खाकर सत्यप्रकाशजी और रामदत्तजी सिविल कोर्ट पहुँचे तो उनको बड़े बाबू से मिलने का समय न मिल सका; चपरासी ने बतलाया कि वे ऑफिस में किसी 'आसामी'+ से नहीं मिलते, जिसको अपना काम कराना होता है वह उनके घर पर जाकर ही मिलता है । पीछे वीरेन्द्र 'किसान' को यह भी ज्ञात हुआ कि एक बार मिलने से काम नहीं चलता कम से कम १०

× अनुमान ।

+ 'आसाम' का रहने वाला नहीं, प्रत्युत 'काम कराने वाला'; (Client).

हमारी सवारी रुक गई, सड़क पर बारात जा रही थी; मैंने खेद प्रकट करते हुये कहा—"जनता भूखी मरी जाती है, इन लोगों को विवाहों में रुपया फूँकने की सूझी है"। इस पर बागची बाबू बोले—"आप क्या यह चाहते हैं कि संसार के सभी लोग आपके समान ही होटलों में अपनी जिन्दगी + काट दें ?" मैंने विरोध किया—"नहीं, मैं सबको सन्यासी नहीं बनाता; परन्तु चोर बाजारी से असंख्य सम्पत्ति कमाकर ये सेठ लोग जब हजारों रुपये उत्सवों में उड़ा देते हैं, तो क्या राज्य इनके लिये ऐसा नियम नहीं बना सकता कि जितना धन इन बातों में फूकें उतना ही सरकार को अलग टैक्स दें, जिससे गरीबों को रोटी तो मिल सके" ? मेरे साथी तो कुछ न बोले पर पास के ताँगे में बैठे हुये एक महाशय ने कहा—"यह धन चोर बाजारी का नहीं, रिश्वत का है। यह बा० मदनलाल हैडक्लर्क के लड़के की बारात है, साढ़े सात सौ का बैण्ड आया है और पौने चार-सौ की आतिशबाजी है।"

उस दिन जब मैं बोन जी (बहिन जी) और भैयो के साथ बाजार से लौट रहा था तो कोई और सुविधा न होने के कारण १४ नं० की बस (Bus) में हम लोग बारहखंभे तक बैठने लगे उस समय एक वैसी ही गोल टोपी को देखकर मुझको अपने मित्र का ध्यान आगया और मैंने उपहास के लिये कहा—"आइये बा० मदनलाल हेडक्लर्क साहब" भैयो भी चौंके और एक दूसरे अपरिचित साथी भी। भैयों ने पूछा—"कौन बा० मददलाल" ? मैंने कहा—"हैं एक अपने गोकलपुरे में ही"। इतना सुनकर दूसरे साथी बोले—"आप उनको किस प्रकार जानते हैं" ? मैंने हँसते हुये कहा—"हमारे और उनके तो बहुत गहरे सम्बंध हैं;

+ जीवन

आप बतलाइये आप किस प्रकार जानते हैं" ? उन्होंने अपने सिर पर अपनी पुलिस के साफे को रखते हुये कहा—"वे मेरे ससुरसाहब हैं; मैं भगवानसिंह यहाँ पुलिस का सब-इंसपेक्टर (थानेदार) हूँ" ।

तब मुझे ध्यान आया कि इस नवयुवक ने अपनी पत्नी के पिता से दहेज में जहाँ और चीजें पाई होंगी, वहाँ रिश्वत लेने की कला भी सीखी होगी इसीलिये बी० ए० पास करने पर भी भला सौ रुपये की थानेदारी से उतना ही सुखी है जितना कि भूदेव शर्मा अपनी हेडमास्टरी से या चन्द्रभान अपने कमच्छा कालिज हाउस से ।

आज जब मैं इतनी दूर बैठा हुआ आगरा के उन साथियों की याद करता हूँ जिनमें से अधिकतर मुझको भूल चुके हैं, तो प्रायः मेरे हृदय में उन लोगों के चित्र भी खिच जाते हैं जो मुझको भली भाँति जानते भी नहीं और जो यह तो सोच ही नहीं सकते कि मैं शायद जीवन भर प्रयत्न करने पर भी उनको भूल न पाऊँगा, उस समय हैड क्लर्क साहब की धुँधली छाया अकस्मात सामने आकर उन दिनों का ध्यान दिला देती है जब आगरा भी मेरे लिये उतना ही नया था जितनी कि आज नई-दिल्ली ।

परिशिष्ट

उन लेखकों के नाम जिनके उद्धरण प्रस्तुत पुस्तक में दिये गये हैं।

(क) हिन्दी

जयशंकर 'प्रसाद'—
कामायनी, आँसू, झरना, लहर, कंकाल, तितली, इरावती, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, एक घूँट, जनमेजय का नागयज्ञ, आँधी।

महादेवी वर्मा—यामा, नीहार।

मैथिलीशरणगुप्त—नहुष, द्वापर, पंचवटी।

हरिऔध—प्रिय-प्रवास।

गुरुभक्तसिंह—नूरजहाँ।

नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, पलाश वन।

विश्वम्भर 'मानव'—निराधार।

अतीत—ग्रीष्मार्त्त, पश्चात्ताप।

रामेश्वर 'करुण'—करुण-सतसई।

रत्नाकर—उद्धवशतक।

स्टीफेन ज्विग—एक अपरिचित स्त्री का पत्र।

बलदेव प्र० उपाध्याय—साकेत-संत।

भगवतीचरण वर्मा—चित्रलेखा।

रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास।

श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा और साहित्य
साहित्यालोचन।

गुलाबराय—सिद्धान्त और अध्ययन।

माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास।

रामचन्द्र द्विवेदी—तुलसी-साहित्य-रत्नाकर।

मिश्रबन्धु—मिश्रबन्धु-विनोद।

नन्ददुलारे वाजपेयी—प्रगतिवाद (निबंध)।

नगेन्द्र—छायावाद की परिभाषा (निबंध)।

राहुल सांकृत्यायन—बौद्ध-दर्शन।

प्रेमचन्द—प्रेमाश्रम, गोदान, निर्मला।

तुलसीदास—विनय-पत्रिका।

सूरदास—सूरसागर।

बिहारी—बिहारी-सतसई।

मतिराम—रसराज।

जायसी—पद्मावत।

विद्यापति—पदावली।

कबीर—कबीर-वचनावली।

रहीम—रहीम-सतसई।

मीरा—

नागरी—

रसखान—

भूषण—

मानस—

रसलीन—

दादू—

(ख) संस्कृत आदि

ऋग्वेद—

विष्णुपुराण—

मनुस्मृति—

विदुरनीति—

धम्मपद (पाली)—

कालिदास—रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, मेघदूतम्, अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

भवभूति—उत्तरचरितम्।

मम्मट—काव्यप्रकाश:।

विश्वनाथ—साहित्यदर्पण:।

जयदेव—गीतगोविंदम्:।

(ग) अंग्रेजी

Nehru : Glimpses of World History.
Radhakrishnan : Gautam the Buddha.
Dale Carnegie : How to win friends and influence people.
C. E. M. Joad : The future of morals.
Barthwal : The Nirgun School of Hindi Poetry.
Goldsmith : She Stoops to Conquer.
Shakespeare : Merchant of Venice
Julius Caesar.
Milton : Comus.
Bacon : Essays.
A. Lincoln—